राज्य-विज्ञान

लेखक

पण्डित गोपाल दामोदर तामसकर

एम० ए० एल० टी०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम संस्करण] १९२९ [मूल्य २) दो रुपये

इतिहास की दुर्गम घाटियों में जाने से इस ग्रन्थ में मैंने नाहीं कर दिया है। इस पुस्तक में जो तीसरी बात देखने में आवेगी वह इसकी भारतीय छाया है। यह विषय भौतिक संसार से सम्बन्ध रखता है और योरपीय देशों के कुछ ग्रन्थों को छोड़कर शेष सबमें बहुधा भौतिकता ही भरी रहती है। मैं स्वीकार करता हूँ कि इसमें मैं भरपूर आध्यात्मिकता नहीं भर सका। आख़िर को विषय ही भौतिक है। तथापि राजकीय कार्यों को और सब राजकीय संस्थाओं को मैंने उच्च नैतिक उद्देश के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न अवश्य किया है। मैं इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय पाठक ही करें।

सारांश, यह पुस्तक आधारात्मक होने पर भी मौलिक के थोड़ी बहुत समीप ही पहुँचती है। मौलिकता विविध प्रकार की होती है और उसमें अंशों की भी भिन्नता हो सकती है। इसलिए मौलिक कहलानेवाली सब पुस्तकें एक दर्जे की नहीं गिनी जा सकतीं। मौलिकता पर ज़बरदस्ती का दावा करने का दोष कोई मुझे न दे, इसलिए इतना विवेचन मुझे करना ही पड़ा। अब पाठक इसे 'मौलिक' कहें या 'आधारात्मक' कहें, मुझे दोनों में सन्तोष है। हाँ, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि एक लेखक ने जिस प्रकार एक पुरानी पुस्तक का अनुवाद कर उसे उसने जिस प्रकार मौलिक बतलाया है और अपनी पुस्तक में अनेक आधारात्मक पुस्तकों की सूची नाममात्र को जोड़कर अपनी मौलिकता दिखलाने का प्रयत्न किया है, वैसी कोई बात मेरे इस ग्रन्थ के विषय में नहीं कही जा सकती।

३. भाषा के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है। उर्दू के जितने शब्द हिन्दी में प्रचलित हैं या उनकी जितनी आवश्यकता है उतने शब्दों का व्यवहार करना मैं अनुचित नहीं समझता। उतना ही नहीं किन्तु उर्दू के व्यवहार्य शब्दों का उपयोग करने में भी मैं कोई दोष नहीं मानता। इनके उपयोग में एक शर्त यही है कि लोग इनको समझ सकें। हिन्दुस्थान की भलाई की दृष्टि से मुझे यही जान पड़ता है कि

भाषा का स्वरूप ऐसा हो कि वह सबको स्वीकार हो सके और सबकी समझ में आ सके। तथापि मेरा यह कहना नहीं है कि जिसको जैसा अच्छा लगे वैसा ही वह लिखे। मैं ऊपर एक शर्त लिख ही चुका हूँ। वह यह है कि भाषा यथासम्भव सबकी समझ में आ जाय। हां, पारिभाषिक शब्दों की बात अलग है। ये शब्द सभी भारतीय भाषाओं में लोगों के लिए क़रीब क़रीब नये से रहते हैं। फिर, हिन्दी जैसी अपक्व भाषा की बात ही क्या पूछना है! अभी इस भाषा के पारिभाषिक शब्दों के अर्थों में पूर्ण निश्चितता अँगरेज़ी जैसी पक्व भाषा में भी नहीं देख पड़ती। प्रत्येक लेखक को अपनी पुस्तक में कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझाना ही पड़ता है।

इस विषय का एक शब्द-कोश तैयार कर मैंने पुस्तक के अन्त में जोड़ दिया है। जिन शब्दों का उपयोग मैंने अपनी पुस्तक में किया है उनका समावेश इस कोश में हुआ ही है, पर मैंने कई ऐसे शब्द भी इसमें रख दिये हैं कि जिनका मैंने उपयोग नहीं किया है। यह मैंने इस विचार से किया है कि इस कोश से दूसरों को अपने कार्य में कुछ सुविधा हो। हमारे यहाँ के ग्रन्थों में अनेक उपयोगी शब्द भरे पड़े हैं, पर लोगों ने अभी तक उनका संग्रह करने का प्रयत्न नहीं किया है, इस कारण उनका उपयोग अब तक नहीं हुआ। जो लोग प्राचीन ग्रन्थों का परिशीलन करते हैं, उनका यह कर्तव्य है कि उन उपयोगी शब्दों को वे प्रकाश में लावें ताकि नये पारिभाषिक शब्दों की सृष्टि रचने का काम लेखकों को न करना पड़े। सामयिक पत्रों में यदि ऐसे शब्दों को लोग समय समय पर प्रकाशित करें तो यह कार्य सरलता से सिद्ध हो जावेगा। तथापि यह मानना ही होगा कि यह कार्य धीरे धीरे ही होगा। अपने कोश के विषय में यह कह देना आवश्यक है कि वह सर्वथा सर्वमान्य होगा ऐसी मैं आशा नहीं रखता। हाँ, यह आशा मुझे अवश्य है कि इनमें से कई शब्द अवश्य प्रचार में आवेंगे।

४. कोई कोई इस पुस्तक के नाम के विषय में प्रश्न उठावेंगे। कदाचित् यह नाम नितान्त नया ही है। यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि इस शब्द का प्रचार बहुत कम हुआ है। जो इस पुस्तक को पढ़ेंगे वे यह जान लेंगे कि इसमें 'राज्य' नामक संस्था का विवेचन है। इसलिए इसका नाम 'राज्य-विज्ञान' ही होना चाहिए क्योंकि यह 'राज्य' का 'विज्ञान' है। हिन्दी में इसके लिए कहीं कहीं 'राजनीति-विज्ञान' या 'राजनीति-शास्त्र' प्रचलित है। परन्तु मेरी अल्प मति में ये दोनों शब्द अशुद्ध और भ्रमपूर्ण हैं। 'नीति' व्यवहार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है, विज्ञान से अप्रत्यक्ष। नीति कला है, प्रत्यक्ष विज्ञान नहीं। इसलिए 'नीति' के साथ 'विज्ञान' का उपयोग ठीक नहीं। 'राजनीति' यानी राजकीय कार्यों के लिए उचित व्यवहार है। 'विदुरनीति,' 'शुक्रनीति,' 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' में व्यवहार्य नियमों का प्रत्यक्ष वर्णन है। इसलिए उन्हें 'राजनीति' की पुस्तकें कह सकते हैं, वे राज्य-विज्ञान की पुस्तकें नहीं हैं। परन्तु जो विवेचन मैंने किया है और ऐसी पुस्तकों में जो रहता है, वह विज्ञान है, नीति नहीं। इसलिए ऐसी पुस्तकों को राज्य-विज्ञान ही नाम देना उचित है।

५. मैं ऊपर बता चुका हूँ कि इस पुस्तक का प्रारम्भ सन् १९२१ ईसवी में हुआ। तदनन्तर शीघ्र ही यह पुस्तक उचित पुरस्कार की शर्त पर जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर को प्रकाशनार्थ दे दी गई। परन्तु अनेक कारणों से मन्दिर उसे शीघ्र प्रकाशित न कर सका। दूसरे वर्ष एक प्रकाशक मित्र कहने लगे कि पुस्तक वापस ले लो, मैं छाप दूँगा। कुछ दिनों तक तो मैं टालमटोल करता रहा, पर जब वे इस बात के लिए मेरे पीछे ही पड़ गये तो उनके वचन में विश्वास कर यानी उनसे कुछ भी लिखितवचन लिये बिना, मन्दिर के रुपये वापस देकर, संस्था से अपनी पुस्तक वापस ले ली। इसी बीच में 'राजनीति-शास्त्र' नामक एक पुस्तक बनारस से प्रकाशित होगई। यह देखते ही मेरे मित्र महाशय बोल उठे कि मैं आपकी पुस्तक को

प्रकाशित करना नहीं चाहता। मैंने उनसे बार बार कहा, पर मेरे पास कुछ भी लिखित वचन न होने के कारण उन्होंने मेरी एक न सुनी। इतनी बड़ी पुस्तक के प्रकाशक हिन्दी में बहुत कम मिलते हैं। फिर उसमें बनारस तथा कलकत्ते से इस विषय की एक एक पुस्तक प्रकाशित भी हो चुकी थी। दो पुस्तकों के रहते तीसरी पुस्तक को प्रकाशित करनेवाला प्रकाशक प्राप्त करना मेरे लिए शीघ्र शक्य न हुआ। इसी लिए यह पुस्तक आज तक पड़ी रही। अब किसी प्रकार इंडियन प्रेस के मैनेजर महाशय की कृपा से प्रकाशित हुई है। अतः उक्त मैनेजर महाशय को अनेक धन्यवाद हैं।

ग्रंथकर्त्ता
गोपाल दामोदर तामसकर

जबलपुर
तारीख़ १ ली
सितम्बर १९२९

विषय-सूची

प्रथम भाग

राज्य का स्वरूप

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

दूसरा भाग

राज्य की शासन-व्यवस्था ।

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय पृष्ठ

राज्य-विज्ञान

प्रथम भाग

पहला परिच्छेद

विषय की व्याख्या, स्वरूप और विस्तार

१—मनुष्य समाज-प्रिय प्राणी है। वह बहुत काल तक अकेला नहीं रह सकता। नितान्त जंगली जातियों में भी किसी न किसी प्रकार के समाज पाये जाते हैं। प्रत्येक घर एक छोटा-सा समाज ही है। मनुष्य के इतिहास में एक समय इस घर का महत्त्व अन्य तरह के समाज से कहीं अधिक था। धीरे धीरे ही घर के अनेक कार्यों पर दूसरे समाजों ने यानी समाज की दूसरी संस्थाओं ने अपना अधिकार जमा लिया। गोत्र, जाति-बन्धन, इत्यादि एक तरह के समाज ही हैं। प्राचीन **'श्रेणी'*** अथवा योरपीय गिल्ड (guild), अर्वाचीन व्यापारि-मण्डल अथवा अँगरेज़ी के चैम्बर ऑफ़ कामर्स भी एक तरह के समाज हैं। आज-कल तो समाज-सङ्गठन इतना बढ़ गया है कि प्रत्येक भिन्न कार्य के लिए एक भिन्न समाज-सङ्गठन अवश्य देख पड़ेगा। जब कोई नया कार्य लोगों के सामने उपस्थित होता है, तब उस कार्य से

---

* ये एक तरह के व्यापारि-मण्डल थे।

जिन जिनका सम्बन्ध है अथवा उसमें जिन्हें जिन्हें रुचि है, वे उसके लिए पहले एक समाज सङ्गठित करते हैं। किसी विशेष कार्य के लिए जो इस प्रकार सङ्गठित समाज तैयार होता है, उसी को आज-कल संस्था के नाम से पुकारते हैं। आज-कल इन सङ्गठित समाजों यानी संस्थाओं की संख्या अपरिमित बढ़ गई है। इनमें से कुछ का कार्य अल्पकालिक होता है। उनका कार्य समाप्त अथवा सिद्ध होते ही वे संस्थाएँ टूट जाती हैं। कुछ संस्थाएँ आवश्यक सामग्री अथवा शक्ति के अभाव से नष्ट हो जाती हैं। परन्तु, राज्य एक ऐसी संस्था है कि जो सदा किसी न किसी रूप में बनी ही रहती है। राज्य का उद्देश न तो अल्पकालिक रहता है, न एक विशिष्ट ही होता है। यह संस्था चिरकालिक रहती है—उसके सम्बन्ध में कम से कम हमारी ऐसी भावना अवश्य है। राज्य-संस्था नितान्त जंगली लोगों में भी किसी न किसी रूप में पाई जाती है। रूप में भेद चाहे जितना हो, परन्तु उसका अस्तित्व रहता अवश्य है। यही बात अभी ख़याल में रखने लायक़ है। राज्य का उद्देश बहुधा नितान्त विशिष्ट नहीं रहता। लोगों की रक्षा के लिए उसकी सबसे भारी ज़रूरत भले ही हो, पर उसके उद्देश और कार्य सदा बदलते रहते हैं। हाँ, रक्षा एक ऐसा कार्य है जो सदा उसका प्रथम कार्य, अथवा प्रथम उद्देश है। यह स्पष्ट ही है कि राज्य-रूपी संस्था के अन्तर्गत दूसरी अनेक संस्थाएँ रह सकती हैं। प्रत्येक छोटी-मोटी संस्था को अपने सदस्यों के लिए, अपने अङ्गभूत पुरुषों के लिए, कुछ नियम बनाने पड़ते हैं और कुछ लोगों की एक छोटी-सी समिति बनानी पड़ती है और मामूली कार्यों के लिए, उसके नियम अमल में लाने के लिए, कुछ पदाधिकारी नियत करने पड़ते हैं। इसी प्रकार एक राज्य में जितने लोग रहते हैं, वे उस संस्था के सदस्य हैं। और उनका नियमन करने के लिए एक व अधिक पुरुष दीख पड़ते हैं, चाहे वे चुने हुए हों अथवा और किसी तरह उन्होंने यह कार्य अपने हाथ में ले लिया हो। छोटी संस्थाओं को भी अपने कार्य चलाने के लिए कुछ भूमि की आवश्यकता होती है, चाहे

वह भूमि कितने भी थोड़े काल के लिए उनके अधिकार में क्यों न हो। उसी प्रकार राज्य-रूपी बड़ी भारी संस्था के लिए भूमि अत्यन्त आवश्यक है। जब तक राज्य में किसी भारी परिवर्तन की आशङ्का नहीं, तब तक उस भूमि पर उस राज्य का निश्चित अधिकार रहता है। यह अल्पकालिक अधिकार की वस्तु नहीं समझी जाती। इसका कारण यह है कि राज्य को भी हम अल्पकालिक संस्था नहीं समझते। उसे हम उसके रहने तक चिरकालिक ही समझते हैं। इस राज्य-संस्था का अधिक वर्णन आगे आवेगा। अनेक विषयों के विज्ञानों के समान इस राज्य-रूपी संस्था का भी विज्ञान हो सकता है। इस पुस्तक में उसी का विवेचन होगा।

२—हमारे विषय से कई अन्य विषयों का सम्बन्ध है। हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि राज्यसंस्था के अन्तर्गत कई अन्य संस्थाएँ रहती हैं। प्रत्येक संस्था के सङ्गठन, उद्देश और कार्य, विकास, विनाश इत्यादि बातों का अलग अलग विवेचन हो सकता है, और उससे कुछ सामान्य नियम यानी तत्त्व निकाले जा सकते हैं। परन्तु सब काल और देश की इन तमाम संस्थाओं का भी एक साथ विवेचन हो सकता है और उससे कुछ सामान्य नियम निकल सकते हैं। सब काल और देश की इन समाजों का सामान्य नियमों की दृष्टि से जिसमें विवेचन रहता है, उसे समाज-शास्त्र कहते हैं। राज्य भी एक तरह का समाज है। इस कारण राज्य का भी थोड़ा-बहुत सामान्य विवेचन इस समाज-शास्त्र में आही जाता है। यानी, राज्यविज्ञान को समाज-शास्त्र से सर्वथा दूर करना चाहें तो हम नहीं कर सकते। उनका कुछ परस्पर सम्बन्ध बना ही रहेगा।

समाज के नियन्त्रण के लिए कुछ नियम आवश्यक होते हैं। उनसे व्यक्ति व्यक्ति के, व्यक्ति और अन्य समाजों या संस्थाओं के, संस्थाओं संस्थाओं के, परस्पर सम्बन्ध, अधिकार और कर्तव्य निश्चित होते हैं। चाहे वे लोगों पर स्पष्टतया विदित कर दिये गये हों या न

किये गये हों, चाहे वे एक के बनाये हों चाहे अनेकों के, परन्तु वे किसी न किसी रूप में रहते अवश्य हैं। इन नियमों का भी शास्त्र हो सकता है। उसकी योरपीय देशों में बहुत उन्नति हो गई है और इसे जुरिस्प्रुडेन्स अथवा क़ानूनों के तत्त्वों का शास्त्र (अथवा प्राचीन भाषा में, तत्त्वशास्त्र) कहते हैं। हम इसे व्यवस्था-विज्ञान कहेंगे। इस व्यवस्था-विज्ञान का राज्य-विज्ञान से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। राज्य के नियमों का विचार बड़े ही महत्त्व का है। उनका राज्य-विज्ञान में थोड़ा-बहुत अवश्य समावेश होगा।

जिसे आज-कल अर्थ-शास्त्र अथवा सम्पत्ति-शास्त्र कहते हैं, उसका भी इस शास्त्र से बड़ा भारी सम्बन्ध है। राज्य-विज्ञान से आज जो अर्थ-बोध होता है, वही पहले 'अर्थ-शास्त्र' से होता था। 'कौटिलीय अर्थ-शास्त्र' इसका बड़ा भारी उदाहरण है। परन्तु आज-कल अर्थ-शास्त्र से बिलकुल भिन्न अर्थ होता है। आज-कल इस शास्त्र में सम्पत्ति की उत्पत्ति, उसका विभाजन, विनिमय, व्यय इत्यादि के तत्त्वों का विवेचन रहता है। इसी कारण इसे कोई कोई स्पष्टता के लिए और सन्दिग्धता दूर करने के लिए 'सम्पत्ति-शास्त्र' कहा करते हैं। सम्पत्ति की उत्पत्ति, विभाजन, विनिमय और व्यय के बहुत से नियम राज्य के नियमों से सम्बन्ध रखते हैं। सम्पत्ति के नियमों में राज्य का बहुत-सा अधिकार रहता है और उनमें समय समय पर परिवर्तन करने होते हैं। इसलिए राज्य-विज्ञान से अर्थ-शास्त्र का भी सम्बन्ध स्थापित होता है।

३—राज्य-विज्ञान का इतिहास से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतिहास में अनेक प्रकार के लोगों के अनेक प्रकार के कार्यों का वर्णन होता है। इस कारण उसमें थोड़ा-बहुत कार्य-कारण-सम्बन्ध अवश्य दीख पड़ता है। अमुक कार्य का अमुक परिस्थिति में क्या परिणाम हुआ, यह इतिहास से जान सकते हैं। भौतिक-शास्त्र का एक नियम है कि उसी परिस्थिति में उन्हीं कारणों के वे ही परिणाम हुआ करते हैं।

उदाहरणार्थ, पानी के नीचे आग लगाने से पानी ज़रूर गरम होगा। यदि कोई ऐसी बात हो कि पानी को मिलनेवाली गरमी किसी कारण नष्ट हो जावे तो बात अलग है। परन्तु यह सदैव का अनुभव है कि उसी परिस्थिति के रहते पानी आग के कारण ज़रूर गरम होता है। जड़ सृष्टि का यह नियम जीवसृष्टि को भी लागू होता है। इस पर कोई प्रश्न करे कि जीवसृष्टि में ऐसा तो हमें सदैव नहीं दीख पड़ता, यह क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जड़सृष्टि की वस्तुएँ जड़ होती हैं, उनमें परिवर्तन कम होता है। उनमें थोड़े ही काल के भीतर भीतरी अथवा बाहरी बदल कम होती है। इन परिवर्तनों को हम रोक सकते हैं, और इस तरह उनकी परिस्थिति को हम अपने क़ाबू में रख सकते हैं। परन्तु जीवसृष्टि में जीवों की परिवर्तनशीलता के कारण उनकी परिस्थिति सदा बिलकुल एक-सी नहीं बनी रह सकती। फिर, जीवों जीवों में भेद हैं। और एक को दूसरे से मानसिक शक्ति कम-अधिक रहती है। मनुष्य में इस मानसिक-शक्ति का चरम विकास देख पड़ता है। इस कारण, उसमें मानसिक विकार इतने अधिक होते हैं कि मनुष्य की परिस्थिति सदैव बिलकुल एक-सी बनी रहना नितान्त असम्भव है। तथापि इस विविधता में कुछ समानता भी अवश्य देख पड़ती है। इसलिए, ऊपर जो भौतिकसृष्टि का नियम हमने बतलाया है, वह कुछ अंश तक मनुष्यसृष्टि को भी लागू होता है। और इसलिए इतिहास का राज्य-विज्ञान में उपयोग हो सकता है और उससे बहुत-सी शिक्षाएँ मिल सकती हैं।

परन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, मनुष्य की सब बातें परिवर्तनशील होती हैं। 'क्या हुआ' जानने से ही मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता। 'क्या होना चाहिए' का विचार सदा उसके मन में व्यक्ति और समाज की दृष्टि से बना रहता है। 'क्या होना चाहिए' का प्रश्न वह कई तरह से सोचा करता है। इतिहास की ओर तो वह देखता है ही, पर भला क्या है और बुरा क्या है इसकी ओर

भी वह देखता है। इतिहास का उपयोग करता ही है, पर नीतिशास्त्र का भी, भले-बुरे के नियमों का भी, उपयोग करता है। साथ ही, मनोविज्ञान के नियम भी बीच में आ जाते हैं। मनोविज्ञान में मनुष्य के मन की रचना से उसके कार्यों के नियम निकाले जाते हैं। इस कारण, नीतिशास्त्र में मनोविज्ञान के नियमों का थोड़ा-बहुत विवेचन होना स्वाभाविक है। इस तरह मनोविज्ञान का राज्य-विज्ञान से सम्बन्ध स्थापित होता है।

राज्य-विज्ञान के विवेचन में जीवशास्त्र के नियमों का बहुत उपयोग होता है। अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र इत्यादि शास्त्रों का हमारे विषय से अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध है। ये शास्त्र मनुष्य के प्रत्यक्ष व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं। और राज्य का मनुष्य के सब प्रकार के व्यवहारों से सम्बन्ध होता है। इस कारण राज्य-विज्ञान से इनका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। जीवशास्त्र का हमारे विषय से इस प्रकार का अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध नहीं है। तथापि समाज से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक शास्त्र के विवेचन में जीवशास्त्र के नियमों का तुलना के लिए बहुत उपयोग होता है। समाज या कभी कभी राज्य की तुलना जीव अथवा वनस्पति से की जाती है। उचित परिस्थिति में जीव अथवा वनस्पति के आवश्यक अङ्गों का क्रमशः विकास होना, उनका भरपूर बढ़ना और फिर पतन होना समाज या राज्य में भी दीख पड़ते हैं। विकासवाद के बहुत से नियम जीव अथवा वनस्पति और समाज अथवा राज्य के शरीर को बहुत कुछ समान लागू होते हैं। नये नये अङ्गों का निकलना, उनके कार्यविशिष्ट होना, इस योजना से सारे शरीर की पुष्टि होना, पुराने अङ्ग निरुपयोगी होकर उनका नष्ट हो जाना इत्यादि बातें दोनों में समसमान दीख पड़ती हैं। विवेचन के लिए यह तुलना बहुत आवश्यकीय है, इससे सिद्धान्त समझने में सरलता होती है। इसी दृष्टि से इन नियमों का थोड़ा-बहुत उपयोग इस पुस्तक में भी हुआ है।

४—ऊपर हमने जो विवेचन किया, वह और एक दृष्टि से ख़याल में रखने लायक़ है। प्राचीन राज्य-विज्ञान, उदाहरणार्थ, कौटिलीय अर्थशास्त्र, के देखने से ज्ञात होगा कि राजा को लोगों के प्रति जो व्यवहार करने होते हैं उनके प्रत्यक्ष नियम इन पुस्तकों में दिये रहते हैं। तत्त्वों का विवेचन उनमें कम रहता है। इस कारण कोई कोई इन को 'राज्य-विज्ञान' की पुस्तकें न कहते 'राज्यकला' की पुस्तकें कहते हैं। उनका विवेचन 'विज्ञान' की दृष्टि से नहीं है, कला की दृष्टि से है। राजा को कैसा व्यवहार करना चाहिए, यही सीधा सीधा उनमें बतलाया रहता है और इसी की उसमें छोटी से छोटी बातें दी रहती हैं। परन्तु आज-कल के 'राज्य-विज्ञान' की बात भिन्न है। उनमें 'राज्य'-सम्बन्धी 'तत्त्वों' का विवेचन अधिक रहता है। राज्याधिकारी को क्या करना चाहिए इसका विवेचन कम। यह बहुत महत्त्व का भेद है। इससे यह दूसरा भेद पैदा होता है कि 'राज्य के तत्त्व क्या होने चाहिए' इसका विवेचन राज्य-विज्ञान में रहना आवश्यक है। 'राज्य के तत्त्व क्या होने चाहिए' ही जब इस शास्त्र का विषय हुआ, तो इतिहास के आधार पर इस शास्त्र के नियमों को जानने के लिए हम अवलम्बित नहीं रह सकते। अमुक अमुक कारणों के अमुक अमुक परिस्थिति में जो परिणाम हुए, उन्हें जानकर हम अपने विचार स्पष्ट कर सकते हैं, सन्दिग्धता दूर हो सकती है, अपने तत्त्वों को उदाहरण-सहित समझा सकते हैं और व्यवस्था-विज्ञान, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान इत्यादि शास्त्रों के आधार पर राज्य के लिए निकाले नियमों की सत्यता की जाँच भी कभी कभी कर सकते हैं। परन्तु इतिहास से ही सारा 'राज्य-विज्ञान' नहीं रचा जा सकता। यदि ऐसा 'राज्य-विज्ञान' रचा भी जा सका तो उसका क्षेत्र बड़ा ही परिमित होगा। और 'क्या होना चाहिए' की सबसे भारी बात बहुत कम सिद्ध होगी। इसलिए राज्य-विज्ञान के तत्त्वों का विचार व्यवस्था-विज्ञान, नीतिशास्त्र, और अर्थ-शास्त्र, मनोविज्ञान के तत्त्वों के आधार पर अधिकांश में करना होगा।

सारांश, इस शास्त्र की विचार-पद्धति प्रधानतया रेखागणित की नाईं आगमनात्मक* होगी, निगमनात्मक* कम। ध्यान रहे कि हमने 'निगमनात्मक कम' कहा है। इसका यह अर्थ है कि इस दृष्टि से भी

---

* इन दो शब्दों के अर्थों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। जब किसी दिये हुए तत्त्व या उपपत्ति से दूसरे तत्त्व, उपपत्ति या सिद्धान्त निकालते हैं, तब आगमनात्मक पद्धति का उपयोग होता है। यथा, समकोण त्रिभुज की परिभाषा से आगे चलकर यह सिद्धान्त निकाल सकते हैं कि तीनों भुजाओं की लंबाई समान होती है। परन्तु यही तत्त्व या सिद्धान्त निकालने का दूसरा उपाय भी है। अनेक समकोण त्रिभुज बना लें और फिर नाप कर देखें कि प्रत्येक त्रिकोण की भुजाओं का परस्पर क्या सम्बन्ध है। इस रीति से भी दीख पड़ेगा कि प्रत्येक समकोण त्रिभुज की भुजायें बराबर होती हैं। पाठक देख सकते हैं कि सिद्धान्त वही है, तो भी उनके निकालने की पद्धतियाँ दो हैं। एक में तत्त्व या उपपत्ति से तत्त्व या सिद्धान्त निकालते हैं। दूसरी में प्रत्यक्ष अनेक उदाहरणों की जाँच करके। रेखागणित का जब विज्ञानात्मक विवेचन रहता है, तब पहली ही पद्धति का उपयोग करते हैं। इसके उलटा, रसायनशास्त्र जैसे शास्त्र में प्रत्यक्ष उदाहरणों की जाँच करके सिद्धान्त निकाले जाते हैं। पानी का सैकड़ों बार सैकड़ों लोगों ने पृथक्करण किया है, और यह दीख पड़ा है कि उससे हमेशा दो ही वायु, हैड्रोजन और आक्सीजन, पैदा होती हैं। इसलिए सिद्धान्त निकाला कि पानी दो वायुओं के संयोग से बना है। रेखागणित की विचार-पद्धति आगमनात्मक है, रसायनशास्त्र की निगमनात्मक। मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, व्यवस्थाविज्ञान, समाजशास्त्र आदि शास्त्रों के नियमों के आधार पर जो नियम राज्य-विज्ञान के लिए निकल सकेंगे, वे आगमनात्मक होंगे। इतिहास के उदाहरण देख कर जो नियम निकलेंगे, वे निगमनात्मक होंगे।

थोड़ा बहुत विचार अवश्य होगा। और यह बात हम ऊपर दिखला ही चुके हैं। हम स्वीकार कर चुके हैं कि इतिहास से मिलनेवाले तत्त्वों का थोड़ा-बहुत उपयोग इसमें अवश्य होगा। कम से कम, एक पद्धति से निकाले हुए नियमों और तत्त्वों की जांच इतिहास से निकाले हुए नियमों और तत्त्वों की सहायता से स्थान स्थान पर करनी होगी। अर्थशास्त्र, व्यवस्थाविज्ञान, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र के आधार पर राज्य-विज्ञान के लिए निकाले हुए नियमों की सत्यता इतिहास की कसौटी पर जांचनी होगी। इस तरह शास्त्र-विचार की दोनों पद्धतियों का इसमें उपयोग होगा, पर आगमनपद्धति का उपयोग अधिक और निगमन-पद्धति का कम। सब सामाजिक शास्त्रों में इन दो पद्धतियों का कम-अधिक उपयोग होता है। तथापि बहुधा आगमन-पद्धति का ही उपयोग बहुत रहता है क्योंकि 'क्या होना चाहिए' का प्रश्न समाज-सम्बन्धी सब ही शास्त्रों में थोड़ा-बहुत बना रहता है। और बहुधा इनकी जाँच इतिहास के द्वारा कर ली जाती है। जिस शास्त्र में 'क्या होना चाहिए' के प्रश्न को हल नहीं किया है, उससे बौद्धिक आनन्द मिल सकता है, पर शिक्षा कम प्राप्त होती है। और इस कारण मानव-जीवन के तत्सम्बन्धी सुधार की आशा भी कम हो जाती है। इसलिए राज्य-विज्ञान जैसे महत्त्वपूर्ण विषय में 'क्या होना चाहिए' पर ही अधिक ध्यान देना होगा। वह उचित है या नहीं इसकी जाँच इतिहास से करते जावेंगे।

५—राज्य-विज्ञान की व्याख्या, उसका दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध, उसकी विचार-पद्धति इत्यादि जान लेने पर उसके क्षेत्र-विस्तार का विचार कर सकते हैं। व्याख्या और दूसरे शास्त्रों के सम्बन्ध के विवेचन में बहुत मोटी तरह से उसके क्षेत्र-विस्तार का थोड़ा-बहुत वर्णन हो चुका है और इस पुस्तक के विषय का निर्देश भी हो चुका है। परन्तु इसके क्षेत्र-विस्तार की कल्पना अब हम कुछ अधिक स्पष्ट कर सकते हैं।

राज्य-विज्ञान में राज्य के तत्त्वों का विवेचन रहेगा, परन्तु उनमें किन किन बातों का समावेश होगा? राज्य-विज्ञान की ऊपर जो व्याख्या दे चुके हैं, उसमें उसके क्षेत्र का कुछ विचार आ चुका है। तथापि इसकी स्पष्ट कल्पना करने के लिए राज्य की जीवों के शरीर से तुलना करेंगे। जीवों के शरीर का एक बाहरी स्वरूप होता है जिसके कारण उसे अमुक जीव का शरीर कहते हैं। फिर उसके शरीर की कुछ विशिष्ट भीतरी रचना होती है, कुछ अवयव होते हैं जो इस शरीर का पोषण करते हैं और अनेक प्रकार के दूसरे कार्य करते हैं। तीसरे, शरीर के कुछ उद्दिष्ट कार्य होते हैं, उसके कुछ उद्देश होते हैं और उनका कार्य-क्षेत्र होता है। इस प्रकार शरीर के तीन भेद किये जा सकते हैं। बाहरी स्वरूप, आन्तरिक रचना और कार्यक्षेत्र। बस, क़रीब क़रीब यही बात राज्य की है। उसका कुछ विशिष्ट स्वरूप होता है, उसकी आन्तरिक रचना होती है और कुछ विशिष्ट कार्यक्षेत्र होता है। इन तीन भागों में 'प्रत्यक्ष बात क्या है' इतने का ही समावेश हमारे ग्रन्थ में न होगा। इसमें कुछ अंश में यह भी आजावेगा कि वे किस प्रकार के होने चाहिए। जीव के शरीर के बाहरी स्वरूप और भीतरी रचना को बनाना मनुष्य-प्राणी के अधिकार में नहीं है, तथापि कार्यों का निर्णय कुछ कुछ मनुष्यप्राणी कर सकता है। परन्तु राज्यशरीर की बात भिन्न है। उसके बाहरी स्वरूप का निर्णय बहुत-कुछ मनुष्य कर सकता है, भीतरी रचना का निर्णय उसके हाथ में और भी अधिक है और उसके कार्य-क्षेत्र का निर्णय भी वह विचार-पूर्वक कर सकता है। इसलिए राज्य का साधारणतः बाहरी स्वरूप क्या होता है, भीतरी रचना क्या होती है, और कार्य क्या होते हैं, इतने में यह विवेचन समाप्त न होगा। उसमें यह सदा आता ही रहेगा कि इनमें क्या क्या बातें अवश्य होनी चाहिए। और इसकी आवश्यकता इस शास्त्र की विचार-पद्धति में दिखला ही चुके हैं। सुधार की नींव इसी पर अवलम्बित है। उचित और आवश्यक बातों का विचार सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

दूसरा परिच्छेद

कुछ मुख्य व्याख्याएँ

१—ऊपर हम राज्य की काम-चलाऊ परिभाषा दे चुके हैं। प्रथम उसमें यह कल्पना है कि कुछ लोगों का सङ्गठित समाज रहता है, वे यथासम्भव एक से नियमों से नियन्त्रित होते हैं, इन नियमों को अमल में लाने के लिए सबके लिए वही अधिकारि-मण्डल रहता है और वे सब किसी विशिष्ट भूमि-भाग में रहते हैं जहाँ वे ही नियम लागू होते हैं और उन्हीं अधिकारियों का अधिकार चलता है। परन्तु 'राज्य' शब्द का कभी कभी इससे कुछ भिन्न अर्थों में भी उपयोग होता है। इतना ही नहीं तो 'सरकार' 'राष्ट्र' 'क़ौम' इत्यादि कई अन्य शब्द हैं जो कभी कभी इसी अर्थ में अथवा इससे मिलते-जुलते अर्थ में उपयोग में आया करते हैं। इसलिए 'राज्य' शब्द की परिभाषा विशेष स्पष्ट करनी होगी। साथ ही, इन दूसरे शब्दों का अर्थ भी जानना होगा। अगले कार्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इन शब्दों का अर्थ स्पष्टतया जान लें।

२—ऊपर राज्य का जो अर्थ हमने दुहराया है, उससे कुछ भिन्न अर्थ इस शब्द का हुआ करता है। यह सबको मालूम ही है कि राज्य ऋण देता है और ऋण लेता है, राज्य जायदाद का मालिक होता है और जायदाद बेंचता है। यहाँ पर 'राज्य' शब्द से राज्य के भिन्न भिन्न व्यक्तियों का अर्थ नहीं है। 'राज्य' के इस अर्थ में व्यक्तियों का अलग अलग विचार नहीं है। यहाँ पर व्यक्तियों से बने हुए एक समाज का अर्थ राज्य से होता है, सब लोगों के एकत्व का विचार है, पृथक् पृथक् व्यक्तियों का नहीं। इस ऋण में और इस जायदाद में उस राज्य के

व्यक्तियों का ऋण अथवा जायदाद सम्मिलित नहीं है। व्यक्तियों के ऋण अथवा जायदाद से यह ऋण अथवा जायदाद भिन्न है। यह अर्थ-भेद विदेशी और स्वदेशी सब ही मानते हैं। यदि कहीं कोई राज्य दीवालिया हो जावे तो उसके लिए लोगों की जायदाद न ली जावेगी। राज्य के लिए राज्य ही उत्तर-दाता है। लोगों के उपकार के काम करना समाज का कर्तव्य है राज्य का नहीं, ऐसा जब कहते हैं तब उपरिलिखित अर्थ-भेद लक्षित रहता है। कभी कभी यह शब्द एक देश के सारे लोक-समाज के अर्थ में आता है। इँग्लैंड धनवान् है इसमें यही अर्थ गर्भित है। इस तरह राज्य शब्द कई अर्थों में आया रहता है। तथापि बहुधा वह पहले बतलाये अर्थ में आता है—एक भूमि-भाग में रहनेवाले और एक ही समान नियमों को पालनेवाले और उसी अधिकारिमण्डल यानी उसी सरकार की आज्ञा माननेवाले जन-समाज को बहुधा राज्य कहते हैं।

३—ऊपर एक जगह पर देश शब्द आया है। देश शब्द से भूमि-भाग का अर्थ होता है। परन्तु इतने से ही उसकी पूर्ण परिभाषा नहीं हो जाती। एक देश में एक ही राज्य रहता है, वहाँ के लोग एक ही राज्य की प्रजा रहते हैं और एक ही सरकार की आज्ञा मानते हैं। देश शब्द में इतना अर्थ गर्भित है। इसी कारण इस शब्द का अर्थ कभी कभी वहाँ के जन-समाज से किया करते हैं, जैसे फ्रांस ने अमुक विचार किया है। और कभी कभी वहाँ की सरकार का भी अर्थ होता है, जैसे इटली ने ऐसी आज्ञा निकाली है इत्यादि। इसलिए इस शब्द का अर्थ उस स्थान की आवश्यकता से जान लेना चाहिए। कभी कभी देश शब्द के बदले 'राष्ट्र' आता है। इसलिए इस शब्द का भी अर्थ जानना आवश्यक होगा।

४—ऊपर 'राज्य' का हमने जो साधारण अर्थ बतलाया है उसमें मुख्य भाग यह है कि वह जन-समाज एक ही सरकार की आज्ञा माने। परन्तु उस जन-समाज की एकता में इतनी ही

कल्पना सम्मिलित नहीं रहती—इससे कुछ अधिक कल्पना रहती है। एकत्व का इतना ही बन्धन जिस जन-समाज में होगा, वह युद्ध-काल अथवा देशीय विप्लव के समय शिथिल हो जावेगा। इसलिए राज्य के लोगों के एकत्व का बोध करने के लिए 'राष्ट्र' शब्द का बहुधा उपयोग होता है। परन्तु इस शब्द का स्पष्ट अर्थ करना बड़ा कठिन है। जन्म-दृष्टि से वही मूल होना, वही भाषा और साहित्य होना, वही इतिहास होना, सामाजिक रीतियाँ वे ही होना, धर्म वही होना इत्यादि बातें कम-अधिक प्रमाण से 'राष्ट्र' के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। परन्तु किसी भी वर्तमान राष्ट्र में ये सब बातें मिलनी दुर्लभ हैं। इनमें से जितनी अधिक बातें जिस राष्ट्र में मिलेंगी, उतना ही वह राष्ट्र अधिक दृढ़ होगा। हिन्दुस्तान में भी इनमें से सबकी सब बातें नहीं दीख पड़तीं। इस दृष्टि से तो हिन्दुस्तान का कभी भी राष्ट्र न बन सकेगा। 'राष्ट्र' शब्द की उपरिलिखित कल्पना आदर्श मानी जा सकती है। व्यवहार में उसका मिलना कठिन ही नहीं तो क़रीब क़रीब असम्भव है। आज-कल यदि एक राष्ट्र के लोगों में कोई बात सब जगह मिल सकती है तो वह यह है कि उन लोगों की भलाई-बुराई वही होती है, सबके स्वार्थ वही होते हैं। एक ही मूल होने से, एक ही भाषा और साहित्य होने से, एक ही इतिहास होने से, एक ही तरह की सामाजिक रीतियाँ होने से, एक ही धर्म होने से राष्ट्र में एकता की मात्रा परिपूर्ण पाई जा सकती है। इस कारण ये लक्षण होना बहुत ही अच्छा है। पर वे आवश्यकीय लक्षण नहीं हैं। आवश्यक लक्षण है स्वार्थैक्य। हम एक ही राज्य के अङ्ग हैं, हम एक ही सरकार की आज्ञा पालते हैं, और हम सबका भला-बुरा एक ही है, यही भावना आज-कल राष्ट्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। और कोई लक्षण रहें या न रहें, यह भावना रही तो उस जन-समाज को राष्ट्र कह सकते हैं। एक सरकार के अधीन रह कर भी शायद उस सरकार के जन-समाज में राष्ट्रीयता की भावना न पैदा हो। युद्ध के पहले आस्ट्रिया-हंगेरी की यही दशा थी। एक

सरकार होकर भी वहाँ राष्ट्रीयता की भावना अलग अलग थी—हंगेरी अपने को आस्ट्रिया से सदा भिन्न समझता रहा। इस कारण वहाँ की सरकार बहुत काल तक न टिक सकी। राष्ट्रीयता की भावना सरकार और राज्य के बहुत काल तक टिकने के लिए बहुत आवश्यक है।

४—प्रत्येक राज्य में कुछ लोग ऐसे रहते हैं, जो राज्य का काम चलाते हैं, जो लोगों को व्यक्ति और समाज के अङ्ग दोनों दृष्टि से हुक्म देते हैं, चाहे वे हुक्म थोड़े काल के लिए हों या सदा के लिए हों। जो ऐसी आज्ञायें देते हैं कि अमुक करो अथवा अमुक न करो, अमुक करने अथवा न करने से अमुक दण्ड मिलेगा, उन लोगों के सङ्गठन को सरकार कहते हैं। सारांश, क़ायदा बनानेवाली, उनके अनुसार न्याय करने-वाली और तदनुसार अमल करनेवाली संस्था सरकार कहलाती है। सरकार के कर्तव्य इतने में ही नहीं समाप्त होते। परन्तु राज्य के प्रथम उद्देश पर दृष्टि देने से ये कर्तव्य बड़े महत्त्व के सिद्ध होते हैं और प्रत्येक सरकार के लक्षण माने जा सकते हैं। हमें मालूम है कि यह परिभाषा दोषहीन नहीं है और इसका अधिक विवेचन क्रमशः आवेगा ही। तथापि काम चलाने के लिए यह परिभाषा सर्वोत्तम है। सरकार के हमने जो तीन कार्य बतलाये, उन्हें अलग अलग भी कभी कभी सरकार कहते हैं। विशेषतया, अमल में लानेवाले सरकार-विभाग को सर्व-साधारण सरकार के नाम से पुकारते हैं। इसके अनेक कारण हैं और उनका विवेचन आगे होगा ही, तथापि मुख्य कारण यह है कि बहुधा उनके अधिकार और कार्य लोगों की आँखों के सामने अधिक रहते हैं। इसी प्रकार, राज्याधिकार कई प्रकार से विभाजित किये जा सकते हैं और सर्वोच्च सरकार, स्थानीय सरकार, उपाङ्ग सरकार इत्यादि भेद पैदा हो सकते हैं। इन सबका विवेचन आगे चल कर होगा।

तीसरा परिच्छेद

क़ायदा, अधिकार और राजकीय बन्धन

१—गत परिच्छेद में 'क़ायदा' या 'क़ानून' शब्द का उपयोग हमने कई बार किया, परन्तु उसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया था। अतः उसका अर्थ जान लेना आवश्यक है।

क़ायदा शब्द के कई अर्थ हुआ करते हैं। 'प्रकृति का क़ायदा है कि आग में हाथ डालने से वह जलेगाही'। इस वाक्य में यह अर्थ है कि आग के छूने से हाथ का जलना प्राकृतिक परिणाम है। "बच्चों का पालन-पोषण करना ईश्वरीय क़ायदा है"। इस वाक्य में यह दर्शाया रहता है कि हमें उचित है कि हम बच्चों का पालन-पोषण करें। कभी कभी प्रकृति के क़ायदे का भी अर्थ इसी शब्द से जाना जाता है। 'नैतिक क़ायदा पालना ही होगा' इस वाक्य में नीति के नियमों का विचार है। परन्तु यह सबको मालूम है कि नीति के नियम 'प्राकृतिक' अथवा 'ईश्वरीय' नियमों पर कुछ अंश में अवलम्बित रहते हैं। इस कारण 'नैतिक क़ायदे अथवा नियमों' के अन्तर्गत 'प्राकृतिक अथवा ईश्वरीय क़ायदों' का भी अर्थ कभी कभी रहता है। 'सामाजिक* क़ायदों' में समाज की नीति का विचार है ही, पर साथ ही उनमें ऐसे भी नियम

---

* स्मरण रहे कि समाज शब्द का भी अर्थ हमेशा स्पष्ट नहीं रहता। कभी तो उसमें राजकीय सम्बन्ध की कल्पना रहती है, तो कभी केवल व्यक्ति व्यक्ति का परस्पर सम्बन्ध उद्दिष्ट रहता है। यहाँ पर हमने इसी व्यक्ति व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध के अर्थ में इस शब्द का उपयोग किया है।

आ जाते हैं कि जिनके उल्लङ्घन से नीति का उल्लङ्घन नहीं होता, तथापि उस प्रकार बर्ताव, आचरण अथवा कार्य करने की परिपाटी समाज में अवश्य है। उदाहरणार्थ, घर पर कोई बैठने आये तो उसे आदर के साथ बिठलाना क़ायदा है। इन तमाम क़ायदों का पालन शरीर को होनेवाले बुरे परिणामों पर अथवा लोक-मत पर अवलम्बित रहता है। इन क़ायदों के उल्लङ्घन से या तो 'ईश्वर' अथवा 'प्रकृति' से स्वाभाविक दण्ड मिलता है, या लोग ऐसे पुरुष को भला नहीं कहते और आवश्यकता पड़ने पर उससे सर्व सम्बन्ध भी त्यागने का प्रयत्न करते हैं। इस कारण उन क़ायदों को थोड़ा-बहुत पालना ही पड़ता है। इन क़ायदों के सिवा प्रत्येक देश में कुछ ऐसे भी नियम रहते हैं कि जिनके अनुसार कोई राजकीय शक्ति व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के कार्यों अथवा सम्बन्धों का विचार करके तदनुसार अमल करती है। राज्य-विज्ञान में इन्हीं अन्तिम प्रकार के क़ायदों का विचार है। इनको हम राज्यप्रणीत क़ायदे कहेंगे।

२—इन क़ायदों का स्वरूप जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम जान लें कि वे किस प्रकार बनते हैं।

(१) प्राचीन काल की ओर दृष्टि दें तो यह बात बड़ी स्पष्ट देख पड़ेगी कि समाज की रीति बहुतांश में क़ायदों का काम देती थी। राज्याधिकारी इन रीतियों के अनुसार मुक़द्दमों का विचार करते थे। इस कारण प्रत्येक देश के क़ायदों में समाज की रीतियाँ स्थान पा चुकी हैं। 'इन रीतियों' में सामाजिक बन्धनों के नियम, नीति के नियम, व्यवहार के नियम, धर्म के नियम इत्यादि सब थोड़े-बहुत अंश में सम्मिलित हो जाते थे। इन क़ायदों को राज्याधिकारी बनाते न थे। 'रीतियाँ' क्या हैं इस बात का निश्चय करके वे केवल उनका उपयोग, तदनुसार विचार, किया करते थे। अपने यहाँ की स्मृतियों के बहुत से नियम इसी प्रकार क़ायदों का स्वरूप पा चुके हैं।

(२) परन्तु किसी समाज की रीतियों का निश्चित करना कोई सरल कार्य न था। स्थान स्थान पर रीतियां बदलती थीं। ऐसे समय में न्यायाधीश जिन रीतियों का उपयोग करते थे, जिन रीतियों को मान लेते थे, उन्हें क़ायदे का स्वरूप मिल जाता था। इस प्रकार न्यायाधीश भी क़ायदे बनाने में भाग लेता था और अब भी सब देशों में यह बात थोड़े-बहुत अंश में अवश्य प्रचलित है। एकसमान मुक़द्दमों के फ़ैसलों से कुछ सामान्य नियम बन जाते हैं, नज़ीरें पेश की जाती हैं, और इस प्रकार न्यायाधीश न जाने ही क़ायदा बदलता और बनाता है। कभी कभी किसी बात के लिए कोई रीतियाँ न देख पड़ीं, तो न्यायाधीश औचित्य-अनौचित्य का विचार कर न्याय देता है। ऐसे समय भी नये ही नियम बन जाते हैं। समाज की दशा और उसकी रीतियां सदा बिलकुल एक-सी नहीं रहतीं, वे बदलती रहती हैं और न्यायाधीश को तो अपना काम करना ही पड़ता है। इस कारण नये नये नियमों को बिना सोचे विचारे ही व्यवहार में उसे लाना होता है। ये सब न्यायाधीश-प्रणीत क़ायदे हैं।

(३) जिस प्रकार अन्य विषयों का शास्त्रीय विवेचन होता है, उसी प्रकार क़ायदों का भी हो सकता है। क़ायदों के शास्त्रीय विवेचनों का परिणाम यथेष्ट होता है। पुरानी रीतियों को सुसम्बद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, अनेक प्रकार के निर्णयों का विचार करते हैं, और क़ायदों और उनके विभागों का परस्पर सम्बन्ध देखते हैं। इन विवेचनों का अदालतों के निर्णयों पर यथेष्ट परिणाम होता है, साथ ही, उनके कारण व्यवस्थापक-सभाओं में नये क़ायदों की सृष्टि होती है।

(४) परन्तु आज-कल क़ायदा बनाने का सबसे प्रधान ज़रिया व्यवस्थापक-सभा है। सरकारों के सामने अनेक प्रकार के प्रश्न उपस्थित हुआ करते हैं। उनको हल करने के लिए व्यवस्थापक-सभाओं में नित्य नये मसविदे पेश होते हैं और नये-नये क़ायदे बना करते हैं। इस तरह से जो क़ायदे बन रहे हैं, उनकी संख्या अब बहुत ही बढ़

गई है। पुरानी रीतियों को, अदालतों के निर्णयों को, शास्त्रीय विवेचन को, अब क़ायदों के रूपों में सुसम्बद्ध होते हम देख रहे हैं, उन्हें बने हुए क़ायदों का रूप मिल रहा है। व्यवस्थापक-विभाग-कृत क़ायदे ही अब सब देशों में अधिक हो गये हैं।

ऊपर हमने क़ायदे और नीति के सम्बन्ध का उल्लेख किया है। इसको अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। क़ायदे में व्यक्ति के सम्बन्ध और आचरण के नियम रहते हैं। इस दृष्टि से क़ायदा मूर्तिमान् नीति ही है। परन्तु इनमें भेद भी कुछ कम नहीं है। "नीति का सम्बन्ध व्यक्ति के प्रत्येक कार्य और प्रत्येक शब्द से है।" प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार से, कायिक कर्म और मानसिक कर्म से, नीति का सम्बन्ध है। "परन्तु क़ायदे का मनुष्य के सामाजिक जीवन से ही सम्बन्ध है। वह मनुष्य के स्पष्ट दीखनेवाले कार्यों को ही नियमित करना चाहता है। क़ायदे का निय-न्त्रण उन्हीं विशिष्ट कार्यों पर होता है कि जिनको सार्वजनिक अधिकारी नियन्त्रित कर सकता है, कि जिनके विषय में यह सिद्ध हो चुका है कि सामान्य नियमों को लागू करने से सब लोगों के ये कार्य एक सरीखे नियन्त्रित हो सकते हैं। असत्यता को असत्यता के नाते ही वह दण्ड नहीं देता। सब लोगों की जिस असत्यता पर क़ायदे का बन्धन हो सकता है उन्हीं को क़ायदा रोकने का प्रयत्न करेगा। उदाहरणार्थ, जालसाज़ी और झूठ-मूठ बहकाने से जो करारनामे हो जायँ उन्हीं को वह रद कर देगा और यदि इस धोखे से कुछ नुक़सान हो जाय तो उस क्षति की पूर्ति भी करवा देगा। हमने अपने मित्र पर हज़ार उपकार किये, पर उसने एक को भी न माना। इस कारण वह समाज में भले ही कृतघ्न या बेईमान कहलावे। परन्तु इस प्रकार की कृतघ्नता की बारीकियों पर क़ायदे का कोई बस नहीं चलता। परन्तु यदि हमने अपने मित्र को हज़ार रुपये उधार दिये और उसने रुपये पाने की बात स्वीकार न की तो असत्यता का प्रत्यक्ष दोष उस पर लगेगा। असत्यता के ऐसे स्पष्ट

और प्रत्यक्ष कार्य जब देख पड़ेंगे तब ऐसा काम करनेवाले को क़ायदा लागू किया जावेगा। क़ायदा लोगों के शील का कर्ता-धर्ता नहीं है, वह उन्हें सुशील बनने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। जो लोग समाज के व्यवहारों में कुशील बर्ताव करते हैं, उन्हीं के लिए क़ायदा अपना दण्ड लेकर खड़ा रहता है। सम्भव है कि नीति के अनुसार चलकर भी क़ायदे का उल्लङ्घन हो जावे या क़ायदे के अनुसार चल कर भी नीति का उल्लङ्घन हो जावे। इन दोनों बातों का एक अच्छा उदाहरण देखने में आता है। मान लो दो आदमी झगड़ रहे हैं। नीति कहती है कि उन्हें झगड़े से बचाना चाहिए। तुम बचाने गये और एक को दूर करने लगे। दूसरे ने यह मौक़ा पाकर उसे ख़ूब पीट लिया। पहला अब तुम पर इलज़ाम लगाता है कि तुमने मुझे पकड़ कर पिटवाया। करने गये कुछ और हुआ और कुछ। नीति के अनुसार चलने गये तो क़ायदे के चंगुल में फँस गये। बचाने न जाते तो क़ायदे का उल्लङ्घन न होता, पर तुम्हारा आचरण नीति की दृष्टि से गर्हित कहा जाता।

सारांश, "क़ायदा न तो पूरी तरह सदसद्विवेक बुद्धि का ही काम करता है और न ईश्वर का ही। इतना ही नहीं, बल्कि वह किसी ख़ास नीति के अनुसार चलता है, केवल औचित्य और अनौचित्य के सूक्ष्म नियमों के अनुसार नहीं। कृतघ्नता, चापलूसी, स्वार्थपरता, जैसी बहुत-सी बातें नीति के अनुसार ठीक नहीं रहतीं, पर उन पर क़ायदा अपना शस्त्र नहीं चलाता। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो ख़ुद बुरी नहीं, पर क़ायदा उन्हें बुरा कहता है और उनके लिए दण्ड देता है। इस तरह से वह वर्जनीय कामों का एक नया ही वर्ग तैयार करता है—किसी किसी बातों को क़ायदे में वर्जनीय कहा है, इसीलिए वे वर्जनीय हो जाती हैं।" उदाहरणार्थ, सड़कों पर गाड़ियाँ खड़ी करना ख़ुद किसी तरह से बुरा नहीं। परन्तु इस रीति से सड़कें ही बंद हो जावेंगी। इसलिए सड़कों पर गाड़ियाँ खड़ी करने के लिए नियम बनाने पड़ते हैं, और उनके तोड़नेवालों को दण्ड देना पड़ता

है। भाई के मरने पर भावज से शादी करना ख़ुद बुरा नहीं, पर किसी किसी समाज में यह बेक़ायदा है क्योंकि उससे बुरे परिणाम होने की संभावना है। वह बेक़ायदा होगया, इसलिए वर्जनीय भी होगया।

३—अब प्रश्न कर सकते हैं कि क़ायदों का क्या अर्थ है? क़ायदों के बनने के जो चार मार्ग ऊपर बतलाये हैं, उन सबमें एक बात सामान्य देख पड़ेगी। वह यह है कि किन्हीं नियमों को क़ायदों का स्वरूप मिलने के लिए उन्हें सरकार का ज़ोर मिलना चाहिए। यदि उन्हें सरकार का ज़ोर न मिला तो वे नियम क़ायदे न समझे जावेंगे। उन नियमों के अनुसार लोगों के अधिकार और उत्तरदायित्व यानी बन्धन का निश्चय होता है। यदि कोई पुरुष अपने अधिकार के बाहर कोई काम करता है, या अपना उत्तरदायित्व नहीं निबाहता है तो उसे दण्ड मिलता है। यानी, क़ायदे उन नियमों को कहना चाहिए जिनसे किसी राज्य के लोगों का व्यवहार नियन्त्रित और निश्चित किया जाता है, और जिनको तोड़ने पर उस राज्य की सरकार की आज्ञा से दण्ड मिल सकता है। सारांश, क़ायदे सरकार-द्वारा लोगों के व्यवहार के लिए प्रवर्तित नियम हैं।

४—इस परिभाषा के देने के बाद यह आवश्यक है कि एक दो शङ्काओं को दूर कर दें। पहली शङ्का यह उत्पन्न होगी कि क्या सरकार-द्वारा प्रवर्तित सब ही नियम क़ायदे कहे जा सकते हैं? सरकारी नियमों और क़ायदों में थोड़ा-बहुत हेर-फेर रोज़ ही देखते हैं, फिर ऊपरी परिभाषा में अतिव्याप्ति का दोष तो नहीं है? यह शङ्का स्पष्टीकरण से मिट सकती है। सरकारी काम-काज चलाने के लिए बहुत से नियम और उपनियम सरकार अथवा सरकारी-विभाग, उपविभाग या कर्मचारी बनाया करते हैं। वे वास्तव में क़ायदे नहीं हैं। जिस संगठन के द्वारा क़ायदे बनाये जाते हैं, उसके द्वारा बहुधा ये नियम नहीं बनाये जाते। बहुधा इन नियमों और उपनियमों को बनाने का अधिकार क़ायदे के द्वारा शासन-विभाग अथवा न्याय-विभाग या उनके कर्मचारियों को दे

दिये जाते हैं। ये ही अपने सुभीते को और आवश्यकता को देखकर क़ायदे के भीतर नियम और उपनियम बना लिया करते हैं। कभी कभी व्यवस्थापक-विभाग भी अपने कार्यों के लिए अथवा दूसरे विभागों के लिए नियम और उपनियम बनाता है। परन्तु क़ायदों को बनाने की पद्धति में और नियमों को बनाने की पद्धति में बहुत भेद रहता है। दोनों के निर्माण की कार्य-पद्धति एक-सी नहीं होती। बहुधा क़ायदों को बनाने की कार्य-पद्धति बड़ी जटिल रहती है और नियमों को बनाने की कार्य-पद्धति सरल। क़ायदों और नियमों में दूसरा भेद यह रहता है कि क़ायदों में परिवर्तन क़ायदे की जटिल और निश्चित कार्य-पद्धति से व्यवस्थापक-विभाग-द्वारा ही होता है। नियमों की बात वैसी नहीं है। नियमों को जो बना सकते हैं, वे उन्हें बदल भी सकते हैं। क्योंकि ये बहुधा सरकारी काम चलाने के नियम रहते हैं। इस कारण भिन्न भिन्न सरकारी विभागों के नियम तोड़ने पर उस विभाग-द्वारा उचित काम न करने के लिए बहुधा आर्थिक दण्ड मिला करता है। पर क़ायदों को तोड़ने पर अदालतों की न्याय-पद्धति से विचार होकर क़ायदों में बतलाया दण्ड मिलता है। इसी भेद में तीसरा बड़े महत्त्व का यह भेद रखा है कि भिन्न भिन्न नियम भिन्न भिन्न विभागों के कर्मचारियों को ही लागू होते हैं, क़ायदे जनसमाज को राज्य की प्रजा के नाते लागू होते हैं। यह भेद महत्त्व का है। सम्भव है कि क़ानून-विभाग को इतना अधिक काम रहे या ऐसी आवश्यकता आ पड़े कि किसी विषय के सर्व-सामान्य तत्त्व बतला कर उस विषय के सविस्तर नियम बनाने का अधिकार अमल-विभाग को वह दे दे। ऐसी अवस्था में अमल-विभाग-द्वारा बनाये नियमों का स्वरूप निर्माण-दृष्टि से क़ायदों से भिन्न रहता है क्योंकि उनको बनाने की कार्य-पद्धति भिन्न रहती है और बनानेवाला भी भिन्न रहता है, तथापि लोगों के नाते ऐसे नियमों और क़ायदों में कोई भेद नहीं रहता। क्योंकि मामूली क़ायदों के समान उन्हें भी पालने को सर्व लोग बाध्य होते हैं।

इन्हें तोड़ने से न्याय-विभाग-द्वारा उसी पद्धति से दण्ड मिलता है जिस प्रकार व्यवस्थापक-विभाग-द्वारा बनाये क़ायदों को तोड़ने पर मिलता है। वास्तव में ऐसे नियम नीम-क़ायदे ही रहते हैं। लोगों के व्यवहार के लिए इन्हें क़ायदे ही मानना उचित है।

तथापि, ऊपर जैसा दिखला चुके हैं, क़ायदों और नियमों में बहुधा ऊपर दिखलाये दो तीन भेद अवश्य रहते हैं और इस कारण सरकार-प्रवर्तित सब ही निमय क़ायदे नहीं कहे जाते। सरकार-द्वारा प्रवर्तित नियमों को क़ायदों का स्वरूप मिलने के लिए बहुधा कुछ मुख्य आवश्यकताएँ रहती हैं। एक तो वे सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए बने रहें, केवल सरकारी कर्मचारियों के लिए न रहें। सरकारी कर्मचारियों के कार्य के लिए भी कभी कभी क़ायदे बनते हैं परन्तु बहुधा यह काम प्रत्येक विभाग पर अलग अलग छोड़ दिया जाता है। दूसरे, उनके अनुसार न्याय अदालतें करें, केवल कोई ख़ास सरकारी विभाग नहीं।

४—दूसरी शङ्का यह हो सकती है कि क्या क़ायदों को बनाने की सरकार की सत्ता अपरिमित है, क्या उसकी भी कोई हद है या सरकार चाहे जो क़ायदा बना सकती है या चाहे जिस क़ायदे को रद कर सकती है?

वास्तव में इस प्रश्न का ठीक उत्तर दुष्प्राप्य है। राज्य-विज्ञान का प्रत्येक लेखक अपनी ही निराली तान निकालता है। इस प्रश्न के उत्तर तीन चार तरह से दिये जा सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में सैकड़ों क्या, हज़ारों पृष्ठ ख़र्च हो चुके हैं। तिस पर भी राज्य-विज्ञान-वेत्ताओं में एकमत कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव जान पड़ता है। और हम भी यहाँ पर दो चार पृष्ठों में एक-दम इसका उत्तर नहीं दे सकते। वास्तव में इस प्रश्न के साथ राज्यैश्वर्य यानी राज्य-प्रभुता का प्रश्न सम्बद्ध है, और राज्य-प्रभुता का प्रश्न राज्य के उद्देशों से और लोगों की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार उपरिलिखित प्रश्न महागहन वाद-विवादों में जाकर फँस जाता है। वहाँ से उसे निकाल कर थोड़े ही लोग स्पष्ट-रीति से पाठकों के सामने रख सके हैं। इसलिए इसका पूरा

उत्तर हम धीरे धीरे ही देंगे। तथापि, यहाँ पर संक्षेप में हम अपने विचार बतला देते हैं।

हमारी समझ में इस कठिन प्रश्न के उत्तर के लिए पहले हमें क़ायदों का स्वरूप और उनकी निर्माण-पद्धति पर दृष्टि देनी चाहिए। हम पहले ही बतला चुके हैं कि सब ही क़ायदे सरकार-द्वारा नहीं बने रहते। उनमें से बहुत से रीति-भाँतियों से बने रहते हैं, रीति-भाँतियों को सरकार अदालतों-द्वारा केवल अपनी शक्ति के ज़ोर पर प्रवर्तित करती है, उन्हें मान कर अमल में लाती है। इस सम्बन्ध में सरकार की सत्ता अपरिमित नहीं है। बहुधा उसे रस्म-रिवाज मानने ही पड़ते हैं। व्यवस्थापक-विभाग-द्वारा सारे आवश्यक क़ायदों का बनाना यदि असम्भव नहीं तो अशक्य अवश्य है। समाज-समाज में रस्म-रिवाज बदलते हैं, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक कभी भी वे एकसमान नहीं रहते। इतना ही नहीं किन्तु कालानुसार भी वे बदलते रहते हैं। इतना कठिन कार्य किसी भी संस्था के द्वारा समुचित रीति से सम्पादित होना क़रीब क़रीब असम्भव है। इस कारण प्रचलित रीतियों और रिवाजों को मानने के लिए सरकार बाध्य रहती है। सारांश, रीतियों या रिवाजों की दृष्टि से सरकार की क़ायदा बनाने की सत्ता अपरिमित नहीं जान पड़ती।

फिर, कुछ क़ायदे मनुष्य की न्याय-बुद्धि पर अवलम्बित रहते हैं। यह सत्य है कि मनुष्य की न्याय-बुद्धि से निकलनेवाले अनुमान सब काल और सब देशों में एक-से नहीं रहते। लोग उन्हें बहुधा 'प्राकृतिक' अथवा 'ईश्वरी' क़ायदों के आधार पर रचा करते हैं। और यह कार्य अपनी अपनी बुद्धि और कल्पना के अनुसार हममें से सब कोई किया करते हैं। इस कारण उन अनुमानों में थोड़ी बहुत भिन्नता देख पड़ना नितान्त सम्भव है। तथापि मनुष्य में बहुत कुछ समानता भी है। मनुष्य के शरीर और मन की रचना बहुत कुछ सम-समान है। इस कारण इन अनुमानों में

थोड़ी बहुत समानता देख पड़ना भी नितान्त सम्भव है। 'प्राकृतिक' अथवा 'ईश्वरी' क़ायदों के आधार पर रचे सब ही अनुमानों को सरकार शायद न माने। तथापि उनमें से जो सम-समान हैं अथवा जो अनुमान उस समाज में नीति अथवा व्यवहार के आदर्श माने जाते हैं, उनको मानने के लिए सरकार बहुधा बाध्य हुआ करती है। जैसा आगे चल कर देखेंगे, इनको तोड़ने से मानों सरकार लोगों को बलवा करने के लिए ही निमन्त्रण देती है। जो सरकार चिरस्थायी होना चाहती है, वह कभी ऐसी मूर्खता न करेगी कि वह सर्वसामान्य नीति के नियम तोड़े। यह सम्भव है कि नीति के प्रचलित नियम और आदर्श नीति के नियम सर्वथा ही मिलते-जुलते न हों, उनमें थोड़ा-बहुत भेद सम्भव हो। आदर्श नीति के अनुसार एक पत्नीव्रत ही उचित नियम है। तथापि किसी किसी दशा में दो स्त्रियाँ करना हम लोगों को बुरा नहीं जँचता। यह भी सम्भव है कि प्रचलित नीति और आदर्श नीति के नियमों में और प्रचलित क़ायदों में भी थोड़ा-बहुत अन्तर हो। यदि किसी स्त्री के साथ उसकी सम्मति से किसी ने व्यभिचार किया तो आज-कल के क़ायदे के अनुसार वह पुरुष दण्डनीय न होगा। तथापि सब प्रचलित नीति तथा आदर्श नीति भी इस कार्य को बुरा ही कहेगी। यह भी सम्भव है कि हमारे सब ही कार्य नीति के भीतर नहीं आ सकते। गाड़ियाँ कहाँ खड़ी की जायँ, कहाँ न की जायँ इत्यादि नियम नीति के नियम नहीं हैं। तथापि नीति के नियमों का क़ायदों पर प्रभाव ही नहीं किन्तु बन्धन होता है। इस प्रकार, जिस समाज के लिए क़ायदे बनाने हैं उनकी नीति की कल्पनाओं से वहाँ की सरकार की क़ायदों के बनाने की सत्ता अवश्य परिमित होती है। बहुपत्नी-व्रत की रीति हिन्दुस्तान में है, और इसलिए हिन्दुओं को बहुपत्नी-व्रत की मनाही नहीं है। धर्म और नीति के नियमों का उल्लङ्घन करनेवाला कोई क़ायदा बने, तो उसे मानने के लिए लोग अपने को शायद बाध्य न समझें। प्रत्युत, वे ऐसा समझें कि ऐसे क़ायदों का तोड़ना हमारा कर्तव्य है। ऐसी अवस्था

उत्पन्न करने के लिए कोई सरकार यह दिखलाने का प्रयत्न न करेगी कि क़ायदों के बनाने के सम्बन्ध में हमारी सत्ता अपरिमित है।

इस सत्ता की जो तीसरी सीमा है वह है ख़ुद सरकार की नीति-विषयक कल्पनायें। यह सम्भव है कि लोगों की और सरकार की नीति-विषयक कल्पनायें बहुत कुछ सम-समान हों। पर यह भी सम्भव है कि वे थोड़ी-बहुत भिन्न भी हों। हिन्दुस्तान के लोगों की नीति और अँगरेज़ों की नीति में थोड़ा-बहुत भेद है। इसका उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। अपनी ही कल्पनाओं का उल्लङ्घन करके कोई सरकार यह दिखलाने का प्रयत्न न करेगी कि वह अपनी ही नीति-विषयक कल्पनाओं को चाहे जब ताक में धर दे सकती है। यह तो अपना घर अपने ही हाथ से गिराने के समान होगा।

सारांश, सरकार की क़ायदों के बनाने की सत्ता अपरिमित नहीं। लोगों के रस्म-रिवाज से और अपनी और लोगों की नीतिविषयक कल्पनाओं से सरकार की यह सत्ता बहुत कुछ मर्यादित है।

६—इस पर कोई यह कहे कि सरकार कोई क़ायदा प्रत्यक्ष बनावे या न बनावे, जिन किन्हीं नियमों को पालन करने के लिए सरकार लोगों को बाध्य करती है, उन सबको वास्तव में सरकार के ही बनाये कहने चाहिए क्योंकि सरकार की सत्ता के बिना उनका पालन नहीं होता। इसका पूरा उत्तर तो आगे चल कर मिलेगा। तथापि सारांश में प्रतिप्रश्न किया जा सकता है कि यदि सरकार चाहे तो क्या इन क़ायदों को बदल दे सकती है? इस पर कोई यह न कहेगा कि सरकार कभी ऐसा कर सकती है। तो फिर ऐसा कहना कि सरकार की क़ायदों के बनाने की सत्ता अपरिमित है, केवल शब्दवाद है, उसमें प्रत्यक्ष सत्यता बहुत कम है।

७—ऊपर क़ायदे की परिभाषा का हमने जो विवेचन किया, उसमें 'अधिकार' यानी 'हक़्क़' और 'बन्धन' का उल्लेख किया था। अब इन शब्दों की कल्पना का भी थोड़ा-बहुत स्पष्टीकरण होना अत्यावश्यक है।

'अधिकार' या 'हक़्क़' और बन्धन से हमारा मतलब बाक़ायदा अधिकार या हक़्क़ और बन्धन है। इन शब्दों की भी परिभाषा स्पष्टतया करना कठिन है। ये दोनों शब्द बहुतांश* में परस्परावलम्बी हैं। 'यह क़लम मेरी है, इसे लेने का किसी को अधिकार नहीं, इस पर केवल मेरा अधिकार है।' इसमें एक ओर मेरा बाक़ायदा अधिकार है, तो दूसरी ओर इसे न लेने के लिए अथवा इसे किसी तरह हानि न पहुँचाने के लिए मुझे छोड़ सारे लोग बाध्य हैं। मेरे बाक़ायदा अधिकार का लोगों के बाक़ायदा बन्धन से सम्बन्ध है। मुझे अधिकार प्राप्त होता है, तो साथ ही लोगों की स्वतन्त्रता नियन्त्रित होती है। इसी कारण कोई कोई कहते हैं कि बाक़ायदा अधिकार या हक़्क़ वह अधिकार या हक़्क़ अथवा स्वाधीनता है जो किसी को राज्य-शक्ति से प्राप्त हो और जिसे मानने के लिए अन्य सब लोग बाध्य हों। यह परिभाषा साधारणतया तो ठीक जान पड़ती है। पर उसमें एक दोष है। उसे मानने के लिए लोग ही बाध्य नहीं किन्तु राज्य की सरकार भी बाध्य है। वह चाहे जब किसी के अधिकारों का उल्लङ्घन नहीं कर सकती। जो काम लोगों के लिए बेक़ायदा होगा, वह सरकार के लिए भी बेक़ायदा होगा। लोग और सरकार के सम्बन्ध का स्वरूप आगे चलकर स्पष्ट होगा। यहाँ हम विशेष कहना नहीं चाहते। तथापि यह तो मानना ही होगा और

*'बहुतांश' का उपयोग करने का कारण यह है कि कुछ क़ायदे बन्धनों को अवश्य उत्पन्न करते हैं, पर अधिकारों को नहीं। उदाहरणार्थ, हम लोग आत्महत्या का प्रयत्न न करने के लिए बाध्य हैं। परन्तु इस बन्धन के कारण किसी को कोई हक़्क़ नहीं मिलता। जब तक ऐसा नहीं मानते कि सारे समाज का हमारे जीवन पर हक़्क़ है, तब तक इस क़ायदे से कोई हक़्क़ नहीं पैदा होता। परन्तु अधिकार की कल्पना में बन्धन अवश्य है। किसी को जब अधिकार मिलता है, तब कोई कुछ बातों के लिए बाध्य अवश्य होता है। हमने अधिकार की जो दो परिभाषायें दी हैं, उन दोनों में यह कल्पना रखी ही है।

सब मानते भी हैं कि लोगों के समान क़ायदे का पालन करने के लिए उन्हीं क़ायदों के रहते तक सरकार भी बहुधा बाध्य रहती है। इसलिए बाक़ायदा हक़ अथवा अधिकार की परिभाषा अधिक विस्तृत करना आवश्यक है। और यह ऐसी होनी चाहिए जो क़ायदे की परिभाषा से, राजकीय यानी बाक़ायदा बन्धनों के कारणों से, और राज्य-प्रभुता के विवेचन से सुसङ्गत हो। इसलिए हम अधिक विवेचन न करते ही उसे बता डालना चाहते हैं। "मनुष्य को व्यक्तिशः बने रहने" के लिए ही नहीं किन्तु वह पूर्णावस्था को प्राप्त कर सके इसके लिए भी जिन जिन भौतिक आवश्यकताओं की ज़रूरत है, उनको बनाये रखनेवाली शक्ति बाक़ायदा अधिकार या हक़्क़ है।" इस परिभाषा में लोगों और सरकार के ऊपर बतलाये बन्धन आ जाते हैं क्योंकि भौतिक आवश्यकताओं को बनाये रखने के लिए लोग ही नहीं किन्तु सरकार भी बाध्य हो जाती है। सरकार भी बाध्य हुए बिना किसी के अधिकार पूर्णतया बाक़ायदा नहीं होते। क़ायदा सबके लिए वही होना चाहिए, यह कल्पना भी इसमें रक्खी है। साथ ही, राज्य के उद्देशों का, हमें क़ायदों का पालन क्यों करना चाहिए इन कारणों का भी, इसमें सभावेश होता है। राज्य-प्रभुता की जो कल्पना हम आगे चल कर देनेवाले हैं, वह भी किसी प्रकार नहीं छूट जाती। कोई कोई लोग क़ायदा और नीति सर्वथा भिन्न करने का प्रयत्न करते हैं, पर कुछ अंश में ये अवि-भाज्य हैं। क़ायदा, राज्य-प्रभुता, बाक़ायदा अधिकार और राजकीय बन्धनों की कल्पना में यदि मनुष्य के उद्देशों का समावेश न हुआ तो समझो कि राज्य-विज्ञान अधूरा ही रह गया, वह लँगड़ा ही बना रहा, उसके चलने की कोई आशा नहीं रखनी चाहिए।

८—अधिकार का सविस्तर विवेचन 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' के साथ होगा। तथापि कुछ बातों का स्पष्टीकरण यहां करना ही चाहिए।

अधिकार की कल्पना में (१) अधिकार-युक्त कोई पुरुष है, (२) कभी कभी कोई वस्तु है कि जिस पर अधिकार होता है, (३) कोई

कर्म* या अकर्म होते हैं कि जिस पर या जिन पर अधिकार-युक्त पुरुष का अधिकार होता है, (४) कोई दूसरा पुरुष और रहता है कि जिसके कर्म या अकर्म पर अधिकार होता है। सारांश, अधिकार की कल्पना में दो पुरुष हो सकते हैं, एक वह है जो अधिकार-युक्त है, दूसरा वह जो अधिकार को पूर्ण करने के लिए बाध्य है। दूसरे दो अंश 'वस्तु' और 'कर्म'* हैं। वस्तु की विस्तृत परिभाषा में कोई-कोई 'अवस्तु' को भी शामिल कर लेते हैं। और 'कर्म' 'अवस्तु' है, इसलिए वह भी इस विस्तृत परिभाषा के अनुसार 'वस्तु' है। इस प्रकार, जिन क़ायदों से अधिकार प्राप्त होते हैं, उनके दो भेद किये जा सकते हैं। (१) मनुष्य-विषयक क़ानून और (२) वस्तु-विषयक क़ानून। इसे विस्तृत रूप में नीचे देते हैं:—
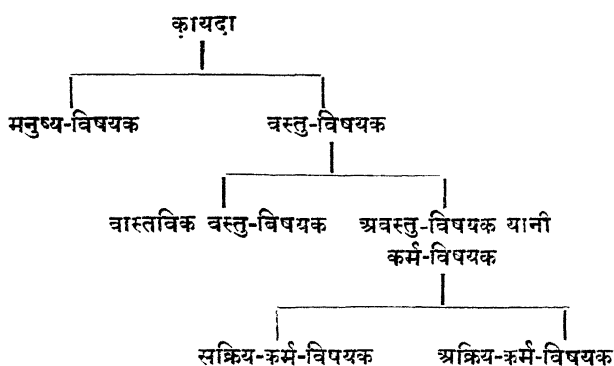
* वास्तव में कर्म की शास्त्रीय परिभाषा में 'अकर्म' कहे जानेवाले कर्म भी शामिल हैं। क्योंकि दोनों में सङ्कल्प-शक्ति का समान ही उपयोग होता है। यदि कोई विष को ओषधि के भ्रम से पीने लगे और हम जानते हुए भी चुपचाप रहें, तो हम प्रत्यक्ष कर्म कुछ नहीं करते। तथापि यह 'अकर्म' यानी क्रियाहीन कर्म अवश्य है।

९—ऊपर जो भेद हमने दिया है, उसका हमारे विषय के लिए विशेष उपयोग है नहीं। क़ायदे के विवेचन के लिए उसकी विशेष आवश्यकता होती है। हमारे विषय के लिए दूसरे दो प्रकार के वर्ग-भेद विशेष उपयोगी हैं।

पहला वर्ग-भेद क़ानून के निर्माण की विधि के अनुसार हो सकता है। उनके चार भेदों का विवेचन ऊपर दे ही चुके हैं। उनमें से पहले तीन भेद 'अलिखित' कहला सकते हैं। (१) रूढ़ियों, रीतियों, रिवाजों, रस्मों, धर्माज्ञाओं का क़ायदा लौकिक क़ायदा (common law) है। (२) दूसरे, न्यायाधीश-कृत क़ायदे का भी विवेचन कर चुके हैं। (३) न्यायमीमांसा के अनुसार जो क़ायदा बनता है, उसे हम विज्ञानोक्त* कहेंगे। (४) व्यवस्थापक-विभाग-द्वारा बने क़ायदे 'लिखित' कहला सकते हैं। परन्तु 'लिखित' क़ायदों को बनानेवाली सत्ता सदा वही नहीं रहती। बहुधा अब सब देशों में इस कार्य के लिए व्यवस्थापक-सभायें होती हैं और उनके द्वारा क़ायदे बना करते हैं। परन्तु इनके अलावे बड़ी भारी आवश्यकता पड़ी तो शासन-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी भी कुछ काल के लिए कुछ क़ायदे बना सकते हैं। तीसरे, कुछ देशों में व्यवस्थापक-सभायें दो तरह की होती हैं। एक वह जिसमें मामूली क़ायदे बना करते हैं। दूसरी वह कि जिसमें राज्य-संगठन के क़ायदे बना करते हैं। इस प्रकार चौथे वर्ग के तीन उपभेद हो सकते हैं।

---

*यहां पर हमने 'शास्त्रोक्त' रूढ़ शब्द का उपयोग नहीं किया क्योंकि रूढ़ि और धर्म के अनुसार जो बात होती है, वह भी शास्त्रोक्त कहलाती है। रूढ़ि और धर्म के बहुत से नियम हिन्दुस्तान में पुस्तकों में लिखे जा चुके हैं। और इन पुस्तकों को लोग बहुधा 'शास्त्र' कहते हैं। जो बातें लिखी नहीं गई हैं, परन्तु पुस्तकों (यानी शास्त्रों) में लिखी हुई बातों से सुसङ्गत हैं, वे भी शास्त्रोक्त कहलाती हैं। सारांश, 'शास्त्रोक्त' शब्द का अर्थ बड़ा अनिश्चित हो चुका है।

(क) मामूली विहित क़ायदा, (ख) हुक्मनामा या हुक्मी क़ायदा और (ग) राज्यसङ्गठनात्मक क़ायदा।

१०—एक दूसरे प्रकार का वर्ग-भेद क़ायदे के सम्बन्ध की दृष्टि से हो सकता है। इसके दो मुख्य भेद हैं। (१) राज्य-विषयक क़ायदा; इसमें राज्य और व्यक्ति के सब प्रकार के सम्बन्धों का विचार रहता है। (२) व्यक्ति-विषयक क़ायदा इसमें व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध का विचार रहता है।

(१) सारे क़ायदों के अनुसार निर्णय और शासन राज्य ही करता है। परन्तु राज्य-विषयक क़ायदे में यह विशेषता है कि राज्य एक 'पक्षकार' भी होता है। इन क़ायदों के तीन उपभेद किये जा सकते हैं। (क) 'सङ्गठनात्मक' क़ायदे में राज्य का सङ्गठन लिखा रहता है। राज्य में कौन कौन से अङ्ग चाहिए, उनका अधिकार क्या होना चाहिए और उनका उपयोग किस रीति से होना चाहिए इत्यादि बातों का स्थूल वर्णन इनमें रहता है। सारांश, राज्य-प्रभुता, सर्वराजकीय सत्ता, उसकी यन्त्र-सामग्री और उसके कार्यों का निश्चय इसी से होता है। (ख) शासन-विषयक क़ायदा दूसरा उपभेद है। इसमें यह विस्तार-पूर्वक लिखा रहता है कि राज्य-सङ्गठनात्मक क़ायदे में दिये स्थूल अधिकारों का उपयोग किस किस रीति से हो। इसमें सरकार के अङ्ग-प्रत्यङ्ग और उनके कार्यों और अधिकारों का विवेचन रहता है। और यह भी बतलाया रहता है कि किसी के अधिकारों का यदि भङ्ग हो तो उसके नुक़सान की पूर्त्ति किस प्रकार हो सकती है। (ग) फ़ौजदारी क़ायदा और फ़ौजदारी तजबीज़। शान्ति और व्यवस्था के लिए यह आवश्यक होता है कि यदि कोई पुरुष राज्य को किसी प्रकार हानि पहुँचावे या लोकहित के लिए उसके बनाये नियमों का किसी प्रकार उल्लङ्घन करे, तो सरकार उसे दण्ड दे। राज्य के अधिकारों पर हस्तक्षेप करने से जिन क़ायदों का उल्लङ्घन होता है और इस उल्लङ्घन के लिए जिन क़ायदों में दण्ड लिखा रहता है, वे फ़ौजदारी क़ायदे हैं। अपराधियों को सरकार

किस रीति से दण्ड दे इस बात के नियम जिन क़ायदों में दिये रहते हैं वह फ़ौजदारी तजबीज़ कहलाती है।

(२) व्यक्ति-विषयक क़ायदों में दोनों पक्ष व्यक्ति ही होते हैं और सब क़ायदों के अनुसार सरकार न्यायाधीश का काम करती है। करार-नामा, जायदाद, इत्यादि विषयों के क़ायदे इस भेद के उदाहरण हैं।

११—कभी कभी और एक तरह के क़ायदे का उल्लेख होता है। राष्ट्रों राष्ट्रों के बीच जिन नियमों का पालन होता है, उन्हें लोग 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदा' कहते हैं। परन्तु क़ायदे की परिभाषा के अनुसार इन्हें 'क़ायदा' नहीं कह सकते। राष्ट्रों राष्ट्रों के बीच जिन नियमों का पालन होता है, उनका पालन करवानेवाली कोई बाक़ायदा सत्ता नहीं होती। और बाक़ायदा सत्ता के बिना 'क़ायदे' की कल्पना नहीं हो सकती। इन नामधारी 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों' के नियम और अधिकार बहुधा करारों के कारण उत्पन्न होते हैं, या वे नीति के नियम रहते हैं। उनको पालना या न पालना प्रत्येक राष्ट्र की इच्छा पर अवलम्बित है—उनका पालन करने के लिए कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को बाक़ायदा मजबूर नहीं कर सकता। इन क़ायदों का अधिक विवेचन आगे एक अध्याय में दिया है।

चौथा परिच्छेद

राजकीय बन्धनों के कारण

१—राजकीय बन्धनों के लक्षण जानने पर राजकीय बन्धनों के, क़ायदों की आज्ञाओं को मानने के, कारणों का विचार करना होगा। राज्य के उद्देशों से राजकीय बन्धनों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए अब देखना चाहिए कि हम राजकीय आज्ञायें मानने के लिए क्यों बाध्य हैं। व्यक्ति पर राज्य के ही बन्धन नहीं होते किन्तु व्यक्ति के भी व्यक्ति पर आपस में बन्धन होते हैं। ये बन्धन हमें क्यों मानने चाहिए? इसी का उत्तर इस परिच्छेद में दिया जावेगा।

२—राज्य सर्वोच्च संस्था है। उसके अस्तित्व से मनुष्य-जीवन के सर्वोच्च उद्देशों की पूर्ति होनी चाहिए। परन्तु मनुष्य-जीवन के उद्देश के विषय में कई मतभेद हैं। कोई तो मानते हैं कि मनुष्य जिस परमावस्था को प्राप्त कर सकता है, वह इसी जगत् में शक्य है। कोई मानते हैं कि नहीं, यहाँ जो परमावस्था प्राप्त हो सकती है, उसके परे भी कोई स्थिति है और उसी को उच्चतम कहना चाहिए। पूर्णावस्था के विषय में ये दो मतभेद अवश्य हैं, तथापि इस जगत् के परे की स्थिति की शक्यता माननेवाले उससे पहले एक ब्राह्मी स्थिति मानते हैं। और इस ब्राह्मी स्थिति में और पाश्चात्यों की ऐहिक पूर्णावस्था की कल्पना में बहुत भेद नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्थान स्थान पर इस स्थिति का वर्णन है। 'जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते और जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता, जो नित्य सन्तुष्ट (रहता है) हर्ष-खेद, भय-विषाद, सुख-दुःख से जो मुक्त (रहता है), जो अपने ही में सन्तुष्ट (रहता है), त्रिगुणों से जिसका अन्तःकरण विचलित नहीं होता,

स्तुति-निन्दा और मानापमान सब जिसे बराबर ही हैं, और सर्व-भूतान्तर्गत आत्मैक्य को पहिचान कर और आसक्ति छोड़कर साम्यबुद्धि से धैर्य और उत्साह के साथ अपने कर्त्तव्य-कर्म करता है,' वही इस अवस्था को पहुँचता है। यह गीता का वर्णन है। पाश्चात्य ग्रंथकारों का वर्णन सुनिए। ज्ञानी पुरुष "शान्त, समबुद्धि अथवा परमेश्वर के समान सदा आनंदमय रहता है और उसके कारण लोगों को और लोगों के कारण उसको कोई क्लेश नहीं होते।"* इसी प्रकार, सदाचार श्रेयस्कर है ऐसा जानकर ही जो सदाचार का बर्ताव रखता है, जिसके सदाचार में कोई ऐहिक अथवा मानसिक सुख की लालसा नहीं रह जाती, उसको मनुष्य की पूर्णावस्था कहना चाहिए †। सारांश, मनुष्य की कम से कम ऐहिक पूर्णावस्था के विषय में पाश्चात्यों में और हममें बहुत मतभेद नहीं है। यह स्थिति कभी पहले सबको प्राप्त हुई थी या नहीं इसके विषय में मतभेद अवश्य है, तथापि दोनों की भावना है कि आगे कभी यह स्थिति अवश्य प्राप्त होगी। 'स्थितप्रज्ञ' होना ही मनुष्य का परम ध्येय है।

२—ऊपर हमने जिस अवस्था का वर्णन किया है, उसे स्थितप्रज्ञता, ब्राह्मी स्थिति, सिद्धावस्था अथवा मनुष्य की पूर्णावस्था कुछ भी कहो, परन्तु एक बात सबमें पाई जाती है। वह यह है कि नीतिमत्ता के परम विकास का स्वरूप इन्हीं में पाया जाता है। जो त्रिगुणातीत, सम-बुद्धि, निष्काम, भय, विषाद के परे, सुख-दुःख से मुक्त, मानापमान और स्तुति-निन्दा की कल्पना से दूर, आत्मसन्तुष्ट और आनंदमय हो गया है, उससे बढ़कर किस ऐहिक स्थिति की कल्पना कर सकते हैं? नीति का परम विकास और कहाँ दीख सकता है? इसी लिए अपने यहाँ ऐसे मनुष्य को नीतिमार्ग का दर्शक माना है। क्योंकि 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' अथवा 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'।

---

* यह एपिक्यूरस नामक ग्रीक तत्त्व-वेत्ता का मत है। † ग्रीन।

और यही कल्पना पाश्चात्यों में भी है। अफलातून का कहना है कि 'तत्त्व-ज्ञानी पुरुष को जो कर्म उचित जान पड़े, वही शुभ और न्याय्य है। मामूली लोग कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय नहीं कर सकते, इसलिए उन्हें उचित है कि वे तत्त्वज्ञानियों के निर्णयों को मानें।' अरस्तू का भी ऐसा ही मत है। और आधुनिक विद्वान् भी यही बात कहते हैं। इसका कारण स्पष्ट ही है। इस समय बुद्धि और वासना दोनों संयमन से शुद्ध हो जाते हैं। बुद्धि का पूर्ण विकास होने पर वासना उसके हाथ में रहती है, वह फिर कलुषित नहीं होने पाती। उस समय सदाचार ही उसे श्रेयस्कर जान पड़ता है। उसका कारण वह नहीं बतला सकता। सदाचार श्रेयस्कर है, इतना ही वह जानता है। आसक्तिरहित बुद्धि होने पर जो आचार अन्तरात्मा को ठीक मालूम होता है, वही सदाचार है। इससे बढ़कर सदाचार का और कोई परिमाण नहीं हो सकता।

४—परन्तु नीति की यह परमावस्था प्राप्त होने के लिए काल चाहिए। उस अवस्था के पहले नीति नहीं रहती ऐसा कोई नहीं मानता। उसके पहले भी नीति थोड़े बहुत अंश में अवश्य रहती है। यदि उससे पहले नीति का अभाव माना जाय तो नीति की परमावस्था की सिद्धि की शक्यता ही नहीं देख पड़ती। एक मील पर पहुँचने के लिए जिस प्रकार गज़ गज़ दो दो गज़ चलना ही होगा, कुछ मार्ग तय करना ही होगा, उसी प्रकार नीति की परमावस्था के पहले भी भिन्न भिन्न श्रेणी की नीतिमत्ता को प्राप्त करना होगा। कार्य करने के लिए, वासना को बुद्धि-द्वारा नियन्त्रित करने के लिए, नीति के अनेक टप्पे मानने ही होंगे। और इसलिए समाज का अस्तित्व मानना आवश्यक है। परमावस्था के समय न वासना का प्रश्न है और न बुद्धि का। ऐसा पुरुष जो कुछ करता है, वह सब शुद्ध वासना से और शुद्ध बुद्धि से। परन्तु साधारण अवस्था में बुद्धि और वासना का महत्त्व बड़ा भारी है। वासना प्रेरणाशक्ति है, वह अनेक कार्य करवाती है और बुद्धि उसे रोकती तथा ठीक मार्ग में ले जाती है। यदि बुद्धि वासना का गुलाम

होकर मनमाने भटकने लग जाय तो दुनिया में बड़ी कठिन समस्या उत्पन्न होगी। अनीति का चारों ओर साम्राज्य हो जावेगा। महायुद्ध से होनेवाली स्थिति से भी यह स्थिति बहुत भयङ्कर होगी। यदि नैतिक नियम छोड़कर हर कोई चाहे जैसा करने लग जावे तो घण्टे भर में ही जगत् का अस्तित्व मिट जावेगा। बुद्धि के नियन्त्रण के बिना सब जगह अनाचार छा जावेगा। कार्य के लिए वासना आवश्यक है क्योंकि (कम से कम मामूली मनुष्यों के) कार्य बिना वासना के नहीं प्रेरित होते। तथापि उनके औचित्य-अनौचित्य का भार बुद्धि पर ही है। हेतु के कारण ही कार्य उचित अथवा अनुचित होते हैं। साधारण लोगों के कार्यों की नीति और किसी प्रकार नहीं जांची जा सकती। यह शक्य है कि कभी कभी किसी के कार्यों के हेतुओं का पता लगाना कठिन हो। और इस कारण कभी कभी हमें केवल कार्य ही अनुचित समझने पड़ते हैं। इसके उदाहरण समाज में सदैव देख पड़ते हैं। अच्छे अच्छे दानियों अथवा त्यागियों के हेतुओं के विषय में मतभेद हुआ करते हैं और लोग हज़ारों कल्पनायें करते रहते हैं। परन्तु आख़िर को दान अथवा त्याग की प्रशंसा करनी ही होगी। इसी प्रकार, जिसकी ख़ासी आमदनी है, वह यदि बहुत ही कंजूसी से रहे तो लोग उसकी निन्दा करेंगे, चाहे उसका भीतरी हेतु कितना भी उच्च क्यों न हो। जिन कार्यों के हेतु जान नहीं सकते या मालूम नहीं, उनका निर्णय लोग इसी प्रकार करते हैं। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए। जब हम हेतुओं का पता नहीं लगा सकते और कार्यों को ही उचित अथवा अनुचित कहते हैं, उस समय उस कार्य के (अज्ञान अथवा साधारणतः अज्ञेय) हेतु का अस्तित्व अवश्य मानते हैं। क्योंकि हेतु के बिना कार्य होते ही नहीं। इसलिए बुद्धि का हेतु यानी बुद्धि को चालन देनेवाली वासना, और वह बुद्धि नैतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की बातें हैं। और बुद्धि से उचित काम लेनेवाली शक्ति समाज है। समाज ही उसको उचित कार्य करने को बाध्य करता है। क्योंकि नीति के बन्धन

में समाज का अस्तित्व रखा ही है। बन्धन की कल्पना में ही बन्धन करनेवाला और बद्ध पुरुष ऐसे दो पुरुषों की कम से कम कल्पना रखी ही है। परमावस्था की बात जाने दो। और यह भी स्मरण रखो कि यह परमावस्था बहुत काल के बाद समाज में रहकर, बन्धनों को पालते पालते ही, प्राप्त होती है। अर्थात् बिचली अवस्था के लिए लोक-संसर्ग से होनेवाले बन्धन अत्यावश्यक हैं। नहीं तो बुद्धि का नियन्त्रण नहीं हो सकता। बन्धन का मुख्य तत्त्व नियन्त्रण ही है। यदि आत्मप्राप्ति, सिद्धावस्था, ब्राह्मी स्थिति, अथवा नैतिक पूर्णावस्था मनुष्य का परम ध्येय है, तो उसके लिए प्रयत्न करना अत्यावश्यक है। यह उद्देश यदि कल्पना में ही बना रहा तो आकाश में बड़े बड़े अनन्त सूर्य रहने पर भी जिस प्रकार उनके प्रकाश से हमें लाभ नहीं होता, उसी प्रकार इस उद्देश से लाभ न होगा। इसके लिए हमें कर्म करने ही चाहिए और वास्तव में मनुष्य क्षण भर भी 'अकर्मकृत्' हो नहीं सकता। इसलिए उद्देश निश्चित करके तदनुसार कार्य करना होगा।

४—अब यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति और समाज के उद्देश जिस प्रकार परस्परावलम्बित हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और समाज की नीति परस्परावलम्बित है। समाज को नीतिमान् कब कहेंगे? जब किसी समाज में राजकीय, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और व्यावहारिक संस्थाओं में और रीतिरिवाजों में न्याय, सुविचारों की परिपोषकता, परस्पर को सहायता करने की बुद्धि, इत्यादि गुण बहुतांश में देख पड़ेंगे, तब ही कहेंगे कि वह समाज नीतिमान् होगया। जब राज्य की कार्रवाई में कुछ भी नियम नहीं देख पड़ते, विवाह-बन्धन नहीं है, शराब आदि का साम्राज्य होगया है, जान-माल का ठीक-ठिकाना नहीं, उस समाज को कोई क्योंकर नीतिमान् कहेगा? सारांश, नियमबद्ध समाज ही नीतिमान् कहलाने के योग्य हो सकता है। व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति और संस्था, संस्था और संस्था के परस्पर पर जो बन्धन

हैं, वेही समाज के नानाविध नियमों के रूपों में देख पड़ते हैं। किसी समाज में जो नियम हैं, वेही उस समाज की नीति के दिग्दर्शक हैं। राज्य ऐसी संस्था है जो व्यक्ति और अपने उपाङ्ग संस्थाओं द्वारा इनमें से बहुत से नियमों का पालन करवाती है और इस तरह वह अपने व्यक्तियों के, उपाङ्ग संस्थाओं के और अन्त में निज के विकास के लिए सहायक होती है। इसी लिए समाज के बिना नीति की कल्पना का अस्तित्व और विकास नहीं हो सकता। राज्य के होने से बन्धन अवश्य पैदा होते हैं, परन्तु इस राज्य-संस्था का अस्तित्व नैतिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना नैतिक विकास की शक्यता नहीं है।

कभी कभी युद्धों में देखते हैं कि लोग ख़ुशी से जान-माल समर्पण करने को तैयार रहते हैं। गत महायुद्ध में मित्रपक्ष के लोगों में, विशेषतः फ़्रांस, इँग्लेंड, सर्विया, बेल्जियम इत्यादि देशों में, जो स्वाभिमान और स्वदेशप्रेम देख पड़े, देश के लिए लोग जो कुछ करने को तैयार थे, उससे यही जान पड़ता है कि राजकीय बन्धन लोगों को आवश्यक है और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए सर्वसमर्पण करने को वे तैयार रहते हैं। ऐसा क्यों? वे दूसरों का राज्यशासन क्यों नहीं चाहते? प्राण भी दे देना क्यों चाहते हैं? इसका एक ही वास्तविक उत्तर है कि नैतिक विकास के लिए वे 'स्वतंत्र' रहना चाहते हैं, वे अपने कार्य अपने ही हेतुओं से प्रेरित होकर करना चाहते हैं, दूसरों के हेतुओं के कारण नहीं। इस 'राजकीय स्वातन्त्र्य' में 'व्यक्तिगत आत्मस्वातन्त्र्य' भी रखा है। राजकीय स्वातन्त्र्य के नष्ट होने से व्यक्तिगत आत्मस्वातन्त्र्य भी नष्ट हो जाता है। आत्मस्वातन्त्र्य के नष्ट होने पर नैतिक विकास की शक्यता नहीं रह जाती। प्रत्युत, नैतिक अधोगति प्रारम्भ हो जाती है। क्योंकि पराधीनता की अवस्था में हमारे कार्यों के हेतु हमारे नहीं रह जाते, वे राज्य चलानेवाली शक्ति के हो जाते हैं। और ऊपर जैसा बतला चुके हैं, नैतिक विकास के लिए राज्य और

व्यक्तियों के उद्देश एक ही होने चाहिए। पराधीनता में ऐसा होना क़रीब क़रीब अशक्य है।

६—इस पर कोई कहे कि नैतिक विकास के लिए यदि स्वातन्त्र्य ही आवश्यक है तो राज्य के अभाव में तो पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, फिर राज्य-रूपी बन्धन पैदा करने की आवश्यकता क्यों? यह प्रश्न करने-वाले को हमारा उत्तर यह है कि स्वातन्त्र्य का अर्थ ही आप न समझे। स्वातन्त्र्य का अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति मनमानी करने लग जाय। जब लोगों की मनमानी चलने लगती है, तब स्वतन्त्रता किसी अंश में भी बच जाती है क्या? जब किसी बात का निश्चय नहीं, जब जान-माल का ही ठीक-ठिकाना नहीं तो कौन से कार्य 'स्वतन्त्रता'-पूर्वक लोग कर सकते हैं? जब रात-दिन डर बना है, तब कार्य भी कौन से शक्य हैं? इस समय यदि किसी बात की स्वतन्त्रता है तो मारने की और मरने की, किसी उद्देश के अनुसार कार्य करने की नहीं। अराजकता में भी कभी कार्य करने की स्वतन्त्रता रह सकती है? अराजकता की अवस्था की कल्पना भी करना कठिन है! ऐसी अवस्था जब कभी आती है, उस समय जगत् का अस्तित्व ही मिटने की सम्भावना देख पड़ती है। उस समय उद्देश-प्रेरित कार्यों का कहाँ पता रहता है? धर्म और नीति, जान और माल, सबके नाश का ही वह समय रहता है। हम नहीं समझते कि ऐसी स्वतन्त्रता की कोई इच्छा करेगा।

मनुष्य-जीवन के उच्च उद्देशों को लक्ष में रखकर समाज की संस्थाओं और व्यक्तियों के आचरण के नियमन के लिए जो नियम बनते हैं, उन्हीं से वास्तविक 'स्वतन्त्रता' पैदा होती है, इसी समय मनुष्य अपने जीवन के उद्देशों के परिपोषक कार्य कर सकता है। मनुष्य का विकास ऐसी ही अवस्था में हो सकता है, अराजकता की अवस्था में नहीं। मनुष्य के जीवन का ही जहाँ ठीक-ठिकाना नहीं, वहाँ नैतिक विकास की बात कौन सोच सकता है? सारांश, राजकीय बन्धनों के बिना हमारे उच्च उद्देश सिद्ध नहीं हो सकते, हमारे उद्देशों की सिद्धि के लिए

राजकीय बन्धन आवश्यक हैं, अपनी ही भलाई के लिए हमें राजकीय बन्धन मानने पड़ते हैं।

७—परन्तु प्रश्न हो सकता है कि इन राजकीय बन्धनों की भी कोई सीमा है? अथवा क्या वे हमें चाहे जिस बात में चाहे जहाँ तक बद्ध कर सकते हैं? राज्य के उद्देश में और ऊपर के विवेचन में ही इसका उत्तर आगया है। बन्धन कार्य को हो सकता है, अकेले हेतु को नहीं, दूसरे, ये बन्धन ऐसे हों कि जिससे अन्तिम हेतु की सिद्धि हो। इन दो तत्त्वों में क़ायदों के तत्त्व और उनकी सीमा दोनों बातें रखी हैं। इसलिए इन दो तत्त्वों का विशेष विवेचन करना होगा।

८—बन्धन कार्यों को हो सकता है अकेले हेतु को नहीं, इसका क्या अर्थ है? हम देखते क्या हैं कि जब न्यायालय में विचार होता है तो केवल कार्यों की ही ओर न्यायाधीश दृष्टि नहीं देता, क़ायदे में केवल प्रत्यक्ष कार्य दण्डनीय नहीं होते। यह शक्य है कि किसी के शरीर अथवा जायदाद को मैं नुक़सान पहुँचा जाऊँ, परन्तु क़ायदे में केवल इस नुक़सानी की ओर, मेरे प्रत्यक्ष कार्य की ही ओर, दृष्टि नहीं दी जाती। क़ायदे में इस बात का भी विचार रहता है कि इस नुक़सान के पहुँचाने में मेरा उद्देश था या नहीं, यदि प्रत्यक्ष उद्देश नहीं था तो मैं इस बात को पहले से सोच विचार सकता था या नहीं, इस नुक़सान की आशङ्का पहले से मुझे हो सकती थी या नहीं, नुक़सानी का यह कार्य किसी दूसरे कार्य के करते समय तो नहीं हुआ जो नीति की दृष्टि से बराबर उचित कार्य था, इसमें किसी प्रकार की असावधानी तो नहीं हुई, इत्यादि। इन अनेक आनुषंगिक बातों की ओर भी न्याय की दृष्टि रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि कार्य को छोड़कर मेरे मन की कोई बात दण्डनीय हो सकती है। यह स्पष्ट ही है कि मेरे मन के भाव दण्डनीय नहीं हो सकते। दण्डनीय होंगे तो कार्य ही। जब तक मैं कुछ ऐसा कार्य न करूँ कि मेरे मन के भावों का कुछ प्रत्यक्ष स्वरूप किसी प्रकार दीखने लग जावे तब तक मैं दण्डनीय नहीं समझा जा

सकता। जब तक मेरे विचारों को कोई व्यक्त स्वरूप न मिले, तब तक यह नहीं समझ सकते कि मैंने कोई कार्य किया, फिर मेरे मन में हज़ारों बुरे विचार क्यों न भरे हों। किसी को मार डालने का विचार मेरे मन में भले ही बना रहे, परन्तु जब तक मैं उसकी कुछ तैयारी नहीं करता या अपने शब्दों से स्पष्ट नहीं बतला देता कि मैं ऐसा ऐसा करूँगा तब तक क़ायदे के चङ्गुल में मैं नहीं फँस सकता।

कभी कभी हम लोग कहा करते हैं कि यह कार्य मैंने अपने मन के विरुद्ध किया। इसका यदि यह मतलब किया जाय कि मैंने बिना हेतु के ही यह कार्य किया तो इसमें कुछ भी सत्य नहीं है, बहुधा बिना हेतु के कार्य होते ही नहीं। यदि सिर घूम गया हो या हम निद्रा में हों तो बात अलग है। ऊपर के वाक्य का एक अर्थ यह हो सकता है कि मेरे हाथ से जो कार्य हुआ उसमें वास्तव में दूसरे की शक्ति थी, मेरी नहीं—उस दूसरे पुरुष ने किसी ज़ोर के सहारे मेरे शरीर द्वारा वह कार्य करवाया। इस अवस्था में कार्य तो हुआ, पर वह मेरा कार्य नहीं है, उसके लिए मैं जवाबदार नहीं। यदि कोई शक्तिमान् पुरुष मेरा हाथ धर कर बंदूक़ का घोड़ा चलवा दे और उससे कोई मर जाय तो मैं किस प्रकार जवाबदार हो सकता हूँ। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि मेरे शरीर के स्वाभाविक गति के कारण कुछ कार्य घटित हो जावें जिन पर मेरा कुछ भी बस न चल सके। निद्रा का उदाहरण ऊपर बतलाया ही है। निद्रा में करवटें बदलते या हाथ या पैर फटकारते समय यदि कोई पास बैठा हो या कोई वस्तु पास रखी हो और उसे मेरे इस समय के कार्यों से नुक़सान पहुँच जाय तो मैं क्योंकर जवाबदार हो सकता हूँ। चलते चलते मैं किसी पत्थर पर ठोकर खाकर गिर पड़ा, सामने एक पुरुष चलता था, उस पर मैं इस कारण जा गिरा, और उसे चोट पहुँच गई तो उसमें मेरा क्या वश है? तीसरा अर्थ यह हो सकता है कि किसी अत्यन्त बलवान् प्रभाव के कारण मैंने यह कार्य किया, परन्तु उसे करने में मेरी वास्तविक इच्छा न थी। परन्तु ऐसे

समय में बहुधा यह कार्य मेरा ही ठहराया जावेगा। क्योंकि यह कार्य करने में मेरी मंशा अवश्य थी, चाहे वह किसी कारण से क्यों न उत्पन्न हुई हो और मेरी आन्तरिक इच्छा के विरुद्ध क्यों न हो। यदि मैं जानबूझ कर कुछ करता ही नहीं तो वह कार्य घटित होता ही नहीं। मन के सङ्कल्प के बिना, मानसिक प्रेरणा-शक्ति के सिवा, ऐसे कार्य हो ही नहीं सकते। इसी लिए यह कार्य मेरा है। यह सम्भव है कि उसकी परिस्थिति पर, जिस बलवान् कारण ने मुझे ऐसा करने को बाध्य किया उस पर, ध्यान दिया जावेगा और अवश्य दिया जावेगा, तथापि कार्य की ज़िम्मेदारी मैं किसी पर सर्वथा नहीं झोंक दे सकता। वह बहुतांश में मुझ पर है। अत्यन्त बलवान् मानसिक अथवा शारीरिक विकारों के अधीन होकर किये हुए कार्य इसी तरह के होते हैं। एक उदाहरण समाज में हमेशा देखने में आता है। भय दिखाकर कई बार अच्छे लोगों से भी अनुचित कार्य करवा लिये जाते हैं। सारांश, कार्य में हेतु का विचार रखा रहता है। उसके बिना मैं दण्डनीय नहीं हो सकता। परन्तु अकेले हेतु भी दण्डनीय नहीं हो सकते। मेरे हेतुओं को कोई दृष्ट स्वरूप अवश्य मिलना चाहिए। जब मेरे हेतुओं को कोई ऐसा स्वरूप मिल जावे कि मुझसे नुक़सान होने की सम्भावना स्पष्ट हो तब ही अधिकारी मेरे कार्यों को रोकने का अथवा मुझे दण्ड देने का अधिकार दिखला सकते हैं, अन्यथा नहीं। हेतु तो होना ही चाहिए, पर उनका कुछ न कुछ दृष्ट स्वरूप भी दिखलाई पड़ना चाहिए। तब ही क़ायदा मुझ पर लागू हो सकेगा।

इसमें एक बात का खुलासा करना होगा। तात्त्विक दृष्टि से 'अकार्य' भी कार्य ही होते हैं। जो कार्य मुझे करने चाहिए, उन्हें यदि मैं जान-बूझकर न करूँ, तो उन्हें न करने का मेरा हेतु या असावधानी या विस्मरण स्पष्ट है। यदि न करने का हेतु है, तो मेरा अपराध स्पष्ट ही है। मुझे जो कार्य करना उचित था, पर जिसे मैंने जानबूझ कर न किया उसके लिए मुझे छोड़ और कौन ज़िम्मेदार है? असावधानी

की तो मैंने ही, दूसरे ने नहीं। मुझ पर ज़िम्मेदारी थी कि मैं सावधानी रखता। या यदि करने को भूल गया तो मैं ही, दूसरा नहीं। मुझे उचित था कि मैं स्मरण रखता। ये सब 'अकृत कार्य' हैं। मनोविज्ञान की भी दृष्टि से जानबूझ कर न करने के कार्य मेरे ही कार्य हैं। किसी कार्य को करना जितने अंश में मन का कार्य होता है, उतने ही अंश में किसी कार्य को न करने का संकल्प करना मन का ही कार्य होता है। कई बार हम लोग दूसरों को अनुचित अथवा हानिकर कार्य करते देख कर भी चुपचाप रह जाते हैं अथवा स्थान से चल देते हैं। चुपचाप रहने की अथवा चल देने की क्रिया जानबूझ कर या सङ्कल्प-सहित की जाती है। असावधानी या भूल मनोविज्ञान की दृष्टि से 'अकृत कार्य' नहीं होते क्योंकि उनके लिए मन का किसी प्रकार का सङ्कल्प नहीं हुआ। तथापि उस असावधानी या भूल की नैतिक जवाबदारी मुझ पर ही है। यदि यह नैतिक जवाबदारी मुझ पर न डाली जाय तो मैं ऐसी असावधानी या भूल बार बार करने लग जाऊँ, सावधानी या स्मरण न रखने का कार्य मुझसे बार बार होने लग जावे। इस नैतिक जवाबदारी को मुझे ग्रहण करना ही होगा। सारांश, अपनी नैतिक जवाबदारी पूरी करने के लिए भी क़ायदा मुझे बाध्य कर सकता है। परन्तु यह बात स्पष्ट दीख पड़े कि मैं अपनी नैतिक जवाबदारी नहीं निबाहना चाहता हूँ। जिस समय कोई पुरुष अपनी नैतिक जवाबदारी पूरी नहीं करना चाहता और क़ायदा उसे ऐसा करने को बाध्य करता है, उस समय नैतिक जवाबदारी के उच्च हेतुओं को वह हमारे मन में भर नहीं सकता। वह हमसे कार्य ही करवा ले सकता है, हमने यदि कार्य पूरा किया तो फिर वह नहीं देखता कि हमने उच्च हेतु से किया या नीच हेतु से, क़ायदे की ज़बरदस्ती के कारण किया अथवा नैतिक विचार से प्रेरित होकर। कार्य कर चुकने पर बाक़ायदा जवाबदारी हमने पूरी कर डाली। डाक्टर जब चीरफाड़ करते हैं तो यह आवश्यक है कि वे सब उचित ख़बरदारी कर लें ताकि रोगी

को आवश्यकता से अधिक कष्ट न हो, या उसकी जान को धोखा न हो। यह कार्य वह दया या सहानुभूति से प्रेरित होकर करता है या केवल क़ायदे की ज़बरदस्ती के कारण, यह बात अलग है। क़ायदा डाक्टर के मन में दया या सहानुभूति नहीं पैदा कर सकता। वह उसे केवल उचित कार्य करने को बाध्य कर सकता है। उच्च हेतु से कार्य करवाना क़ायदे की शक्ति के बाहर है। और इसका कारण स्पष्ट ही है। जिस प्रकार केवल मन के बुरे हेतु के लिए हम दण्डनीय नहीं हो सकते, उसी प्रकार यदि हमने उचित कार्य किया है तो उसके आन्तरिक हेतु के लिए भी वह हमें जवाबदार नहीं कर सकता। केवल हेतु उसकी पहुँच के परे हैं।

६—परन्तु प्रश्न हो सकता है कि क्या हमारे सारे सहेतुक प्रत्यक्ष कार्य दण्डनीय हो सकते हैं? क्या हम ऐसे कार्यों के लिए बाक़ायदा जवाबदार हो सकते हैं? इसके लिए दो बातों का विचार करना होगा। एक तो सारांश में यह देखना होगा कि इन बाक़ायदा जवाबदारियों को पूर्ण करवा लेने के साधन कौन से हैं। दूसरे उनसे हमारे अन्तिम उद्देश यानी नैतिक विकास के लिए कहाँ तक सहायता पहुँचती है, उनसे हमारे उद्देश के सिद्ध होने की कहाँ तक सम्भावना है।

क़ायदे की जवाबदारी पूर्ण करवा लेने के साधन बहुधा ये हैं:— (१) दण्ड का डर या किसी प्रकार के लाभ का लोभ दिखला कर कार्य करवा लेना या कोई विशिष्ट कार्य करने से रोकना, चाहे इस उद्देश्य की (यानी कार्य करवा लेने की या उसे रोकने की) सिद्धि हीनतम हेतु से क्यों न हो। बाक़ायदा कार्य अथवा अकार्य पूर्ण हुआ तो कर्ता के हेतु की ओर क़ायदा दृष्टि नहीं दे सकता। पर कार्य जान-बूझ कर किये हों। इसका उदाहरण ऊपर अभी बतला चुके हैं। (२) किसी प्रकार की ज़बरदस्ती करना, जैसे (क) अपने बन्धनों को तोड़ने की ओर जिनकी प्रवृत्ति हो, उन्हें ऐसा करने से रोकना; या (ख) जो अपनी जवाबदारी

पूर्ण न करता हो, उसकी शक्ति या जायदाद का उस कार्य के लिए ज़बरदस्ती उपयोग कर लेना। उदाहरण, पत्नी को यदि पति छोड़ दे तो उसकी परवरिश का बन्दोबस्त कर देना, या क़र्ज़दार की जायदाद को कुड़क करके साहूकार का द्रव्य दे देना, इत्यादि।

१०—अब देखेंगे कि इन साधनों का नैतिक विकास के लिए कहाँ तक उपयोग हो सकता है। दण्ड महत्त्व का साधन है। दण्ड के डर से मनुष्य बुरी प्रवृत्ति की ओर अधिक नहीं झुकता, उसे अपने को उनसे बार बार जान बूझ कर परावृत्त करना पड़ता है। यदि कोई किसी के शरीर अथवा जायदाद को नुक़सान पहुँचावे अथवा किसी के उचित कार्यों को उसे न करने दे, अथवा अनुचित कार्य करने के लिए किसी को बाध्य करे तो क़ायदा उसे ऐसा करने से रोकने की कोशिश करता है। इस प्रकार मनुष्य को बुरी प्रवृत्तियों से बचाने का प्रयत्न क़ायदा करता है। लाभ का लोभ दिखला कर क़ायदा मनुष्य से उचित कार्य करवाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में यह आशा रखी है कि बार बार उचित कार्य करने से उचित प्रवृत्ति ही पैदा हो जावेगी। क्योंकि प्रवृति का पैदा होना ही नैतिक विकास की प्रथम सीढ़ी है। ज़बरदस्ती से कार्य करवा लेने में उचित प्रवृत्ति की आशा है ही, पर दूसरों के उचित कार्यों के होने की सम्भावना भी रखी है। अपने नैतिक कार्यों से अपने ही नैतिक कार्य पूर्ण नहीं होते, अपना ही नैतिक विकास नहीं होता, तो दूसरों के भी नैतिक कार्य उनके पूर्ण होने से हो सकते हैं और इस कारण दूसरों का भी नैतिक विकास हमारे कार्यों पर अवलम्बित है। मान लो ज़बरदस्ती से करवा लेने में हमारा उद्देश्य पूर्ण सिद्ध नहीं हुआ तो इतना अवश्य होगा कि दूसरों के नैतिक कार्य हमसे ज़बरदस्ती से कराये कार्यों से हो सकेंगे। बिना उचित कारण के यदि पत्नी पति के पास न रहना चाहे तो क़ायदा उसे पति से दूर होने की परवानगी न देगा और पति के पास रहने को बाध्य करेगा। क़ायदा पति-पत्नी के बीच प्रेम पैदा नहीं कर सकता, इस कारण इस ज़बरदस्ती का उद्देश्य पूरा

पूरा सिद्ध नहीं हो सकता, तथापि वह पति को कुमार्गगामी होने से बचा सकता है। और यही बात ज़बरदस्ती से किसी की जायदाद अथवा शक्ति का उपयोग करने से होती है। पति यदि पत्नी को न रखना चाहे और वह स्त्री यदि नीतिहीन न हो तो उस पुरुष के जायदाद अथवा आमदनी से उस स्त्री के निर्वाह के लिए उचित हिस्सा क़ायदा दिलवा सकता है। और इस प्रकार क़ायदा उस स्त्री को नीतियुक्त बने रहने में सहायता देता है। अन्यथा खाने-पीने की तङ्गी के कारण उस स्त्री का अनीति-मार्ग में चले जाना सम्भव है। सारांश, क़ायदे से जिन लाभों की आशा की जाती है वे ये हैं कि मनुष्य उनके कारण बुरे कार्यों से परावृत्त हो, या अच्छे कार्यों की ओर प्रवृत्त हो या परस्परावलम्बित नैतिक कार्य या जवाबदारियों की पूर्ति हो सके। इस प्रत्यक्ष नैतिक हेतु के अलावे क़ायदे में कभी कभी अनुकरण का तत्त्व रखा रहता है। अनुकरण से केवल बौद्धिक और शारीरिक हानि या लाभ नहीं होते, उससे नैतिक हानि या लाभ भी होते हैं। इसका भी क़ायदे को विचार रखना ही पड़ता है। इस प्रकार क़ायदा यह चाहता है कि मनुष्य में आवश्यक नैतिक प्रवृत्ति पैदा हो। क़ायदे के इस अन्तिम उद्देश्य से ही (और यह ऊपर बतला ही चुके हैं) उसके क्षेत्रविस्तार का, बाक़ायदा बन्धनों की सीमा का, पता लग सकता है। जिन बन्धनों से इस उद्देश की पूर्ति नहीं होती, उन बन्धनों को रख कर लाभ ही क्या ? क़ायदे के बन्धन ऐसे चाहिए कि उनसे मनुष्य के इष्ट उद्देश की सिद्धि हो सके। इसलिए वही कार्य या अकार्य विधेय अथवा निषिद्ध किये जायँ जिनसे इस उच्च नैतिक उद्देश की सिद्धि की सम्भावना हो। यूरोप में कुछ काल पहले राजा या बादशाह या किसी विशिष्ट पक्ष के लोग अपने धार्मिक मत और तन्त्र जैसे दूसरों पर लादते थे, उसी प्रकार कुछ कुछ हाल कभी कभी हिन्दुस्तान में भी हुआ। नीति की दृष्टि से यह ठीक नहीं। युद्ध के बाद स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बहुत बढ़ जाती है। दोनों की संख्या में समानता नहीं रह जाती। ऐसे समय में एक पत्नी-व्रत के नियम से

नीतिहीनता ही बढ़ने का डर है। नैतिक दृष्टि से बहुपत्नी-व्रत अच्छा नहीं। पर स्त्रियों के कुमार्गगामिनी होने का डर जब कभी पैदा हो जावे तब बहुपत्नी-व्रत कुछ काल के लिए उचित समझा जा सकता है। बन्धन-हीनता की अपेक्षा बन्धनों को थोड़ा-बहुत शिथिल करना अधिक ठीक है। उदाहरण के लिए इसी प्रकार अनेकों नियम बतलाये जा सकते हैं कि जिनसे नैतिक जीवन अथवा नैतिक गुणों के विकास की सम्भावना कभी कभी कम हो सकती है, जो नैतिक गुणों के अङ्कुर को मूल में ही कभी कभी नष्ट कर देते हैं।

११—इसका कोई कोई यह अर्थ करते हैं कि उन क़ायदों से मनुष्य की स्वतन्त्रता रुकती थी, इसलिए उनका रहना अनुचित है। परन्तु इस तरह के वाद में कोई अर्थ नहीं है। प्रत्येक राज्य में यह एक बात अवश्य देख पड़ती है कि लोगों को यदि किसी प्रकार की 'स्वतन्त्रता' मिल रही है, तो उनकी किसी प्रकार की 'स्वतन्त्रता' हरण की जा रही है। क्योंकि सरकार बहुत से कार्य अपने सिर पर लेने लग गई है और कुछ कार्य लोगों के सिर पर भी लादने लगी है। इस कारण स्वतन्त्रता का क्षेत्र देशकालानुसार सदा बदलता रहता है। इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि स्वतन्त्रता के झगड़े में कुछ अर्थ है या नहीं? यदि स्वतन्त्रता का झगड़ा केवल इस कल्पना में ही रखा रहे तो हमें स्पष्टतया कहना होगा कि इसमें कुछ भी अर्थ नहीं। हम ऊपर एक स्थान पर दिखला ही चुके हैं कि लोग जिस स्वतन्त्रता को चाहते हैं, वह स्वतन्त्रता सामाजिक और राजकीय बन्धनों ही से पैदा होती है। बन्धनहीनता की स्वतन्त्रता किसी को प्रिय न होगी। क्योंकि उस समय नैतिक कार्यों के लिए जो स्वतन्त्रता चाहिए, वह रहती ही नहीं। परन्तु एक अर्थ में स्वतन्त्रता का झगड़ा उचित है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए जो स्वतन्त्रता चाहिए, उसके लिए शोर मचाना अत्यन्त आवश्यक है। यदि सामाजिक और राजकीय बन्धनों से इन बन्धनों के रहने का मूल उद्देश—नैतिक विकास--सिद्ध होने के पलटे

सिद्ध ही नहीं हो सके तो उन बन्धनों को दशों दिशाओं में फेंक देना ही उचित है, उसके लिए जितना घनघोर कोलाहल मचाया जाय, उतना कम ही है। झगड़ा स्वतन्त्रता के लिए नहीं रहता, तो नैतिक विकास की स्वतन्त्रता के लिए रहता है। सामाजिक और राजकीय स्वतन्त्रता या बन्धन का विचार इसी दृष्टि से होना चाहिए। यदि स्वतन्त्रता के लिए ही झगड़ा करना हो तो राज्य और समाज दोनों के सुधार के बहुत से क़ायदे न बन सकेंगे। फिर लोगों को जबरदस्ती की शिक्षा क्यों दी जाय ? फिर कारख़ानों के लिए क़ायदे क्यों बनाये जायँ ? फिर व्यभिचार को रोकनेवाले क़ायदों की आवश्यकता क्या ? इसी प्रकार क़ायदों के ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलेंगे कि जिनसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट होती है, पर समाज की भलाई के लिए जिनका रहना अत्यन्त आवश्यक है। स्वतन्त्रता चाहिए नैतिक विकास के लिए, नैतिक कार्यों की सम्भावना के लिए। यदि कोई राज्य लोगों के लिए भले भले भी कार्य करे और उनसे लोगों के नैतिक कार्यों का क्षेत्र सङ्कुचित हो जाय, तो राज्य के वे कार्य अनुचित ही कहलावेंगे। लोगों को यदि नैतिक कार्य करने के अवसर नहीं प्राप्त हुए, यदि वे कार्य राज्य ही करने लग जाय, तो क़ायदों का उद्देश्य सिद्ध न होगा। नीतिमत्ता का विकास होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि लोग निज पर कुछ कर्तव्य लाद लें और उन्हें निबाहें। यदि पिता लड़के के सब ही कार्य करने लग जाय तो बच्चे का बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक विकास रुक जावेगा। और बड़ा होने पर वह किसी काम का न रह जावेगा। यही बात राज्य और उसकी जनता को लागू होती है।

१२—कभी कभी 'प्राकृतिक नियम' या 'ईश्वरी क़ायदे' के नाम से पुकार मचा करती है। वास्तव में इस चिल्लाहट में ऊपर लिखे तत्त्व ही सम्मिलित हैं। इन बन्धनों का यदि कुछ अर्थ है, तो वह इतना ही कि राजकीय और सामाजिक बन्धनों का और स्वतन्त्रता का ऐसा समतौल रहे कि नैतिक विकास के लिए मनुष्य अनजाने ही जो प्रयत्न करता रहता है,

उसमें किसी प्रकार रुकावट न हो। मनुष्य सदा ऊँचा ऊँचा जाने का प्रयत्न करता है। उसके मार्ग चाहे जितने विविध हों, क्षणिक या तात्कालिक उद्देश चाहे जैसे भिन्न हों, पर उसके मन में एक अन्तिम उद्देश अवश्य रहता है। शायद हममें से बहुतेरे उसके अस्तित्व का ज्ञान नहीं रखते। जब सारे जीवन की आलोचना करें तब ही वह धुँधला धुँधला दीखने लगता है। उसको स्पष्ट देखने के लिए आलोचना और अनुभव अथवा ज्ञान की आवश्यकता होती है। तथापि वह है अवश्य। कुछ काल तक मानव-जीवन के उद्देशों की समालोचना करने से यह सिद्धान्त मानना ही पड़ेगा। इसी उद्देश की सिद्धि के लिए हमारे बहुत से प्रयत्न हैं। हां, सम्भव है, वे प्रयत्न बिना सोचे-समझे हों, अनुचित हों, परस्परविरुद्ध हों, स्वयं उद्देश को नष्ट करनेवाले हो। सारांश 'प्राकृतिक नियम' या 'ईश्वरी क़ायदा' और प्रत्यक्ष सामाजिक या राजकीय वन्धनों का हेतु एक ही है। जब कभी प्रत्यक्ष सामाजिक या राजकीय बन्धनों का मेल उद्देश से नहीं बैठता, जब उद्देश के विरुद्ध क़ायदे बनने लगते हैं, तब हम लोग उनके विरुद्ध 'प्राकृतिक नियम', या 'ईश्वरी क़ायदे' के नाम से कोलाहल मचाया करते हैं। इसी लिए, मानव-जीवन के उद्देश की सिद्धि के लिए, जो जो बातें आवश्यक हैं, चाहे वह राजकीय, सामाजिक या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हो या भौतिक पदार्थ हों, उन पर हम अधिकार दिखलाने लगते हैं और फिर हम अपने अनेक 'प्राकृतिक' या 'ईश्वरदत्त' अधिकार रच डालते हैं। प्रत्यक्ष राजकीय, या सामाजिक या व्यक्तिगत अधिकारों से जब इस अन्तिम उद्देश का मेल नहीं बैठता तब इस उद्देश के लिए खटपट करनेवाला 'प्राकृतिक' या 'ईश्वरदत्त' अधिकारों के नाम से शोर मचाने लगता है। प्राकृतिक अधिकार और कहीं से उत्पन्न नहीं होते—मनुष्य में जो स्वाभाविक अंतिम उद्देश रखे हैं, उनकी पूर्ति की आवश्यकता से ही वे पैदा होते हैं। 'प्राकृतिक' या 'ईश्वरदत्त' अधिकारों का इतना ही अर्थ है। इसी को हम तुम अनेक रीति से समाज में कहा करते हैं।

१३—परन्तु यह नहीं कह सकते कि मानव-समाज में इन दो तरह के (यानी बाक़ायदा और प्राकृतिक या 'ईश्वरदत्त') अधिकारों का मेल सब जगह बैठता ही है। ऊपर जैसा बतला चुके हैं, देशकालानुसार स्वतन्त्रता की कल्पना बदलती रहती है। इस कारण 'प्राकृतिक अधिकारों' का झगड़ा किसी न किसी बात के लिए कहीं न कहीं बना ही रहेगा। इस झगड़े का यह अर्थ है कि मनुष्य अपनी उन्नति के लिए सदा प्रयत्न करता रहता है। प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना आवश्यकतानुसार बदलती रहेगी और इस कारण राजकीय और सामाजिक क़ायदे कौन होने चाहिए कौन न होने चाहिए, इसके विषय में झगड़ा बना रहना स्वाभाविक है। अन्तिम् उद्देश के चारों ओर ये बातें सदा चक्कर लगाती ही रहेंगी। जिस समय जिन अधिकारों के रहने से इस उद्देश की पूर्ति की सम्भावना देख पड़ेगी, उस समय वे अधिकार प्राकृतिक देख पड़ेंगे। इससे यह परिणाम निकलता है कि वास्तव में अधिकार 'प्राकृतिक' नहीं होते, वे किसी के जन्म के साथ पैदा नहीं होते। मनुष्य को अपने विकास के लिए कुछ भौतिक बातें आवश्यक हैं। इसलिए उन पर उसका 'प्राकृतिक' अधिकार है। प्राकृतिक अधिकार का इतना ही अर्थ हो सकता है। सारांश, बाक़ायदा और प्राकृतिक अधिकारों के मूल में मानव-उद्देश की वही अन्तिम बात रखी है।

१४—ऊपर के विवेचन से यह तात्पर्य निकलता है कि अधिकार का दूसरा स्वरूप कर्तव्य है। जो अधिकार हैं, वे किसी कार्य के लिए ही हैं, अर्थात् उनके कारण हम पर कर्तव्य भी लादे जाते हैं। हमें अधिकार मिलने से दूसरों पर बन्धन लादे जाते ही हैं और ये बन्धन तब तक चले रहेंगे जब तक वह ख़ुद कुछ बन्धन माने यानी कुछ कर्तव्य अपने ऊपर लाद ले। परन्तु कर्तव्यों पर अप्रत्यक्ष दृष्टि देने की आवश्यकता नहीं। अधिकारों का कर्तव्यों से प्रत्यक्ष संयोग है। यदि समाज किसी को कुछ अधिकार दे, तो उसका भी उस व्यक्ति पर कुछ बात के

लिए अधिकार है। उससे वह कुछ कार्यों की आशा कर सकता है। इस प्रकार, समाज और व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य परस्परावलम्बित हैं। और उनका सम्बन्ध मानव-जीवन के अन्तिम नैतिक उद्देश से है। समाज यदि उसे अपने विकास का अवसर दे तो उसका भी कर्तव्य है कि वह दूसरों के विकास में किसी प्रकार की बाधा न करे, प्रत्युत सहायक हो। सारांश, जहां अधिकार होते हैं वहां कर्तव्य भी बहुधा हुआ करते हैं।

१५—यहाँ पर हम उपयोगितावाद के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते। उसकी छान-बीन करने बैठें तो उसके मूलाधार तत्त्वों का सिर या पैर कुछ भी न मिलेगा। सुख की परिभाषा ही करना कठिन है। फिर उसका माप मिलना और भी कठिन है। और उपयोगितावाद तो सुख-दुःख की नींव पर रचा है। जब उसकी नींव का ही ठीकठिकाना नहीं, तब उसकी युक्तियों के पचड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? यह संभव है कि अल्पकालिक उद्देशों को यह वाद लागू हो सके, पर सुनिश्चित उद्देश के लिए उपयोगितावाद की नींव अत्यन्त कमज़ोर है। सुख मनुष्य का अन्तिम उद्देश नहीं हो सकता। क्षण काल के लिए नैतिक उद्देश और सुखमूलक उद्देश में भले ही मेल देख पड़े, पर सुख की प्राप्ति और नैतिक उन्नति सदा एक नहीं हो सकती।

१६—सारांश, हम जो राजकीय बन्धन मानते हैं उसमें एक मुख्य अन्तिम उद्देश है। वह है नैतिक आत्मोन्नति। सब मनुष्य, प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष, जाने अनजाने, इसी के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। इसके बिना और कोई अन्तिम उद्देश नहीं हो सकता। इस उद्देश की पूर्ति समाज के बिना नहीं हो सकती। वास्तव में समाज के बिना नीति की कल्पना ही सिद्ध नहीं होती। नीति और समाज की कल्पना में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए नैतिक आत्मोन्नति यदि कहीं शक्य है तो वह समाज में ही। और उसके लिए अनेक बन्धन पालने होंगे। ये बंधन ही बहुधा क़ायदों के रूपों में दृष्ट रूप पाते हैं। इन बन्धनों से ही

नैतिक कार्यों की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इन बन्धनों से ही अधिकार और कर्तव्य उत्पन्न होते हैं। जो एक के लिए अधिकार हैं, वेही दूसरों के बन्धन हैं—एक के अधिकार से दूसरों की स्वतन्त्रता बद्ध हो जाती है। बहुधा इसी का दूसरा स्वरूप कर्तव्य है। लोगों के द्वारा जब किसी को अधिकार प्रदान किये जाते हैं, तब वे अपनी निजी स्वतन्त्रता को उस अधिकार के विषय में परिमित कर लेते हैं, उनका कर्तव्य हो जाता है कि वे उस अधिकार पर हस्तक्षेप न करें। इसलिए अधिकार और कर्तव्यों का पालन बहुधा परस्परावलम्बित होता है। और कर्तव्यों का पालन हुए बिना अन्तिम उद्देश की सिद्धि का प्रयत्न नहीं हो सकता। इसलिए हमें अपने कर्तव्यों का पालन करना उचित है, यानी राजकीय बन्धनों को मानना आवश्यक है। परन्तु यह शक्य है कि किसी किसी समाज में बाक़ायदा प्रचलित बन्धन नैतिक दृष्टि से अनुचित हों, वे मनुष्य के उद्देश की सिद्धि के मार्ग में रुकावटें डालते हों, ऐसे समय उनको न मानना ही कर्तव्य है। 'प्राकृतिक नियम' या 'ईश्वरी क़ायदे' का यही अर्थ है कि बन्धन ऐसे हों कि उनसे मनुष्य का 'प्राकृतिक' अथवा 'ईश्वरी' उद्देश सिद्ध हो। इसीलिए यथासम्भव प्रचलित क़ायदे 'प्राकृतिक नियम' अथवा 'ईश्वरी' क़ायदे से मिलते-जुलते हों, वे परस्परविरुद्ध न हों। क्योंकि ऐसे बन्धनों से बन्धनों के मुख्य उद्देश ही की विफलता होती है। प्राकृतिक अधिकार का भी यही मतलब है। इसलिए बाक़ायदा अधिकार और प्राकृतिक अधिकार में नैतिक दृष्टि से अन्तर मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जिसे नैतिक अधिकार मिल सकते हैं, उसे बाक़ायदा अधिकार मिलना ही चाहिए। और जो कोई अपनी उन्नति करने योग्य है, उसे नैतिक अधिकार प्राप्त होता है। इन अधिकारों को 'बाक़ायदा' कहो या 'प्राकृतिक' कहो, अर्थ वही है और इन अधिकारों का स्थान है समाज। समाज के बिना अधिकार की कल्पना नहीं हो सकती।

पाँचवाँ परिच्छेद

राज्यैश्वर्य* अथवा राज्य-प्रभुता

१—क़ायदे के स्वरूप की मीमांसा करते समय दो तीन महा कठिन प्रश्न उठे थे। और उनका हमने कामचलाऊ उत्तर दे दिया था। पर उन प्रश्नों पर सविस्तर विचार करना आवश्यक है। क्योंकि उन प्रश्नों के निर्णयों से राज्य के स्वरूप का बड़ा भारी सम्बन्ध है।

'राज्य' के लक्षण बतलाते हुए हमने कहा था कि "यह कुछ लोगों का संगठित समाज रहता है, वे सब यथासम्भव एक ही नियमों से नियन्त्रित होते हैं, इन नियमों को अमल में लाने के लिए वही अधिकारी-मण्डल रहता है, वे सब किसी विशिष्ट भूमिभाग में रहते हैं जहाँ वे ही नियम लागू होते हैं और इन्हीं अधिकारियों का अधिकार चलता है।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि किसी राज्य की यह भूमि, लोग, सरकार और क़ायदे बाक़ी सब मानवी सत्ता की पहुँच के परे हैं—यह भूमि, ये लोग, यहाँ की सरकार और यहाँ के क़ायदे किसी दूसरी मानवी सत्ता के अधीन नहीं। एक राज्य की भूमि, लोग, सरकार और क़ायदों पर किसी दूसरे राज्य का कुछ भी अधिकार नहीं होता। प्रत्येक राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र होना चाहिए, नहीं तो उसे 'राज्य' नहीं कह सकते।

---

*अँगरेज़ी में इस शब्द के लिए (sovereignty) का उपयोग होता है। धात्वर्थ की दृष्टि से (sovereignty) का अर्थ राज्यैश्वर्य होता है। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र में ऐश्वर्य शब्द आया है। 'एकैश्वर्य'' का अर्थ अनियन्त्रित राजकीय सत्ता यानी अनियन्त्रित राज्यैश्वय है। इसका श्री० शामशास्त्री ने Absolute Sovereigulty शब्दों से अनुवाद किया है।

क्योंकि राज्य चाहे जब उन्हें उलट पुलट सकता है और चाहे जब साफ़ कर दे सकता है।"

"जब कभी ऐसी मर्यादा वह ख़ुद पर लाद लेता है, तो उन्हें बदलने के लिए बाक़ायदा रीति का ही अवलम्बन करना चाहिए। परन्तु ऐसा कोई क़ायदा नहीं कि जिसे वह बदल न सके।......सारांश, 'प्रत्येक राज्य में एक ऐसा संगठित अधिकारी मण्डल रहता है जिसके अधीन वहां की सब बातें क़ायदे के अनुसार रखी रहती हैं। लोकहित के विचार से यह अधिकारी मण्डल चाहे जब उन बातों में फेर-बदल कर सकता है।"*

३—वास्तव में यह विचार-मालिका आस्टिन नामक अँगरेज़ी ग्रन्थकार के एक सूत्रमय वाक्य का स्पष्टीकरण है। "यदि किसी समाज के लोग किसी निश्चित मानवी सत्ता की आज्ञाओं का पालन करने को बाध्य हों और यह मानवी सत्ता किसी दूसरी मानवी सत्ता की आज्ञा मानने को बाध्य न हो, तो इस मानवी सत्ता को सर्वश्रेष्ठ राजकीय सत्ता (यानी राज्येश्वर या राज्यप्रभु) कहते हैं।" इस परिभाषा के अनुसार 'राज्येश्वर की आज्ञा को क़ायदा कहना चाहिए।'

इस सूत्र में कुछ सत्य और कुछ असत्य दोनों हैं। राज्य का स्वरूप समझने के लिए इसका यथेष्ट विवेचन करना होगा।

इसमें तीन मुख्य सिद्धान्त हैं।—

(१) राज्येश्वर की आज्ञा ही क़ायदा है।

(२) प्रत्येक राज्य में एक राज्येश्वर होता है कि जिसकी सत्ता वहाँ के सब लोग मानने को बाध्य होते हैं और जो सत्ता किसी भी दृष्टि से अनियन्त्रित होती है।

---

* यह सारांश हमने गेटेल नामक ग्रन्थकार की "राज्य-विज्ञान-प्रवेशिका" पृष्ठ ६४-६५ से दिया है। इस मत के जितने ग्रन्थकार हैं, उनकी भी विचार-मालिका इसी प्रकार की होती है। उदाहरणार्थ, लीकोक का ग्रन्थ देखिए-पृष्ठ ५२-५६।

(३) इस अनियन्त्रित सत्ता के विभाग नहीं किये जा सकते। राज्येश्वर्य का लक्षण अनियन्त्रितत्व तो है ही, पर एकत्व—अविभाज्यता—भी है।

इन तीनों सिद्धान्तों का हम क्रमशः विचार करेंगे।

४—क़ायदे का स्वरूप बतलाते समय हमने यह दिखलाया था कि क़ानून बनानेवाली सत्ता के द्वारा सब ही क़ायदे नहीं बनाये जाते। बहुत से क़ानून तो रिवाज-रस्मों पर अवलम्बित रहते हैं। अदालतें उन्हें मानने को बहुधा बाध्य रहती हैं। न तो अदालतें अपनी मनमानी चला सकती हैं और न क़ानून-विभाग ऐसा करने को उन्हें आज्ञा दे सकता है। राज्य में स्थिरता बनी रहने के लिए रिवाज-रस्मों को माने सिवा कोई उपाय नहीं। दूसरे, बहुत से क़ायदे न्याय-बुद्धि के अनुसार और धर्म की आज्ञाओं के अनुसार बने रहते हैं। कुछ क़ायदे क़ानून की भी मीमांसा पर अवलम्बित रहते हैं। कुछ न्यायाधीश के न्यायदान से बन जाते हैं। क़ानून-विभाग-द्वारा क़ानून का निर्माण केवल एक मार्ग है। क़ानून की उत्पत्ति के दूसरे अनेक मार्ग अभी फिर से गिना चुके हैं। जब यह स्पष्ट दीख रहा है कि सब क़ानून राज्येश्वर की, उसके क़ानून-विभाग की, आज्ञायें नहीं हैं, तब क़ानून को राज्येश्वर की आज्ञा कहना केवल अत्युक्ति है। इस पर इस सिद्धान्त के प्रतिपादक यह उत्तर दिया करते हैं कि जिन नियमों को राज्यसत्ता मानती है, उन्हें वह बनाती ही है ऐसा समझना चाहिए—नियमों को मानना, उन्हें अदालतों द्वारा प्रवर्तित करना, बनाने के ही बराबर है। परन्तु इस पर, हमने जो पहले प्रतिप्रश्न किया था, वह फिर से कर सकते हैं कि 'क्या राज्य-सत्ता चाहे तो इन नियमों को नहीं मानने में समर्थ हो सकती है?' इसका स्पष्ट उत्तर मिलेगा कि 'नहीं—ऐसा कभी नहीं हो सकता।' बहुत सी रीतियों को आजकल क़ानून-सभा में क़ानून के मसविदे में स्थान मिलने लग गया है। तथापि, जैसा पहले कह चुके हैं, सब रीति-रस्मों को क़ानून-विभाग-द्वारा

बने क़ानून का स्वरूप देना क़रीब क़रीब अशक्य है। सरकार को उन्हें चुपचाप मानना ही होगा। अदालत के न्यायाधीशों के बनाये नियमों को यदि शब्दों की खींचतान कर यह मान भी लें कि वे राज्य-सत्ता की आज्ञा से ही बने हैं, तो रिवाज-रस्मों को, धर्म की आज्ञाओं को, क़ानून की मीमांसा में स्पष्ट किये नियमों को, न्याय-बुद्धि के अनुसार किये निर्णयों को 'राज्य की आज्ञा' कहना अलङ्कारिक दृष्टि से भी ठीक नहीं। और यदि प्राचीन राज्यों का विचार किया जाय तो 'राज्य की आज्ञा' वाला क़ायदों के विषय का सिद्धान्त और भी झूठा हो जाता है। पृथ्वी पर क़ानून-विभाग का कार्य अभी अभी बढ़ा है। अभी अभी समझने लगे हैं कि क़ानून-सभा में मसविदे पेश कर या और किसी रीति से लोगों पर विदित कर क़ायदे बनाने का काम भी राज्य का ही है। पहले, यह न था। उस समय भी राज्य थे; उनमें शान्तता रहती थी, सब काम-काज ठीक चलता था, अपने समय के अनुसार उनमें से कई एकों ने ख़ूब उन्नति भी की थी। पर क़ानून 'निर्माण' न होता था, वह जाना जाता था, लोगों और अदालतों को उसे जानना पड़ता था। वह पहले से बना रहता था, उसे कोई बनाता न था। राज्य के अङ्गों द्वारा उसके अनुसार निर्णय और अमल होता था। उन राज्यों के स्वप्न में भी न था कि रिवाज-रस्मों के अनुसार निर्णय और अमल करना यानी प्रजा के व्यवहार के लिए आज्ञारूप क़ायदे बनाना ही है। उस समय रीति-रस्मों का और क़ानून के पण्डितों के मतों का तथा न्याय-बुद्धि का वैसा ही मान होता था, वे वैसे ही सर्वमान्य समझे जाते थे, जैसे कि आज गणित के सिद्धान्तों को लोग मानते हैं। उस समय यदि कोई ज़ालिम राजा प्रचलित नियमों को, रूढ़ि और व्यवहार को, ताक में रखने का प्रयत्न करता तो लोग कहते थे कि अमुक राजा ज़ालिम है, वह क़ायदा तोड़ना चाहता है। क़ायदे के बन्धनों से लोग ही नहीं तो राजा भी बँधा रहता था। जब कभी राजा क़ायदे के बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न करता तो उसके विरुद्ध चिल्लाहट

मच जाती थी। धर्म-बन्धनों में तो वह हाथ लगा ही न सकता था। इस वस्तु-स्थिति में ऐसा कहना कि 'क़ायदा यानी राज्यसत्ता की, राज्येश्वर की, राज्यप्रभु की, आज्ञा है' अत्युक्ति से कहीं बढ़कर है।

इस पर प्रतिपक्षी यह कहा करते हैं कि क़ायदे की यह परिभाषा उन्हीं राज्यों को लागू होती है, जो नियमबद्ध (orderly) हैं। इन लेखकों ने यह स्पष्ट कर दिया होता कि 'नियमबद्धता' किसे कहते हैं, तो अच्छा होता। 'नियमबद्धता' के नाम की ओट छिपने से कोई लाभ नहीं होता। जिन राज्यों में शान्ति है, अमल, न्याय आदि सरकारी काम ठीक चले हैं, लोग अपने अपने व्यवहारों को सुख और शान्ति-पूर्वक कर रहे हैं, उन राज्यों को नियमबद्ध न कहें तो किनको कहें? यह सम्भव है कि राज्यों के स्वरूप में, उनके संगठन में, उनके अङ्गों में, परस्पर बहुत भिन्नता बनी रहे। आज भी इन बातों में सब राज्य समान नहीं हैं। परन्तु इसी कारण उस समय के राज्य नियमबद्ध कहलाने के अयोग्य नहीं समझे जा सकते। उस कसौटी के अनुसार आज-कल के भी राज्य नियमबद्ध नहीं कहला सकेंगे। परन्तु ये लोग इन्हें "नियमबद्ध' अवश्य कहा करते हैं। फिर नियमबद्धता का क्या अर्थ है? नियमबद्धता का यह अर्थ तो नहीं कि क़ानून-निर्माण के लिए एक अलग नियमित क़ानून-विभाग हो? आज यह ज़रूर सब राज्यों में देख पड़ता है कि राज्य के तीन अङ्गों में क़ानून-विभाग भी महत्त्वपूर्ण अंग है और उसकी श्रेष्ठता, जैसा आगे चल कर देखेंगे, दूसरे दो अंगों पर बहुत कुछ प्रस्थापित भी है। परन्तु क़ानून-निर्माण की अन्य रीतियों को न भूलना चाहिए। रीति-भाँति, धर्म, न्यायबुद्धि, अदालत, न्याय-मीमांसा इत्यादि क़ानून-निर्माण के अन्य मार्ग अब भी प्रचलित हैं। दूसरे, क़ानून-विभाग का विकास धीरे धीरे ही हुआ है। पहले क़ानून-विभाग न थे, इसलिए उन्हें राज्य न कहने की धृष्टता यदि कोई करे तो यही कहना होगा कि पकड़ में आने पर बच जाने का यह उपाय ही है कि 'तुम लाख कहो, हम तुम्हारा एक न मानेंगे'। उस समय के राज्यों

में राज्यों के सब लक्षण होने पर भी उन्हें राज्य न कहना यानी किसी प्रकार बचाव का उपाय ढूँढ़ना है। सारांश, 'नियमबद्धता' की चिल्लाहट में ज़ोर बहुत कम है। हां, जब किसी राज्य में ऐसा बलवा हो कि राज्य-शक्ति का ठीकठिकाना न रहे, तब बात अलग है। परन्तु हम यहां ऐसे राज्यों का, यानी 'अराजक दशा' का, विचार नहीं कर रहे हैं। तात्पर्य यह निकलता है कि क़ायदा सदा-सर्वदा केवल राज्यसत्ता की आज्ञा नहीं है। क़ायदे में और दूसरे नियम भी सम्मिलित हैं जो राज्य की आज्ञायें नहीं हैं।

५—इसी से स्पष्ट है कि राज्यसत्ता क़ायदे की दृष्टि से अनियन्त्रित नहीं। और यह हम पहले ही लिख चुके हैं। यह स्पष्ट है कि क़ायदों के बनाने में उसकी सत्ता नियन्त्रित है। राज्य का क़ानून-विभाग चाहे जिस नियम को क़ायदे का स्वरूप नहीं दे सकता और चाहे जिस 'क़ायदे' को रद्द नहीं कर सकता। इस पर कुछ लोग उत्तर देते हैं कि क़ानून-निर्माण की राजकीय शक्ति का विवेचन करते समय केवल क़ानून विभाग का नहीं तो अन्य राज्याङ्गों का भी विचार करना चाहिए, उसके साथ, (१) अदालतें, (२) अमल विभाग, (३) क़ानून बनानेवाली यदि और कोई सभा या समिति हो तो वह, और (४) जब कभी निर्वाचक सङ्घ की राय क़ानून के लिए आवश्यक हो तब निर्वाचक सङ्घ भो, संमिलित होने चाहिए। क़ानून बनाने की दृष्टि से इन सबका विचार करें तो राज्य की इस विषय की सत्ता बड़ी सी अवश्य जान पड़ती है। साथ ही, राज्यों के एकत्व का विचार भी पैदा होता है। मामूली क़ानून और राज्य-संगठन के क़ानून के द्वैतभाव का दोष भी इसमें नहीं है। इस दृष्टि से राज्यसत्ता बहुत विशाल अवश्य जान पड़ती है और वह एकत्रित और अनियन्त्रित हुई सी दीखती है। परन्तु क़ानून बनाने की शक्ति इन्हीं राज्याङ्गों में समाप्त नहीं होती। जैसा ऊपर कई-बार कह चुके हैं, इनके अलावे भी कोई शक्ति है। और वह है जन-समाज। जन-समाज का भी इनके साथ यदि सम्मिलन कर

लिया जाय तो सारा प्रश्न हल हो जाता है। पर वे ऐसा करना नहीं चाहते।

६—अनियन्त्रित राजकीय सत्ता को ढूँढ़ते ढूँढ़ते कोई कोई उस योजना पर आ विराजते हैं कि जिसके द्वारा राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन हो सकता है। इनका कहना है कि जो राज्याङ्ग राज्य के सङ्गठन में परिवर्तन कर सकता है, वही राज्य की सर्वश्रेष्ठ सत्ता, राजकीय ऐश्वर्य, राज्यप्रभुता, देख पड़ती है। क्योंकि इसके द्वारा राज्य के भिन्न भिन्न अङ्गों की रचना होती है, उनके अधिकार निश्चित होते हैं, और नागरिकों का अपने राज्य से क्या सम्बन्ध होना चाहिए यह भी इसी के द्वारा ठहराया जाता है। इसलिए ये सब अङ्ग राज्यसङ्गठन को निश्चित करनेवाले अङ्ग से हीन दर्जे के हैं। इस सत्ता से राज्य में और कोई बड़ी सत्ता नहीं है। और इस कारण इस सत्ता में ही राजैश्वर्य स्थापित होता है। इँग्लैंड की पार्लिमेंट (यानी राजा और पार्लिमेंट) मामूली क़ायदे ही नहीं बना सकती किन्तु राज्य-संगठन के चाहे जिस क़ायदे को बदल सकती है या चाहे जो क़ायदा बना सकती है। इसलिए इँग्लैंड में राज्य-प्रभुता इसी के हाथ में है। प्रत्येक अधिकारी को इँग्लैंड में पार्लिमेंट के बनाये प्रत्येक क़ायदे को मानना ही पड़ता है। फ्रांस में यह सत्ता सिनेट और प्रतिनिधिक सभा की संयुक्त-सभा के हाथ में है। इन दोनों की संयुक्त सभा में राज्य-सङ्गठन का चाहे जो क़ायदा बन सकता है। अमरीकन संयुक्त-राज्य में इसके लिए बड़ी टेढ़ी रीति है। "काङ्ग्रेस * के दोनों भवनों के दो तृतीयांश लोग आवश्यक समझें तो राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने की सूचना काङ्ग्रेस कर सकती है, या उपराज्यों की क़ानून-सभाओं में से दो तृतीयांश यदि इस बात की प्रार्थना करें तो

---

* अमरीका की व्यवस्थापक-सभा को काङ्ग्रेस कहते हैं। उसके दो भाग या भवन हैं, एक सिनेट और दूसरा हाउस ऑव् रेप्रेज़ेंटेटिव्ज़। इसका अधिक वर्णन दूसरे भाग में आवेगा।

राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने की सूचना करने के लिए उनकी समिति का अधिवेशन काङ्ग्रेस करा सकती है। और यदि ये सूचनायें तीन चतुर्थांश उपराज्यों की व्यवस्थापक-सभा में स्वीकृत हों या उनकी समिति में तीन चतुर्थांश मत से स्वीकृत हों, तो वे सूचनायें इस राज्य के संगठन का बाक़ायदा भाग बन जावेंगी। परन्तु कांग्रेस को अधिकार है कि अनुमोदन करने की इन दो रीतियों में से किसी भी रीति का अवलम्बन वह करे।

इसी प्रकार प्रत्येक राज्य में राज्यसङ्गठन के परिवर्तन के लिए किसी न किसी प्रकार की संस्था की योजना आज-कल अवश्य होती है। राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन कर सकनेवाली इस संस्था को राज्य-प्रभु, राज्य का ईश्वर, राज्य की सर्वश्रेष्ठ सत्ता, कहना चाहिए।

इस मत में बहुत कुछ सत्यता है। राज्य-संगठन में परिवर्तन करने का अधिकार जिस व्यक्ति-समूह को है वह अवश्य बहुत भारी सत्ता है। क़ायदे का बड़ा भारी अधिकार उसी के हाथ में है। इस कारण उसकी श्रेष्ठता तर्कसंगत देख पड़ती है और बहुत लोग ऐसी सत्ता को सर्वश्रेष्ठ मानते भी हैं। तथापि इस सिद्धान्त पर भी कुछ कम आक्षेप नहीं हो सकते। एक इँग्लेंड की पार्लिमेंट को छोड़ दें तो प्रत्येक देश में राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने की रीति मामूली क़ायदे बनाने की रीति से कठिनतर है। जिस संस्था के हाथ में यह भारी अधिकार है, उसका अस्तित्व कभी कभी ही दीख पड़ता है। 'राज्य की सर्वश्रेष्ठ सत्ता मामूली समय में सोई रहती है' ऐसा कहना आलङ्कारिक दृष्टि से ठीक है और ऐसा वाक्य किसी काव्य में शोभा दे सकता है, परन्तु राज्य-विज्ञान में उसका उपयोग नहीं हो सकता। रात-दिन राज्यसत्ता का उपयोग हो रहा है, लोगों के व्यवहार और कार्य नियन्त्रित हो रहे हैं। ऐसे समय में यह कहना कि राज्य की सर्वश्रेष्ठ सत्ता सोई है केवल सत्यापलाप है। चौबीस घंटे राज्य का काम जिस सत्ता के द्वारा चला है उसमें राज्य-प्रभुता का कुछ भी भाग नहीं, पर जो कभी क्वचित् देख पड़े, उसके विषय में यह कहना कि वही अनियन्त्रित

और पूरी राज्यसत्ता है, नितान्त अनुचित देख पड़ता है। अमरीकन संयुक्त-राज्य के राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने की रीति पर ध्यान देने से यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है। इस कार्य के लिए एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं तो चार रीतियां हैं। ऊपर बतलाई योजना का पृथक्करण करने से यह स्पष्ट हो जावेगा।

काङ्ग्रेस के दोनों भवनों के दो तृतीयांश सदस्यों की	उपराज्यों की व्यवस्थापक सभाओं में से दो तृतीयांश की प्रार्थना पर काङ्ग्रेस के द्वारा बुलाई उन उपराज्यों की समिति की
सूचना	सूचना
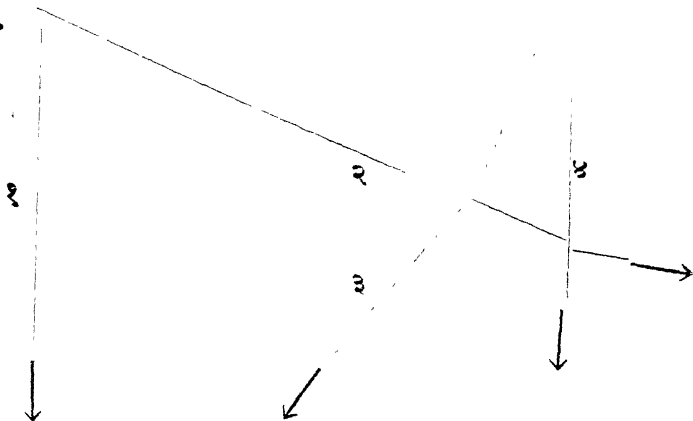
उपराज्यों की व्यवस्थापक सभाओं में से तीन चतुर्थांश के द्वारा अनुमोदन।	उपराज्यों की व्यवस्थापक सभाओं की समिति के तीन चतुर्थांश सदस्यों द्वारा अनुमोदन।

नोट—काङ्ग्रेस को अधिकार है कि अनुमोदन की इन दो रीतियों में से किसी भी रीति का अवलम्बन करे।

यदि राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने का अधिकार रखनेवाली संस्था को सर्वश्रेष्ठ कहें तो इन चारों में से कौन सर्वश्रेष्ठ है? चारों तो हो ही नहीं सकतीं, होगी तो एक। फिर वह एक कौन है? फिर, यह भी स्मरण रहे कि इन विचित्र संस्थाओं का अस्तित्व काङ्ग्रेस की मर्ज़ी पर अवलम्बित है। तो क्या काङ्ग्रेस सर्वश्रेष्ठ है? ऐसा कहने से अभी तक जिस सिद्धान्त का इस अनुच्छेद में प्रतिपादन किया, वह एक-दम उलट जाता है! राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने का अधिकार रखनेवाली संस्था के बदले मामूली क़ानून बनानेवाली और मामूली रोज़ का शासन चलानेवाली सत्ता श्रेष्ठतर! फिर, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने का अधिकार रखनेवाली सत्ता का जीवन-निर्माण रोज़ की मामूली सत्ता के अधीन है। और जब तक वह रहती है, तब तक वह अपने विशिष्ट बाक़ायदा अधिकार का ही उपयोग करती है और विशिष्ट बाक़ायदा रीति से काम कर सकती है। परिवर्तन का काम हो चुकने पर फिर भी वह जहाँ की तहाँ! फिर वह ढूँढ़ने से न मिलेगी!

अमरीकन संयुक्त-राज्य का उदाहरण लेकर यदि ऐसा कहो कि यहाँ राज्य-प्रभुता के दो हिस्से हो गये हैं, राज्य-प्रभुता उपराज्य और संयुक्त सरकार में बँट गई है, तो आस्टिन के सिद्धान्त का फिर पता कहाँ? उसका तो सिद्धान्त है कि राज्य-प्रभुता अनियन्त्रित और अविभाज्य है। यदि यह मानें कि उपराज्य और संयुक्त सरकार में राज्य-सत्ता विभाजित है, तो आस्टिन का क़रीब क़रीब पूरा सिद्धान्त उलट जाता है। इसलिए उसके पक्ष के लोग ऐसा मानने को तैयार न रहेंगे।

परन्तु अमरीकन संयुक्त-राज्य में यह राज्य-प्रभुता केवल लुकने-छिपने का खेल खेलती देख पड़ती है। राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन

करनेवाला क़ायदा बाक़ायदा .क़ायदा है या नहीं, इस बात का निर्णय उस .क़ायदे को बनाने वाली संस्था के हाथ में या हमेशा की व्यवस्थापक-सभा, काङ्ग्रेस, के हाथ में नहीं है, बरन न्याय-विभाग के हाथ में है। यदि उस .क़ायदे से सम्बन्ध रखनेवाला मुक़द्दमा न्यायालय में पेश हुआ और न्यायाधीशों ने निर्णय दिया कि वह .क़ायदा जायज़ नहीं हो सकता है, इसलिए इस मामले में वह लागू नहीं हो सकता तो हो गया! सारा प्रयत्न वृथा गया! यही बात उपराज्यों की .क़ानून-सभाओं के बनाये और काङ्ग्रेस के बनाये कानूनों को लागू हो सकती है। ऐसी दशा में यह न्याय-विभाग ही सर्वोच्च देख पड़ता है। लो, राज्य की सर्व-श्रेष्ठता तीनों को छोड़ कर चौथे के पास चली गई!

७—इतनी गड़बड़ी में पड़ने की अपेक्षा रूसो जैसे विचारक कहते हैं कि राज्य-प्रभुता केवल जनता में स्थापित है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। राज्य के जितने कुछ अङ्ग हैं, वे इसी राज्य-प्रभुता, जनता, के सेवक हैं। ये उसी सत्ता के द्वारा नियुक्त हुए हैं, इस कारण वह अपनी सत्ता चाहे जब वापस ले सकती है। मुनीम भी कभी मालिक हो सकता है? ऐसा ही .क़रीब .क़रीब रूसो का प्रश्न है। उसने तो यह सिद्धान्त किसी काल्पनिक करारनामे पर निश्चित किया है। उसने कहा है कि प्रारम्भ में कोई राज्य न था। लोगों में बड़ी अशान्ति और गड़बड़ी मची थी। इस कारण लोगों ने आपस में करार किया कि अपनी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को त्याग कर उसे सब लोग अपने सबमें सन्निविष्ट कर दें। इससे राजकीय समाज पैदा हुआ। इस समाज ने अपना काम चलाने के लिए कुछ लोग नियत किये। इसी का नाम सरकार है। इस सिद्धान्त को उसने अपने काल की स्थिति को लागू करके यह दिखलाना चाहा कि प्रचलित सरकार चाहे जब बदली जा सकती है, क्योंकि वह जनता के मुनीम का काम करती है। एक मुनीम को दूर कर दूसरे मुनीम को नियत करना लोगों के हाथ में है।

राज्य के निर्माण की यह कल्पना केवल कल्पना है, सत्य नहीं। इतिहास में कहीं नहीं देख पड़ता कि इस रीति से कहीं लोगों ने राज्य-निर्माण किया है। इस कहने को अब कोई नहीं मानता। परन्तु उसका सार यह है कि अनियन्त्रित और अविभाज्य राज्य-प्रभुता यदि कहीं है, तो वह है राज्य की जनता में। सरकार इस राज्य-प्रभु की आज्ञा माननेवाला मुनीम है। राज्य-प्रभुता की यह कल्पना बहुत लोगों को पसन्द हुई है। इस कल्पना ने तो अठारहवीं सदी में फ्रांस और अमरीका के इतिहास को ही उलट पुलट दिया। उसका प्रभाव सारे योरप पर पड़ा, और अब भी संसार पर पड़ रहा है। और यह भी मानना पड़ेगा कि राज्य-प्रभुता की इस कल्पना में बहुत कुछ सत्यांश भी है। राज्य-प्रभुता की नींव अन्त में शारीरिक बल की नींव पर होती है। बलवान् सत्ता की ही आज्ञा बहुधा मानी जाती है। और लोकशक्ति सबसे बलवती होती है। इसलिए, जनता में राज्य-प्रभुता स्थापित है। यदि राज्य के बहुसंख्यक लोग सरकारी आज्ञा का पालन करने को नामंज़ूर करें, तो सरकारी आज्ञा नहीं चल सकती। इसलिए इस सिद्धान्त ने लोगों को जादू के मन्त्र के समान मोह डाला है। परन्तु इसका अधिक विवेचन करने से यह तर्कना भी थोड़ी बहुत भ्रमपूर्ण देख पड़ती है। यदि सरकार और लोगों में युद्ध ही ठन जावे तो क्या कोई विश्वास के साथ कह सकता है कि लोग ही जीत जावेंगे? क्या एक सैनिक दस मामूली आदमियों को नहीं दबाता? क्या नवीन शस्त्रास्त्रों के सामने शारीरिक बल टिक सकता है? क्या विद्या और बुद्धि का प्रभाव कुछ भी नहीं? क्या बालक और स्त्रियाँ भी युद्ध में भाग ले सकती हैं? क्या सङ्गठन भी कोई शक्ति होती है? सारांश, केवल भौतिक बल पर राज्य-प्रभुता के सिद्धान्त की रचना करना निरर्थक है।

हाँ, राज्य-शासन पर लोक-शक्ति का भारी प्रभाव ज़रूर पड़ता है। क्योंकि लोगों को अपने विरुद्ध खड़े करने का उपाय कोई राज्यशासक

नहीं करना चाहता। लोक-रीतियां भी बलवती होती हैं, क्योंकि अदालतों को उन्हें मानना ही पड़ता है। आज-कल लोकशक्ति को भरपूर मान भी दिया जाता है। प्रातिनिधिक राज्यतन्त्र की पद्धति आज-कल बहुत से देशों में प्रचलित है। कहीं कहीं, किसी किसी मौके पर क़ायदे के लिए निर्वाचकसङ्घ की भी सम्मति ली जाती है। बहुधा, लोकमत का झुकाव देखकर शासन का काम सब देशों में चलने लगा है। इस प्रकार, लोकसत्ता अवश्य बढ़ने लगी है, लोग और सरकार में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो रहा है और राज्यक्रान्ति का डर कम हो रहा है। राज्यसत्ता का बड़ा भारी भाग जनता में अब स्पष्टतया प्रस्थापित हो चुका है। जहां, लोकतन्त्र का राज्यशासन नहीं है, वहां भी लोकमत की नींव पर ही राज्य-शासन चला करता है। सर्वसत्तात्मक दीखनेवाले राजा को भी लोकमत के सामने झुकना ही पड़ता है। परन्तु इतने से, जैसा ऊपर कह चुके हैं, सब राजकीय सत्ता जनता ही में आकर नहीं प्रविष्ट हो जाती।

८—'अनियन्त्रित और अविभाज्य राज्यप्रभुता' का आस्टिन जैसा प्रतिपादक भी इसी भ्रम में पड़ गया है। ऊपर कह ही चुके हैं कि इँग्लेंड में पार्लिमेंट* और राजा के द्वारा ही सब क़ायदे बना करते हैं। गत दो सौ वर्षों से राजा के अधिकार इस सम्बन्ध में बहुत कम हो गये हैं। यह सत्य है कि राजा की सम्मति के बिना कोई क़ायदा नहीं बनता, तथापि अनेक वर्षों से ऐसा मौक़ा नहीं आया कि राजा ने जब अपनी सम्मति पार्लिमेंट के स्वीकृत किये क़ायदे को न दी हो। और व्यवहार और क़ायदा दोनों दृष्टि से लार्डों की सभा के अधिकार बहुत कम हो गये है। सारांश, कामंस-सभा ही सर्वश्रेष्ठ देख पड़ती है।

---

*पार्लिमेंट के दो भाग या भवन हैं। एक में वंशपरम्परागत अथवा नये बनाये लार्ड बैठते हैं। दूसरे में लोगों के प्रतिनिधि—जिसे हाउस आव् कॉमन्स कहते हैं।

परन्तु ये लोग जनता-द्वारा चुने जाते हैं। इसलिए आस्टिन का कहना है कि "हमारे देश* में राज्यप्रभुता का बड़ा भारी भाग जनता के हाथ में है। लोग अपने प्रतिनिधियों-द्वारा अपनी सब राज्यप्रभुता का उपयोग करते हैं। अथवा (यों कहो कि) प्रतिनिधियों के निर्वाचन और नियुक्ति के अधिकारों को छोड़कर वे अपने प्रतिनिधियों-द्वारा अपनी सब राज्य-प्रभुता का उपयोग करते हैं। जब कभी कोई सर्वश्रेष्ठ सत्ता अपने अधिकारों का प्रतिनिधियों द्वारा उपयोग करती है, तब वह चाहे तो उन्हें बिना किसी शर्त के सारी की सारी सत्ता दे दे या किसी ख़ास शर्त पर उन्हें अपने अधिकार दे। इँग्लेंड में निर्वाचक-सङ्घ अपने अधिकार अपने प्रतिनिधियों को बिना किसी भी शर्त के यानी पूर्णरूप से दे देता है। परिणाम यह होता है कि पार्लिमेंट के अस्तित्व-काल में राज्यप्रभुता राजा—लार्डसभा—कामंससभा के हाथ में रहती है। जब पार्लिमेंट बरख़ास्त कर दी जाती है, तब कामन्स लोगों को दी हुई राज्यप्रभुता निर्वाचक सङ्घ में वापस चली आती है। इसलिए, यदि राजा और लार्डसभा के सब अधिकार जाते रहें तो जनता सर्वश्रेष्ठ राजकीय सत्ता हो जावेगी।" परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जनता अपने अधिकारों को अपने प्रतिनिधियों के अधीन इतनी पूरी तरह से कर देती है कि वे चाहें तो राजा और लार्डसभा से मिलकर उन उद्देशों को ही मटियामेट कर दें कि जिनके लिए उनका चुनाव होता है। वे सब मिलकर ऐसा क़ायदा बना डालें कि जिससे राज्य का सारा सङ्गठन ही उलट-पुलट जाय और सारे अधिकार राजा और लार्डसभा को दे दिये जायँ।

सारांश, राज्यैश्वर्य का एक भाग निर्वाचक-सङ्घ में होता है और प्रतिनिधियों का निर्वाचन इस सत्ता के उपयोग का एक मार्ग है। इसके

---

* यह उद्धरण सिजविक के ग्रंथ से लिया है।

विपरीत पार्लिमेंट को भी इतना अधिकार है ही कि वह निर्वाचक-सङ्घ का नाम-निशान भी न रहने दे! पार्लिमेंट को सारे अधिकार बिना किसी शर्त के मिल जाते हैं, ऐसा आस्टिन साहब ने कहा है। तथापि आगे आप कहते हैं कि—"मैं समझता हूँ कि पार्लिमेंट को राज्यप्रभुता कुछ थोड़े ही काल के लिए प्राप्त होती है। वास्तव में कामन्ससभा के सदस्य निर्वाचक-सङ्घ के भेजे दूत (Hustee) हैं। और इसलिए राज्यप्रभुता राजा—लार्ड सभा—निर्वाचक सङ्घ तीनों में समाविष्ट है।" यहां आपका कहना है कि कामन्ससभा के प्रतिनिधि किसी निश्चित कार्य के लिए भेजे जाते हैं। उस कार्य को अथवा अपने मालिक को वे मटियामेट नहीं कर सकते।

आपके मूल सिद्धान्त का—राजकीय सत्ता के अनियन्त्रित और अविभाज्य होने के तत्त्व का—कहीं पता रहा ही नहीं! आप उसे कभी पार्लिमेंट में देखते हैं तो कभी निर्वाचक-सङ्घ में! यह एक आत्मविरोध है। क़रीब क़रीब यही आत्मविरोध फिर से दूसरी बार हुआ है। एक बार कहते हैं कि निर्वाचक-सङ्घ अपने प्रतिनिधियों को अपने अधिकार बिना किसी शर्त के देती है और वे राजा और लार्ड-सभा से मिलकर चाहे जो क़ायदा बना सकते हैं, तो दूसरी बार कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। प्रतिनिधि किसी ख़ास काम के लिए भेजे जाते हैं, वे दूतरूप हैं और उनकी सत्ता मर्यादित ही होनी चाहिए। वे जिन हेतुओं के लिए भेजे जाते हैं, उनका ही वे सत्यानाश नहीं कर सकते। इस तरह वे इधर से उधर, उधर से इधर, घूम रहे हैं! अनियन्त्रित और अविभाज्य राज्यसत्ता की खोज में आप कहां से कहां जा पहुँचे हैं! उसको वे अधिक ही नियन्त्रित कर बैठे हैं। माना कि पार्लिमेंट चाहे जो क़ायदा बना सकती है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि अपनी सत्ता के मूल उद्देशों पर ही वह कुठाराघात कर सकती है! ऐसे क़ायदों को कौन अँगरेज़ मानेगा और पार्लिमेंट का कहां पता रहेगा? और राज्य-

शासन का ही पता नहीं, तब उसकी सत्ता का कहाँ? अँगरेज़ों के लोकमत से पार्लिमेंट पर जो प्रभाव पड़ता है वह उतना ही वास्तविक होता है कि जितना पार्लिमेंट की आज्ञाओं का पालन। पार्लिमेंट निर्वाचक-सङ्घ के निर्वाचन के अधिकार नहीं छीन ले सकती। पार्लिमेंट की सत्ता पर यह कुछ कम मर्यादा नहीं है। परन्तु यह भी सत्य नहीं कि कामंस-सभा के लोग निरे दूत हैं। कुछ बातों को छोड़कर उनकी सत्ता अमर्याद ही देख पड़ती है। निर्वाचक-सङ्घ के स्वीकृत किये नियम को अदालत में कोई न्यायाधीश क़ायदा न मानेगा। परन्तु कामंस-सभा के स्वीकृत किये नियम को लार्ड-सभा और राजा की, किसी किसी समय केवल राजा की, संमति मिलने पर क़ायदे का स्वरूप प्राप्त हो जावेगा और उसका पालन भी होगा।

सारांश, केवल मामूली जनता भी अनियन्त्रित और अविभाज्य राज्य-सत्ता नहीं है।

६—निर्वाचकसभा और पार्लिमेंट यानी व्यवस्थापकसभा के बीच चक्कर लगाने के बदले कुछ लोगों ने दोनों को सर्वश्रेष्ठ सत्ताधारी मान लिया है। राजकीय बातों पर निर्वाचक-सङ्घ का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। कामंससभा यानी प्रातिनिधिक भवन के बहुसंख्यक दल का निर्माण उसी की मर्ज़ी पर अवलम्बित है। इस कारण कोई कोई लोग निर्वाचक-सङ्घ को राजकीय सर्वश्रेष्ठ सत्ता (political sovereign) और पार्लिमेंट यानी व्यवस्थापकसभा को बाक़ायदा सर्वश्रेष्ठ सत्ता (legal sovereign)कहते हैं। युक्ति अच्छी है, क्योंकि सत्य बात को इस रीति में स्थान मिल गया है—निर्वाचक-सङ्घ यानी जनता के अधिकारों का इस तरह मान हो गया है। ऐसा मानने से हमारे सिद्धान्त को भी कोई बुराई न होगी। क्योंकि राजकीय प्रभुता और बाक़ायदा प्रभुता मिलाकर राज्य की प्रभुता बनती है। परन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि यह सिद्धान्त आस्टिनपक्ष के प्रतिकूल है।

१०—सारांश, राज्य के भीतर किसी एक निश्चित सत्ता को राजकीय और बाक़ायदा सर्वश्रेष्ठ (अनियन्त्रित और अविभाज्य) सत्ता कहना ठीक नहीं। पूरा राज्य, जनता और राजकीय सङ्गठन समेत, अनियन्त्रित राजकीय सत्ता अवश्य है। जब किसी देश की सरकार दूसरे देश से कोई व्यवहार करती है, तब वह केवल अपने लिए यह काम नहीं करती। यह व्यवहार सारे देश के लिए किया करती है। इसी कारण, उस समय उसमें राज्य के पूरे पूरे लक्षण यानी अनियन्त्रित और अविभाज्य सर्वश्रेष्ठ सत्ता, देख पड़ती है। एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ जो व्यवहार होता है, उसका केवल यही स्वरूप हो सकता है। इन व्यवहारों के समय ऐसा माना जाता है कि एक पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता दूसरी पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता से व्यवहार करती है। परन्तु पर-राष्ट्रीय सम्बन्धों को छोड़कर जब राज्य के भीतरी सम्बन्धों का विचार करते हैं तब बात भिन्न हो जाती है। राज्य की राजकीय सत्ता किसी उद्देश की पूर्ति के लिए है। इस कारण उस उद्देश से उसकी सत्ता मर्यादित है। जिन कार्यों से इस उद्देश की पूर्ति होती न देख पड़े, उन कार्यों को वह नहीं कर सकती। वह ऐसे हुक्म नहीं निकाल सकती कि जिससे लोगों का अहित हो। एक दो व्यक्तियों के स्वार्थ का नाश होना संभाव्य बात है, पर प्रायः समस्त लोगों के स्वार्थ पर कुठाराघात करना भिन्न बात है। ऐसे क़ायदों को कोई भी क़ायदा न मानेगा कि जिसके पक्ष में लोगों का बहुमत नहीं है। सरकार की सत्ता देश के भीतर कभी कभी अमर्यादित-सी दीखती है। इसका कारण यह है कि उस समय सरकार को लोगों का ज़ोर रहता है। सरकार की सत्ता ख़ुद नियन्त्रित और मर्यादित ही है। वह चाहे जो क़ायदा लोगों के सिर पर नहीं लाद सकती। लोगों के भी कुछ ऐसे क़ायदे होते हैं जिन्हें राज्य की राजकीय सत्ता को मानना ही पड़ता है और उसे यदि उद्देश की पूर्ति में सहायक होना है तो मानना भी चाहिए। न मानने से उद्देश ही भ्रष्ट होता है। हाँ, शासन-सत्ता का यह कर्तव्य अवश्य है कि वह यह देखे कि कोई विशिष्ट पुरुष किसी

रीति को क़ायदा कहता है, तो वह वास्तव में क़ायदा है या नहीं, उसे लोग वास्तव में क़ायदा मानते हैं या नहीं। जिसे लोग क़ायदा नहीं मानते, उसे राज्य भी न माने। और ऐसा करने से कोई हानि न होगी। आस्टिनपक्ष का जो मूल भ्रम हो गया है, वह यह है कि उन्होंने सब बातों के लिए सरकार को ही राज्य मान लिया है, इस कारण राज्य की सत्ता के सब लक्षणों को उन्होंने सरकार पर आरोपित कर दिया है। इस आरोपण के कारण जो अनेक भूलें हुई हैं वे हम ऊपर दिखला चुके हैं। न सब राजकीय सत्ता किसी सरकार में या सरकार के किसी अंग या अंगसमूह में प्रस्थापित है और न सब क़ायदे सदा सरकार के या सरकार के किसी अंग-विशेष के हुक्म ही होते हैं। राज्य की प्रभुता राज्य में है, किसी व्यक्ति या व्यक्तिविशेष में नहीं। इसी कारण, राज्य में जिसे क़ायदा मानते हैं, उसे सरकार को भी क़ायदा मानना पड़ता है। और इस कारण यह भी सिद्धान्त बहुत कुछ झूठा है कि क़ायदों का पालन सरकार की बलमूलक सत्ता के डर के कारण ही हुआ करता है। यह सत्य है कि जब कोई उपाय नहीं चलता, तब इस बलमूलक सत्ता का उपयोग करना ही पड़ता है। परन्तु यदि किसी राज्य में बार-बार इस अधिकार का उपयोग करना पड़े तो समझो कि उस राज्य की नींव ढीली हो चुकी है। वह तो अन्तिम शस्त्र, अन्तिम उपाय है। बहुधा किसी भी व्यवस्थित राज्य में, चाहे वह अर्वाचीन हो या प्राचीन, इस शस्त्र के उपयोग के मौक़े कम ही आते हैं इस पर हमें कोई कहे कि इतनी अदालतें, इतने न्यायाधीश, इतने जेलख़ाने, इतनी पुलिस, और इतनी सेना सब राज्यों में उपस्थित है वह क्यों? क्या इससे यह नहीं दीखता कि इस भौतिक बल के सिवा लोग क़ायदा मानते ही नहीं। इस पर हमारा उत्तर यह है कि किसी राज्य में कितने लोग हैं, उनकी संख्या गिन लो। फिर प्रत्येक को रोज़ कितने व्यवहार करने पड़ते हैं, उनकी संख्या गिनो। फिर बतलाओ कि कितने व्यवहारों के लिए इस भौतिक बल का उपयोग करना पड़ता है। इस

रीति से यदि कोई अनुपात निकाल देखे तो उसे जँच जावेगा कि सौ में से एक व्यवहार के लिए भी इस बल का उपयोग शायद ही होता है। माना कि नियमों के भङ्ग करनेवाले लोग इस संसार में हैं। मनुष्य में कुछ अंश तक यह प्रवृत्ति ही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि विकारों के वह अधीन है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक मनुष्य और वह भी चौबीस घंटे इन विकारों के अधीन बना रहता है। क़ायदे की अपेक्षा लोकमत का व्यक्ति-व्यक्ति के व्यवहारों पर अधिक प्रभाव पड़ता है। और क़ायदे की अपेक्षा लोकमत लोगों की नज़र में अधिक झूलता रहता है। इस लोकमत का प्रभाव विचार और कार्य पर इतना पड़ता है कि उसके कारण क़ायदों का पालन करना लोगों का स्वभाव बन जाता है। हां, भौतिक परिस्थिति का इस स्वभाव पर परिणाम अवश्य होता है। इसी कारण कोई राष्ट्र अधिक तो कोई कम नियमानुगामी देख पड़ता है। यदि नियमों के पालन के लिए भौतिक बल की सदा आवश्यकता बनी रहे, तो किसी भी राज्य का चलना मुश्किल हो जायगा। फिर उसके लिए कितनी भी सेना, कितनी भी पुलिस, कितने भी जेलख़ाने, कितनी भी अदालतें और कितने भी न्यायाधीश की योजना हुई तब भी वह काफ़ी न होगी। इतिहास इस बात का साक्षी है। जब कभी किसी राज्य की सरकार के विरुद्ध सारे के सारे लोग खड़े हो गये हैं तब उस सरकार की जल्द ही काया-पलट होगई है। सारांश, ऐसा कहना कि क़ायदे का पालन केवल भौतिक बल के कारण होता है कभी भी सर्वथा सत्य नहीं हो सकता।

११—इन विचारों का समर्थन हम भूत-पूर्व प्रेसिडेंट वुडरो विलसन और टामस ग्रीन के विचारों का सारांश देकर करेंगे।

क़ायदों के निर्माण की रीतियों का विवेचन करने के बाद भू० प्रे० विल्सन कहते हैं कि "जिन शक्तियों से राष्ट्रीय और राजकीय विकास होता है, ठीक उन्हीं से क़ायदों का निर्माण और विकास होता है।

यदि इस रीति से एकतन्त्रवाले राजा का विकास हुआ......तो वही क़ायदों को बनावेगा और प्रवर्तित करेगा। यदि लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का विकास हुआ तो लोगों के द्वारा क़ायदा बनेगा और प्रवर्तित होगा। परन्तु न पहली स्थिति में और न दूसरी में ही, क़ायदा किसी ख़ास व्यक्ति या व्यक्तिगण की कल्पना का फल होगा। किसी भी शासन-प्रणाली में जो क़ायदे बनेंगे, वे लोगों की रिवाज-रस्म और पसंदगी-नापसंदगी को देखकर बनेंगे। क़ायदा बनानेवालों का काम यह नहीं है कि वे अपनी निजी कल्पनाओं को क़ायदे का स्वरूप दे दें—क़ायदा अपने सिर से ढूँढ़ निकालें। उनका काम केवल यही है कि लोगों की आवश्यकताओं को जान कर उन्हें क़ायदे का स्वरूप दें। राष्ट्रीय जीवन का प्रवाह जिधर है ही नहीं, उधर उसको क़ायदा अपनी मनमानी चला कर नहीं ले जा सकता। क़ायदा व्यक्तियों की सृष्टि नहीं है, वह है समाज की विशिष्ट आवश्यकताओं की, विशिष्ट अवसरों की, विशिष्ट संकटों या दुर्दैवों की सृष्टि। कोई भी क़ायदा बनानेवाला पुरुष राष्ट्र पर ऐसा क़ायदा नहीं लाद सकता कि जिसकी कल्पना उसके राष्ट्र की परिस्थिति से या उसके राष्ट्र के मतों से न हुई हो। सब देशों के शासक उस देश के सङ्गठित समाज की सत्ता का ही उपयोग कर सकते हैं, किसी दूसरी शक्ति का नहीं। यह बात भिन्न है कि शासकों के कार्यों को समाज चुपचाप मान ले। परन्तु शासक अपने को समाज से अलग नहीं कर सकते।"......"कभी कभी क़ायदे का स्वरूप अल्प-संख्यक लोगों की आज्ञा के समान भले ही देख पड़े, कभी वह एक व्यक्ति की आज्ञा ही जान पड़े, परन्तु जब तक समाज उस क़ायदे को अपना ज़ोर न लगावेगा, तब तक वह चल नहीं सकता। क़ायदा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लोगों को संमत होना ही चाहिए। और इस प्रकार उनका ज़ोर उसे मिलना ही चाहिए।" इसका एक इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण भी आपने दिया है। जब तक रूस के ज़ार की सत्ता थी तब तक वह क़रीब क़रीब अनियन्त्रित देख पड़ती थी। उसके विषय में भी आपने

कहा है कि उसकी भी नींव जनता ही थी। "ज़ार की व्यक्तिगत शक्ति कोई भारी शक्ति नहीं थी। वह वहां के धर्म का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी था। सिवा, वह राष्ट्र का और उसके इतिहास का और उसके विकास का पवित्र प्रतिनिधि था। उसकी शक्ति की जड़ें लोगों के मनों में ख़ूब भीतर घुसी थीं।" जब वे जड़ें शिथिल होगईं तो जारशाही का नाम-निशान न रहा।

क़ायदे के स्वरूप का विचार करते हुए आप कहते हैं कि "क़ायदा मूर्तिमान् तत्त्व है। वह लोगों की नैतिक कल्पनाओं का और सामाजिक सम्बन्धों का दर्पण ही होता है। इतना ही नहीं तो क़ायदे में लोगों की प्रेरणा-शक्ति, उनकी इच्छा और वाञ्छा भी देख पड़ती है। वे केवल मत नहीं हैं, बरन प्रत्यक्ष प्रचलित नियम हैं।"

इस प्रकार, 'जो क़ानूनकर्ता लोगों की रीतियों और विचारों के अनुसार क़ायदे बनाते हैं, उन्हीं में राजकीय प्रभुता देख पड़ती है। यदि वे उसी क़ौम के रहे और उन दोनों का इतिहास वही रहा तो अनजाने ही वे राष्ट्रीय रीतियों का अवलम्बन करते रहते हैं। क्योंकि दोनों की रीतियाँ, दोनों की विचार-मालिका, एक ही होती है। यदि वे बाहर से आये लोग रहे, तो बुद्धि का कहना मान कर राष्ट्र के रिवाज-रस्मों में और विचारों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप वे न करेंगे। किसी भी दशा में देखो, शासक के कार्यों का सम्बन्ध शासितों के जीवन से केवल ऊपरी ऊपरी ही रहेगा। शायद वे किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों पर अपने हुक्म लाद भी सकें। पर सब जनता के जीवन में वे हाथ नहीं लगा सकते। ऐसा यदि वे करना ही चाहें तो बहुत अप्रत्यक्ष, भीतर ही भीतर और धीरे ही धीरे करेंगे। इसी रीति से वे लोगों के विचार और आदतें बदल सकेंगे। राष्ट्र की आदतें ही क़ानून-कर्ता का असली मसाला है। और उसकी शक्ति की वह ही मर्यादा है। वे ख़ूब कड़ी और भयानक वस्तु हैं। यदि वह उनका तिरस्कार करेगा, तो वे अपना आदर करने को उसे

अवश्य बाध्य करेंगी, वे उस क़ानून-कर्ता को नमा ही लेंगी। यदि उनका वह मनमाना उपयोग करना चाहेगा, तो वे उसकी पकड़ में ही न आवेंगी। यदि वह उन पर किसी प्रकार ज़बरदस्ती करेगा तो (बारूद-गोलों में समान) भयंकर ज़ोर से फूटेंगी और उसका सत्यानाश कर देंगी। राज्यप्रभुता उसके हाथ में नहीं तो समाज के हाथ में है।"

राज्यप्रभुता का विचार करते हुए आप कहते हैं कि "यदि क़ायदा राष्ट्रीय आदतों से पैदा होता है, यदि अमल में लाने के लिए उसे समाज का ज़ोर होना आवश्यक है, और वह वास्तविक क़ायदा रहे इसके लिए यदि समाज की आदतों की नींव ही उसका आधार है, तो राज्य-प्रभुता का स्थान है कहाँ ? किधर और कहाँ राज्य-प्रभुता रहती है ? और वह है क्या चीज़ ?"

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए भिन्न भिन्न देशों के क़ानून बनाने के अधिकार का विचार आपने किया है, और आप भी क़रीब क़रीब हमारे ऊपर दिये नतीजे पर पहुँचे हैं। आप कहते हैं "क़ायदे की दृष्टि से राज्यप्रभुता का कहीं पता नहीं है। जिस राज्यप्रभुता का अस्तित्व वास्तव में है, उसकी कल्पना जल्द नहीं हो सकती। तथापि वह बड़ी बलवती है। वह है समाज की संकल्प-शक्ति, फिर वह भले ही चुपचाप रहे या बड़ा ज़ोर दिखलावे और राजकीय झगड़ों का क्षेत्र तैयार कर दे। राजा या पार्लिमेंट (व्यवस्थापक-सभायें) उसके केवल वाहन हैं और जब कभी ये कोई बात कहते हैं तो उसी की प्रेरणा से कहते हैं, वास्तव में वह (राज्यप्रभुता) उनमें (व्यवस्थापकसभाओं में) नहीं निवास करती। राज्यप्रभुता निवास करती है समाज में (यानी सङ्गठित समाज में)।

१२—अब हम टामस ग्रीन का मत देते हैं। हम रूसो का सिद्धान्त संक्षेप में ऊपर बतला चुके हैं। उस सिद्धान्त के अनुसार

राज्यप्रभुता जनता में यानी उनकी (सङ्गठित) इच्छाशक्ति में प्रतिष्ठित है। इससे ग्रीन साहब ने आस्टिन के मत की तुलना की है और कहा है कि देखने में दूसरा मत पहले के नितान्त विरुद्ध जान पड़ता है। क्योंकि आस्टीन के मत के अनुसार राज्यसत्ता कुछ निश्चित व्यक्तियों में स्थापित होनी चाहिए और उसका सब ज़ोर भौतिक बल होना चाहिए। परन्तु ग्रीन साहब का कहना है कि जो भी ये दो मत परस्परविरुद्ध देख पड़ते हैं तथापि यदि राज्यप्रभुता की वास्तविक कल्पना चाहिए हो तो दोनों को परस्पर का पूरक ही मानना होगा। दोनों का सम्मेल ही करना होगा। "जो व्यक्ति या व्यक्तिसमूह किसी दूसरी सत्ता के अधीन नहीं है उसका या उनका कहना लोग मानते हैं, इसका कारण यह है कि वह व्यक्ति या व्यक्तिसमूह जनता की शक्ति का प्रतिनिधि है, उसमें जनता की शक्ति सङ्गठित है। राज्य की इस सत्ता में क़ायदों का पालन करने के लिए लोगों को बाध्य करने की अमर्याद शक्ति नहीं है। लोगों के मतानुसार उनकी भलाई जिसमें है उसी के अनुसार बर्ताव करने पर राज्य-शक्ति का सारा बल निदान अवलम्बित है—लोगों-द्वारा क़ायदों का पालन करवाना हो तो उनकी समझ के अनुसार कार्य करना ही होगा। मेन ने बहुत ठीक कहा है 'संक्षेप में जिन प्रभावों को 'नैतिक' कह सकते हैं, उन्हीं पर राज्यसत्ता के द्वारा होनेवाले समाज की शक्ति का उपयोग अवलम्बित है, उनके ही अनुसार इस शक्ति का कम या अधिक, इसके लिए या उसके लिए उपयोग होता है।' ......यदि लोगों की अन्योऽन्य हित की भावना नष्ट हो जाय (और इसी भावना में जनता की शक्ति दृग्गोचर होती है) या यदि उससे राज्यसत्ता की आज्ञाओं का विरोध हो जाय तो लोग इस शक्ति की आज्ञाओं का पालन करना छोड़ देंगे।" आगे आप कहते हैं, "यदि आस्टिन का कहना हो कि प्रत्येक राज्य में क़ायदों का प्रवर्तन करनेवाली कोई निश्चित श्रेष्ठ शक्ति होती है, तो वह ठीक है। क्योंकि प्रत्येक राज्य में ऐसी शक्ति अवश्य देख पड़ती है। परन्तु यदि उसका कहना हो कि जिस

किसी शक्ति के कारण लोग क़ायदों का पालन किया करते हैं, वही राज्य की सर्वश्रेष्ठ सत्ता है, तो जनता की इच्छा-शक्ति को ही यह नाम देना होगा। इस शब्द का अर्थ सङ्कुचित करने की आवश्यकता नहीं। और यह भी ख़याल रखना चाहिए कि भौतिक बलवाली शक्ति और यह सर्वश्रेष्ठ सत्ता दोनों एक साथ रह सकती हैं। जहाँ जहाँ अनियन्त्रित राजा रहे हैं, वहां वहां यही बात रही है। जिन देशों में विदेशी सत्ता का शासन रहता है वहां के वास्तविक शासक न तो क़ायदों को बनाया करते हैं, न क़ायदों का पालन करवाते हैं। ऐसे शासकों की असली शक्ति जनता की मर्ज़ी ही है।........."

आपने एक अन्य स्थान पर कहा है "राज्य के अस्तित्व के लिए भौतिक बल आवश्यक है। और इसी कारण कुछ लोग कहते हैं कि राज्यों का निर्माण निरे स्वार्थ के कारण हुआ करता है।......परन्तु (यह स्मरण रखना चाहिए कि) केवल भौतिक बल के अस्तित्व से राज्य नहीं बन जाता, इस बल का किसी निश्चित रीति से और निश्चित उद्देशों के लिए—लिखित या अलिखित (रूढ़) क़ायदों के अनुसार चलने से और अधिकारों का रक्षण करने से ही—राज्य का निर्माण होता है।... ..सर्वश्रेष्ठ राज्यसत्ता यानी सर्वोच्च भौतिक बल नहीं है। ऐसा मानने से तो यह भ्रम हो जाता है कि राज्य के लिए केवल सर्वोच्च भौतिक बल की आवश्यकता है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि **राज्य के कारण ही सर्वश्रेष्ठ राज्यसत्ता का निर्माण होता है, सर्वश्रेष्ठ राज्यसत्ता के कारण राज्य नहीं निर्मित होता।** ....हम लोग समझ लेते हैं कि सर्वश्रेष्ठ राजकीय सत्ता सर्वश्रेष्ठ होने के कारण चाहे जो क़ायदे बना सकती है और बदल सकती है। परन्तु इस बात को हम भूले से जाते हैं कि इस सत्ता को यदि सर्वश्रेष्ठ बने रहना है, तो उसे भी बहुत से क़ायदों का पालन करना होगा।......सर्वश्रेष्ठता का यह अर्थ है कि

लोगों पर भीतर से या बाहर से कोई आक्रमण न होने पावे। वह तो समाज का यन्त्र है या यों कहो कि अपने उद्देश के लिए काम करनेवाला समाज ही है। इस उद्देश के लिए जिस शक्ति का अस्तित्व है, वह यदि राज्यसङ्गठन के अनुसार, या राज्यसङ्गठन का काम जिन रूढ़ियों से चल सकता है उनके अनुसार, काम न करे तो उससे स्वत्वों का संरक्षण होना बंद हो जाता है और वह फिर राज्य नहीं कहला सकता।......" आपने राज्य की जो व्याख्या की है, उसके अनुसार राज्य वह समाज है जहां क़ायदे का पालन होता है और (आवश्यकता पड़ी तो) पालन करवा-नेवाली शक्ति भी है। सर्वश्रेष्ठ राजकीय सत्ता के स्वरूप का विवेचन करते समय हमने जो विचार लिखे हैं, उनसे इस परिभाषा की तुलना यदि पाठकगण करें तो यह देख पड़ेगा कि दोनों का सारांश क़रीब क़रीब वही है।

——

छठा परिच्छेद

नागरिक की स्वतन्त्रता

१—क़ायदा, अधिकार, बन्धन, बन्धनों के कारण और राज्यप्रभुता का विवेचन हो चुका। अब व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विचार हो सकता है।

चौथे परिच्छेद के अन्त में हमने कहा है कि समाज के बिना अधिकारों की कल्पना नहीं हो सकती। अधिकार समाज ही में रह कर प्राप्त हो सकते हैं। इसके लिए बन्धनों की आवश्यकता है। बन्धन क़ायदे से पैदा होते हैं। और क़ायदों का प्रवर्तन राज्य की सरकाररूपी सत्ता के द्वारा होता है। परन्तु यह दिखला ही चुके हैं कि राज्य की यह सत्ता अनियन्त्रित नहीं है। वह भी क़ायदे से नियन्त्रित है। सबही क़ायदों को सरकार नहीं बनाती—कुछ क़ायदों को वह केवल प्रवर्तित करती है, कुछ क़ायदों को वह बनाती और प्रवर्तित भी करती है। राज्य-प्रभुता का जो स्वरूप हमने स्थापित किया है, उसके ही अनुसार यह तात्पर्य निकल सकता है, अन्यथा नहीं। सरकार को 'अनियन्त्रित राज्य-प्रभु' मानने से क़ायदे इस शक्ति की इच्छा पर निर्भर होते हैं। उनके अनुसार सरकार पर बाक़ायदा कोई बन्धन नहीं हो सकता। इस कारण व्यक्ति के अधिकारों का कहीं ठीक-ठिकाना ही नहीं रह जाता। अधिकार ही जहाँ चाहे जब लापता हो सकते हैं, वहाँ कौन-सी स्वतन्त्रता हो सकती है? यदि किसी बात की स्वतन्त्रता नहीं है, तब व्यक्ति के आत्मिक विकास की आशा नहीं रह जाती। इस तरह तो राज्य अपने अस्तित्व के मूल उद्देशों पर ही कुठार लगा बैठेगा। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ठीक कल्पना सरकार पर बन्धन हुए सिवा नहीं हो सकती। हमारे अधिकारों पर हस्तक्षेप न करने के लिए केवल व्यक्ति ही बाध्य न हों बरन

सरकार भी हो। आस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार सरकार पर कोई बन्धन नहीं हो सकता और ऐसा बन्धन न होने से स्वतन्त्रता की मात्रा बहुत कम हो जायगी। स्वतन्त्रता के लिए बन्धनों की आवश्यकता कितनी अधिक है, इस बात का चौथे अध्याय में यथेष्ट विवेचन हो चुका है। यहां पर उन्हीं बातों का पिष्टपेषण करना ठीक नहीं। सारांश में हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता समाज में क़ायदे से पैदा होती है। अधिकार पानेवाले की दृष्टि से अधिकार स्वतन्त्रता का ही दूसरा रूप है। और हमारे अधिकारों के कारण दूसरों पर बन्धन स्थापित होता है। यानी स्वतन्त्रता के लिए बन्धन होने ही चाहिए। और वे व्यक्ति पर ही नहीं किन्तु सरकार पर भी होने चाहिए। इन बन्धनों की मर्यादा और उनका स्वरूप राज्य और व्यक्ति के उद्देशों से ही निश्चित हो सकते हैं।

सारांश, स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं कि लोग अपनी मनमानी चलाने लग जावें। 'दूसरों के अधिकारों पर हस्तक्षेप न करना, साथ ही अपने अधिकारों का पूर्ण उपयोग कर सकना ही स्वतन्त्रता है।' स्वतन्त्रता नियमबद्ध ही हो सकती है, बिना समाज के स्वतन्त्रता का वास्तविक अस्तित्व नहीं होता। बिना बन्धन की अवस्था में वही स्वतन्त्र कहला सकता है कि जो बलवान् है। बलहीन कभी किसी भी बात में स्वतन्त्र नहीं हो सकते। राज्य का अस्तित्व स्वतन्त्रता का विरोधक नहीं तो सहायक है।

२—लोग जिस अनियमित, असम्बद्ध, अनिश्चित और सन्दिग्ध स्वतन्त्रता का उल्लेख करते हैं, उसमें मनमानी स्वतन्त्रता का भाग विशेष रहता है। तथापि उसमें कभी कभी नियमबद्ध स्वतन्त्रता का भी विचार थोड़ा बहुत रहा करता है। ऊपर कह चुके हैं कि मनमानी स्वतन्त्रता का समाज में विचार हो ही नहीं सकता, ऐसी स्वतन्त्रता वास्तव में स्वतन्त्रता नहीं है। परन्तु नियमबद्ध स्वतन्त्रता का भी अर्थ सदा स्पष्ट नहीं रहता। इसके भी अनेक अर्थ हुआ करते हैं।

(१) कभी कभी स्वतन्त्रता से केवल शारीरिक स्वतन्त्रता का ही उल्लेख रहता है। शरीर पर प्रत्यक्ष किसी प्रकार का बन्धन न होना शारीरिक स्वतन्त्रता है। राज्य में बहुधा सब लोगों को इस प्रकार की स्वतन्त्रता रहती है। जो पुरुष अपनी स्वतन्त्रता से दूसरे की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप करता है और समाज यदि समझता है कि ऐसे पुरुष को स्वतन्त्रता रहने देने से हानि होगी, तबही ऐसे पुरुष की शारीरिक स्वतन्त्रता हरण कर ली जाती है। अन्यथा, क़ायदा किसी की शारीरिक स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता। तथापि यह भी मानना होगा कि किसी देश में शारीरिक स्वतन्त्रता जल्द हरण कर ली जाती है, तो किसी में क्वचित्। इसका सम्बन्ध राज्य के स्वरूप और क़ायदा दोनों से है। जहां शासन का स्वरूप प्रजातान्त्रिक है, क़ायदे की दृष्टि में सब लोग (ऊँच और नीच, ग़रीब और धनी, सरकारी और ग़ैर-सरकारी) जहाँ बराबर हैं, जहां न्याय का उचित प्रबन्ध है, वहां शारीरिक स्वतन्त्रता पर मन-माना हस्तक्षेप नहीं होता। यदि हुआ ही तो हवालात या जेल-ख़ाने में बहुत दिन तक नहीं पड़े रहना पड़ता और यथासम्भव जल्द ही वह स्वतन्त्रता वापस मिल जाती है। जानबूझ कर और सोच-समझ कर यदि कोई दूसरे का जीवन ही ले डाले, यानी दूसरे की स्वतन्त्रता सदा के लिए नष्ट कर दे तो बात अलग है। गुनाहों के लिए कितना और किस प्रकार का दण्ड मिलना चाहिए, यह विषय इस परिच्छेद से सम्बन्ध नहीं रखता और इसलिए शारीरिक स्वतन्त्रता का विवेचन हम आगे नहीं बढ़ाना चाहते।

(२) कायिक स्वतन्त्रता मिलने से ही काम नहीं चलता। वाचिक और मानसिक स्वतन्त्रता भी देश के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। जब तक कोई पुरुष अपनी वाचा का ऐसा उपयोग न करे कि उससे सरकार को या समाज को प्रत्यक्ष कोई हानि हो, तब तक किसी की इस तरह की स्वतन्त्रता हरण करना ठीक नहीं। केवल शङ्का या सम्भा-वना के बल पर किसी की इस तरह की स्वतन्त्रता नष्ट न की जाय।

तथापि यह हम मानते हैं कि प्रत्यक्ष उदाहरण और परिस्थिति के ज्ञान के बिना इस विषय में किसी देश और काल के लिए कोई निश्चित नियम हम नहीं बतला सकते। इतिहास से इतना स्पष्ट है कि परतन्त्र देशों में वाचिक स्वतन्त्रता बहुत परिमित रहती है। विदेशीय शासकों को यह डर बना रहता है कि वाचिक स्वतन्त्रता का अधिक उपयोग होने से कहीं अपने शासन की नींव ही न नष्ट हो जावे। वाचिक स्वतन्त्रता के कारण ज्ञान का प्रसार ही नहीं होता, बरन लोक-सङ्घटन भी अधिक हो सकता है और इस प्रकार मिलजुल कर कार्य करने की लोक-शक्ति बढ़ती है। और यह शक्ति डर का कारण होती है। क्योंकि उसके सहारे राज्य भी उलट-पुलट जाते हैं। तथापि वाचिक स्वतन्त्रता को रोकने से लोक अपने विचार स्पष्टतया प्रकट नहीं कर सकते और इस तरह ज्ञान का प्रसार रुकता है। लोग अपने विचार स्पष्टतया नहीं बतला सकते और खुल्लमखुल्ला सभा-समितियों में बोल नहीं सकते, इस कारण लोग मन में भीतर ही भीतर सोचते रहते हैं, अकेले में बातें करते हैं और गुप्त सभा-समितियाँ होती हैं। और इस तरह भीतरी असन्तोष अधिक फैलता है। स्पष्ट असन्तोष की अपेक्षा भीतरी असन्तोष अधिक हानिकारक होता है। इससे राज्य ही नहीं तो समाज की भी नींव नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। और यह स्थिति उस देश के लिए ही नहीं किन्तु सारी दुनिया के लिए हानिकारक होती है। रूस का इतिहास इस बात का बड़ा भारी प्रमाण है। इस-लिए जब तक प्रत्यक्ष हानि न दीख पड़े, तब तक वाचिक स्वतन्त्रता को नष्ट न करना चाहिए।

मानसिक स्वतन्त्रता का विचार करने के पहले उसका अर्थ स्पष्ट करना होगा। धर्म, पारलौकिक उन्नति का प्रयत्न, व्यक्तिगत बात है। सूक्ष्म रीति से देखा जाय तो एक के धर्म से दूसरे का कुछ भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। जब तक कोई पुरुष अपने नैतिक और क़ानूनी कर्तव्य पूरे करता है, तब तक यह आवश्यक नहीं कि वह पुरुष अमुक ही धर्म

का पालन करे। क्योंकि वह उसके मन की बात है। वह चाहे जिस धर्म में विश्वास करे या किसी भी धर्म में विश्वास न करे। जब तक कोई मनुष्य सरकार और समाज के नियमों का पालन करता है, तब तक उसके मन के विचारों से दूसरों को क्या करना है? इस बात में वह पूर्ण स्वतन्त्र रहे और वह मन-चाहे धर्म का पालन करे। मानसिक स्वतन्त्रता का यह एक उदाहरण है। इसमें भी प्रत्यक्ष कर्म होते हैं, वे विचार केवल मन में नहीं बने रहते। केवल मन के विचारों पर किसी का दख़ल नहीं चल सकता। इसलिए ऐसी स्वतन्त्रता का विचार करना ही व्यर्थ है। ऐसी स्वतन्त्रता सदा बनी ही रहेगी। उसे कोई नियमित नहीं कर सकता। यहाँ जिस 'मानसिक स्वतन्त्रता' का उल्लेख है, उसमें केवल विचार ही नहीं तो कर्म भी होते हैं, पर ऐसे कर्मों का दूसरों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। पूर्ण मानसिक स्वतन्त्रता इसी अर्थ में वाञ्छनीय है। यह स्मरण रखना चाहिए कि दुनिया में मानसिक स्वतन्त्रता का विकास धीरे धीरे ही हुआ है। हिन्दुस्तान में कुछ अंश तक प्राचीन काल में भी मानसिक स्वतन्त्रता थी। यही कारण है कि आज हिन्दुस्तान में अनेक धार्मिक मत और अनेक धार्मिक पन्थ और उपपन्थ देख पड़ते हैं। तथापि यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जातिबन्धन ने कुछ अंश तक मानसिक स्वतन्त्रता अवश्य नष्ट की थी। मानसिक स्वतन्त्रता का वाचिक स्वतन्त्रता से कभी कभी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मन के विचारों को लिखकर या बोलकर प्रकट कर सकते हैं। यानी मानसिक स्वतन्त्रता के लिए उससे सम्बन्ध रखनेवाली वाचिक स्वतन्त्रता भी आवश्यक है।

(३) राष्ट्रीय स्वाधीनता का भी कभी कभी स्वतन्त्रता के नाम से ही उल्लेख होता है। इँग्लैंड स्वतन्त्र देश है, हिन्दुस्तान स्वतन्त्र देश नहीं है, इत्यादि वाक्यों में स्वतन्त्रता का यही अर्थ है। इस स्वतन्त्रता का महत्त्व सब पर विदित ही है। इसका अन्य तरह की स्वतन्त्रता पर भी भारी परिणाम होता है। क्योंकि परतन्त्र देश में

शारीरिक स्वतन्त्रता को सदैव डर बना रहता है। नहीं कह सकते कि ऐसे देश में यह स्वतन्त्रता कब हरण कर ली जावेगी। क़ायदों की दृष्टि से भी समानता का थोड़ा बहुत अभाव बना रहता है। कुछ लोगों को अधिक अधिकार होते हैं, तो कुछ लोगों को कम। कर्म-स्वातन्त्र्य, वाक्-स्वातन्त्र्य और मानसिक स्वातन्त्र्य पर बहुत से बन्धन बने रहते हैं। जायदाद का भी बहुत भरोसा नहीं रहता। राजकीय अधिकार बहुत कम होते हैं। स्वतन्त्र देशों में बहुधा इन सब प्रकार की स्वतन्त्रता अधिक ही हुआ करती है। यही कारण है कि लोग राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की इच्छा करते रहते हैं। हम कह ही चुके हैं कि राज्यविज्ञान के अनुसार 'राज्य' की परिभाषा में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का विचार पहले ही रखा है।

(४) राज्य-शासन-सम्बन्धी अधिकारों को भी कभी कभी स्वतन्त्रता ही कहते हैं। (क) किसी देश में डिस्ट्रिक्टकौंसिल, म्यूनिसिपैलिटी जैसा 'स्थानिक राज्यप्रबन्ध' लोगों के हाथ में अधिक, तो किसी देश में कम होता है। पहले प्रकार के देश में इस अर्थ से स्वतन्त्रता अधिक है। लोग अपने स्थान के छोटे मोटे राजकीय कामों को करने के लिए स्वतन्त्र' रहते हैं, क्योंकि उन्हें 'स्थानिक स्वराज्य' प्राप्त हो चुका रहता है। स्थानिक स्वराज्य के कर्मचारियों को लोग ही चुनते हैं और वे लोगों में से ही होते हैं। स्थानिक राज्य-प्रबन्ध में सरकार यथासम्भव बहुत कम हस्तक्षेप करती है। लोग अपने बहुत से कामों का प्रबन्ध करने के लिए बहुत कुछ स्वतन्त्र रहते हैं*। (ख) परन्तु इससे बढ़कर वे अपने अधिकार होते हैं कि जिनके अनुसार सरकारी उच्च कर्मचारियों के पद के लिए लोग अपने में से कुछ लोगों को चुनते हैं, कायदों के बनाने में भाग लेते हैं और शासनविभाग पर प्रत्यक्ष टीका-टिप्पणी करते हैं।

* इसका अधिक विवेचन 'स्थानिक स्वराज्य' वाले परिच्छेद में होगा।

सारांश लोकतन्त्र, या उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध* के कारण जो अधिकार प्राप्त होते हैं, उनका भी समावेश कभी कभी 'स्वतन्त्रता' में होता है। यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता बहुत ही वाञ्छनीय है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता रहने से काया, वाचा, कर्म और मन की स्वतन्त्रता पाने की सम्भावना अधिक रहती है। लोगों के प्रतिनिधि जहाँ शासक हैं और दूसरे लोक प्रतिनिधि आलोचक हैं, यानी जहाँ लोकतन्त्र और उत्तरदायी राज्य शासन है, वहाँ इन क्षेत्रों पर अधिक बन्धन होने की सम्भावना कम होती है। इसी कारण दुनिया में लोकतन्त्र और उत्तरदायी राज्य-शासन की इतनी प्रशंसा होती है। परन्तु हमारा यह कहना नहीं है कि इन सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं का अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध है। इतिहास और मनोविज्ञान से जो सम्भावना देख पड़ती है, उसी का केवल हमने उल्लेख किया है। नितान्त अनियन्त्रित राज्य-शासन में भी काया, वाचा, कर्म और मन बहुत कुछ स्वतन्त्र हो सकते हैं। तथापि अनियन्त्रित सत्ता का दुरुपयोग होने की सम्भावना अधिक है, और इतिहास इस बात का साक्षी है।

(५) परन्तु इसी के समान महत्त्व की स्वतन्त्रता कर्म-स्वतन्त्रता है। यदि वाचिक और मानसिक स्वतन्त्रता हो, तो कर्म की भी स्वतन्त्रता बहुतांश में होनी चाहिए। लोगों को अपने काम बिना रोक-टोक के करने देना चाहिए। परन्तु यह सम्भव है कि सरकार अच्छे विचार से ही लोगों के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप करे। कोई कोई सरकार अपने को हानि होने के डर से लोगों के कार्यों को रोका करती है। इसके विषय में वाद हो सकता है। परन्तु सम्भव है कि कोई कोई सरकार

---

† ऐसे राज्य-प्रबन्ध में सरकार के बहुत से कर्मचारी लोगों द्वारा ही चुने जाते हैं, और वे लोगों के अथवा उनके प्रतिनिधियों के प्रति अपने कार्यों के लिए 'उत्तरदायी' यानी जवाबदार रहते हैं। ऐसा राज्य-प्रबन्ध 'उत्तरदायी' कहलाता है। 'उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध' नामक परिच्छेद में इसका सविस्तर वर्णन है।

भलाई करने के विचार से ही वे भी कार्य अपने हाथ में ले ले कि जिन्हें लोगों को ही करना चाहिए। इसको अति-शासन (over-government) कहते हैं। इस प्रकार का शासन वाञ्छनीय नहीं है। तथापि इस विषय में लोकमत देशकालानुसार इतना बदलता रहता है कि किसी अति-शासन की मर्यादा निश्चित करना असम्भव है। एक देश में एक कार्य राज्य का कहलाता है, तो दूसरे देश में वही लोगों का कहलाता है। इतना ही नहीं किन्तु एक ही देश में एक कार्य एक समय लोगों का होता है, तो दूसरी बार वही कार्य राज्य का बन जाता है। शिक्षा हिन्दुस्तान में प्राचीन समय में लोगों का कार्य था; अब वही राजकीय कार्य हो गया है। बहुधा देखने में आता है कि जहाँ जहाँ अनियन्त्रित सत्ता रही है, वहाँ वहाँ कर्म की स्वतन्त्रता बहुत अधिक थी। आज-कल सब देशों में अनेक कार्य सरकार अपने हाथ में लेने लगी है। डाक, तार, रेल, व्यापार, सफ़ाई, इत्यादि इसी वर्ग के प्रश्न हैं। जहाँ कहीं देख पड़ता है कि बिना सरकारी हस्तक्षेप के व्यक्ति या व्यक्तिसमूहों को नुक़सान होने का डर है, या सरकारी सहायता या प्रबन्ध से कार्य अच्छे होंगे, वहाँ सरकार की सत्ता बीच में पड़े बिना नहीं रहती। आज-कल कायिक, वाचिक, मानसिक स्वतन्त्रता बढ़ रही है। परन्तु कर्म की स्वतन्त्रता के विषय में यही कहना होगा कि वह कम हो रही है। सरकारी शासन का क्षेत्र दिनों दिन बढ़ रहा है। आज यह तो कल वह कार्य सरकार के सिर पर लादा जा रहा है। आज-कल यह कल्पना रूढ़ है कि सरकार समाज की प्रतिनिधि होने के कारण उसे वे सब कार्य करने चाहिए कि जिनसे समाज की सर्व-सामान्य भलाई हो। व्यक्ति के कार्य सरकारी कार्य हो रहे हैं और दिनोंदिन अधिकाधिक क़ायदे बन रहे हैं। यह कथन सब देशों को एक समान लागू होता है।

३—नियमबद्ध स्वतन्त्रता के जितने लौकिक अर्थ हमने दिये हैं, उनका कोई वर्गीकरण करना आवश्यक है। कायिक, वाचिक, और

मानसिक स्वतन्त्रता और जायदाद और कर्म की स्वतन्त्रता से व्यक्ति व्यक्ति का विशेष सम्बन्ध होता है, राज्य और व्यक्ति का कम। इसलिए इन चारों प्रकार की स्वतन्त्रता को हम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य कहेंगे। स्थानीय स्वराज्य का अधिकार, निर्वाचन करने का और निर्वाचित होने का और शासन में भाग लेने का अधिकार राजकीय स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं। इसी के साथ वह भी कल्पना सम्मिलित करना चाहिए कि जिसके कारण क़ायदे की दृष्टि में सब कोई समान हैं—न कोई ऊँचा है न कोई नीचा है, न ग़रीब न धनी, न सरकारी न ग़ैर सरकारी। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का उल्लेख हम पहले करही चुके हैं। इस तरह स्वतन्त्रता के तीन क्षेत्र होते हैं। (१) व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, (२) राजकीय स्वातन्त्र्य और (३) राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य।

राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के विषय में अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं; पर किसी भी राज्य की नागरिक की दृष्टि से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और राजकीय स्वातन्त्र्य बहुत महत्त्व की बातें हैं। इनका अधिक विवेचन दूसरे और तीसरे भागों में स्थान स्थान पर रहेगा। स्वतन्त्रता के रक्षकों के कार्यों का विचार दूसरे भाग में रहेगा। अधिकार-विभाजन-तत्त्व, क़ानून-विभाग, न्याय-विभाग, शासन-विभाग, उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध, संयुक्त-शासन-प्रणाली, औपनिवेशिक राज्य-प्रबन्ध, स्थानिक राज्य-प्रबन्ध और पक्षमूलक राज्य-प्रबन्ध में नागरिक के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और राजकीय स्वातन्त्र्य का विचार रहेगा। साथ ही, इन दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता की रक्षा और उपयोग भिन्न-भिन्न देशों में किस प्रकार होता है, इसका भी उल्लेख रहेगा। तीसरे भाग में हम सरकार के कार्यों के क्षेत्र का विचार करेंगे। जायदाद, करार, आनुवंशिक अधिकार, ज़ुल्म के लिए दण्ड, उपद्रवों का अवरोध, क्षति की पूर्ति, इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर वहाँ दिया जावेगा और इनमें व्यक्ति व्यक्ति के सम्बन्ध का अधिक विचार रहेगा। कभी कभी राज्य को भी व्यक्ति का रूप प्राप्त हो जाता है। यानी सरकार-द्वारा राज्य व्यक्ति के समान अनेक

कार्य करता है और उनसे राज्य के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का सम्बन्ध होता है। उनका भी इस भाग में विचार रहेगा।

सारांश, दूसरे और तीसरे भाग में स्वतन्त्रता और शासन के क्षेत्र का, उनके लिए आवश्यक शासन-यन्त्र का और उसके कार्यों का विचार रहेगा। अब स्पष्ट होगया होगा कि एक दृष्टि से राज्यविज्ञान स्वतन्त्रता की मीमांसा ही है।

सातवाँ परिच्छेद

शासकों का बल-पूर्वक प्रतिरोध

अथवा राजक्रान्ति

१—गत तीन परिच्छेदों में देख चुके हैं कि स्वतन्त्रता नियमबद्ध, क़ायदों से परिमित, ही हो सकती है, अनियमित नहीं हो सकती। स्वच्छन्दता के समय में केवल बलवानों को छोड़कर और किसी को किसी बात की स्वतन्त्रता नहीं रहती। परन्तु कभी कभी क़ायदे व्यक्ति और राज्य के अस्तित्व के मूल उद्देशों के प्रतिरोधक हुआ करते हैं, जान-माल को ही रात-दिन भय बना रहता है, किसी बात का भरोसा नहीं रह जाता। क्या ऐसे समय में भी क़ायदों का दौरदौरा बिना रोक-टोक के चला रहे? कभी कभी तो क़ायदों का राज्य उठ जाता है और शासक की इच्छा का, मन की लहरों का, राज्य स्थापित हो जाता है। क्या ऐसे समय में भी लोग शासकों की आज्ञाओं का पालन करते रहें।

इन दो स्थितियों में से दूसरी का विचार प्रथम करेंगे। जब लोगों के जान-माल एक लहरी हुक्म से साफ़ हो जा सकते हैं, जब नियम और अनियम में कोई भेद नहीं रह जाता, 'शासक की इच्छा' जब क़ायदे का स्थान ले लेती है, तब लोग अपने कष्टों को सहन कर सकने तक सहते हैं। निदान, वे बलवा करने लगते हैं। शासक को बाहरी ज़ोर अच्छा रहा तो बात अलग है। अन्यथा, बहुधा उसकी सत्ता नष्ट हो जाती है। परन्तु कभी कभी शासक की मन-मानी चलती भी रहती है। प्रत्येक देश के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिल सकते हैं। जहाँ जहाँ राजा की सत्ता रही है, वहाँ तो

ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं। राजा के राज्य में लोग उसके इच्छा-शासन को यथाशक्ति सहते हैं, अतीव ही कष्ट होने पर लोग बिगड़ उठते हैं। इसलिए ऐसे बलवों को इतिहासकारों ने बुरा नहीं कहा है और न सिद्धान्त की दृष्टि से कोई उन्हें बुरा कह सकता है। सब स्वतन्त्रता नष्ट होने पर राज्य के उद्देश कहाँ रह जाते हैं? सब बातें आखिर को जीवन और उसके उद्देशों के लिए हैं। उनका ही पता न रहने पर राजकीय बन्धन मानने में क्या अर्थ है? ऐसी स्थिति में लोगों ने बलवे किये, तो कोई उन्हें बुरा नहीं कहता।

२—परन्तु दूसरी स्थिति का विचार इससे कुछ कठिन है। जहां कहीं लोकतन्त्र और उत्तरदायी राज्य-शासन है, वहां यदि शासक किसी कारण ज़ालिम क़ायदा बना ही डालें तो बहुधा यह सम्भव होता है कि वह क़ायदा जल्द ही रद हो जावेगा। सब दिशाओं से लोकमत का प्रवाह उसके विरुद्ध बहने लगेगा और सरकार को ऐसे क़ायदे को रद करना ही होगा। एक बार के प्रतिनिधियों ने बनाया तो दूसरी बार के प्रतिनिधि शायद उसे रद कर देंगे। सम्भावना तो यही है। यदि मुख्य शासक ज़ालिम रहा तो सम्भावना है कि वह क़ायदे के द्वारा दूर कर दिया जावे। यदि वह क़ायदों का उल्लङ्घन करे तब तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। उसे दूर करना लोगों का बाक़ायदा कर्त्तव्य ही बन जाता है। परन्तु यह सम्भव है कि प्रतिनिधि-सभा या मुख्य शासक बाक़ायदा जुल्म आरम्भ कर दें और इतने बलवान् हो जावें कि उन्हें दूर करना कठिन हो जाय। ऐसी अवस्था में क्या किया जाय? बाक़ायदा जुल्म केवल प्रजातन्त्र में ही नहीं किन्तु और और राज्यों में भी हो सकता है। या यह सम्भव है कि शासन बाक़ायदा होकर भी बहुत ख़राब रहे। देश का द्रव्य बाक़ायदा रीति से नष्ट किया जाय? या न्याय-विभाग को शासन-विभाग अपने हाथ में कर ले और उसके द्वारा लोगों को बाक़ायदा कष्टकारक और अनावश्यक दण्ड दिया करे। ऐसे समय में प्रश्न उपस्थित होता है कि लोग कहां तक

शासक की आज्ञायें मानें, या ज़ालिम शासन चलने दें या देश को हानि सहने दें ? सिजविक* का कहना है कि ऐसी स्थिति में बलवा करने का लोगों को नैतिक अधिकार है। 'बाक़ायदा अधिकार' तो हो ही नहीं सकता क्योंकि न इसे लोकाचार मान सकते हैं, और न यह कोई क़ायदा हो सकता है। क़ायदा और बलवा परस्पर-विरुद्ध बातें हैं। बलवा करने का अधिकार केवल नैतिक हो सकता है। 'परन्तु, हाँ, यह सब कोई मानेंगे कि जब तक ख़राब शासन की बुराइयाँ दूर करने का या सुशासन करने के लिए दिये हुए और अच्छी तरह से प्रस्थापित किये हुए वचनों का बार-बार भंग करने पर उन्हें पूरा करवा लेने का अन्य कोई शान्त उपाय न रह जाय, तब ही राज्यक्रान्ति या प्रतिरोध के ऐसे प्रयत्न किये जायँ।' ग्रीन साहब का कहना है कि ऐसी स्थिति में अधिकार का प्रश्न नहीं रह जाता, ऐसी स्थिति में 'राज्य-सत्ता का प्रतिरोध करना लोगों का कर्तव्य ही है।'†

३—परन्तु यही ऐसे प्रतिरोध का अधिकार केवल बहुसंख्यक लोगों को ही नहीं प्राप्त होता। लोग थोड़े हों या बहुत, दोनों का कर्त्तव्य समान ही है। राज्य-सत्ता के प्रतिरोध का बहुत संख्यक लोगों को केवल अधिकार के नाते कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता। जिन लोगों के जीवन के उद्देश नष्ट होते देख पड़ें उन्हें ही यह अधिकार प्राप्त होता है, चाहे वे लोग थोड़े हों या बहुत। केवल संख्या से और प्रतिरोध के अधिकार से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। जीवन के उद्देश के नष्ट होने पर या उसका डर उत्पन्न होने पर ही प्रतिरोध उचित कहा जा सकता है। लिखित या रूढ़ क़ायदे से यदि राज्य-सत्ता का कोई भाग बहुसंख्यक लोगों के हाथ में रहा, और उनके और उसी राज्य के दूसरी किसी सत्ता के बीच विरोध हुआ तो उन लोगों को

* Elements of Politics, p. 645.

† Principles of Political Obligation, p. 116, section 107

लोकहित की दृष्टि से प्रतिरोध का कर्त्तव्य लोगों के सिर पर आ पड़ता है, फिर उसमें सफलता मिले या न मिले। बार-बार ऐसा करने से ही लोकमत जागृत हो जाता है और फिर सरकार लोक-हित पर दृष्टि देने लगती है। और जिस प्रकार यह सत्य है कि अल्पसंख्यक लोग भी उचित अवस्था में कर्त्तव्य समझकर बहुसंख्यक लोगों का प्रतिरोध करें, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि एकतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र * का प्रतिरोध बहुतेरे लोगों को सम्मत है इसी कारण वह उचित नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि लोगों की मनोवृत्ति उच्छृङ्खल होगई हो या लोग अधीर होगये हों। और ऐसे समय में प्रतिरोध से शायद राज्य के उद्देश ही नष्ट हो जायँ और कुछ भी लोक-हित न सधे†।

४—सिजविक‡ ने भी कहा है कि बहुसंख्यक लोगों को ही नहीं किन्तु अल्पसंख्यक लोगों को भी प्रतिरोध का यह अधिकार है। आप कहते हैं, "कुछ लोगों की ऐसी समझ है कि जब लोकतन्त्र अच्छी तरह प्रस्थापित हो चुका है, तब बलवे का अधिकार नहीं रह जाता। क्योंकि "सर्वसमाज" का अधिकार सदा श्रेष्ठ रहता है। और उनके विरुद्ध थोड़े लोगों का प्रतिरोध अ-नैतिक दीखता है। दूसरे, वह विफल भी होगा, क्योंकि सर्वसमाज की शक्ति बड़ी भारी रहेगी। इन दोनों कारणों में थोड़ा बहुत तथ्य अवश्य है। परन्तु कोई अटल सिद्धान्त निकालने के लिए वे युक्तियाँ यथेष्ट नहीं हैं।"

---

* जहाँ राज्य-शासन थोड़े से धनी अथवा पढ़े लिखे लोगों के हाथ में है और वे उससे अपना स्वार्थ विशेष सिद्ध करते हैं, वहाँ का शासन कुलीनतन्त्र कहला सकता है।

† Green : Principles of Political Obligation, pp. 116-118.
‡ Sidwick : Elements of Politics, pp. 645-648.

"मेरी समझ में समाज को अधिकार है कि उसने जो कुछ नियम लोकहित की दृष्टि से बनाये हों, उनका पालन वह करवावे। यदि यह प्रश्न उठा कि उनमें लोकहित का गुण है या नहीं तो सम्भावना यही रहेगी कि थोड़े लोगों के बनाये नियमों की अपेक्षा बहुतेरे लोगों के बनाये नियम अधिक लोकहितकारक होंगे।.....परन्तु जहां दोनों दल बराबर हैं वहाँ यह सम्भावना बहुत कम हो जाती है। और कभी कभी यह सम्भव है कि यथेष्ट बहुतेरे लोग एक ओर रहने पर भी वे अनेक कारणों से ग़लती में रहें। क्योंकि जिधर थोड़े लोग हैं उधर के लोग शायद पढ़े-लिखे और सोच-समझदार हों। या, थोड़े लोगों का बहुसंख्यक समाज ने इतना अहित कर दिया हो कि उनका किया हित उस अहित के सामने कुछ भी न दीख पड़े। या यह भी सम्भव है कि सबसमाज के अन्तिम उद्देशों से किसी कारण अल्पसंख्यक लोगों के तात्कालिक या प्रत्यक्ष उद्देश अधिक मिलते-जुलते हों और अधिक लोगों के तात्कालिक या प्रत्यक्ष उद्देश इस प्रकार मिलते जुलते न हों।"

"कभी कभी, दबे रहने से होनेवाली हानि प्रतिरोध से होनेवाली हानि की अपेक्षा बहुत कम होती है।......प्रतिरोध के कारण यदि बहुत दृढ़ हों तो सम्भव है कि बहुसंख्यक समाज उनसे मेल कर ले और इस प्रकार असंतोष के कारण दूर हो जायँ।......इसी प्रकार, झगड़े की सम्भावना दीखने से असन्तोष के बीज दूर कर दिये जायँ। सारांश, जिन लोगों के हाथ में लोकतन्त्र के सूत्र हैं, उन पर झगड़े के भय का अच्छा परिणाम होने की सम्भावना है।

"इसलिए मैं समझता हूँ कि पूर्ण लोकतन्त्र में भी लोगों को राज्य-शासन का प्रतिरोध करने का नैतिक अधिकार है।"

४—बहुसंख्यक लोगों का ही अधिकार सब जगह मान्य नहीं हो सकता। सम्भव है कि एक देश के किसी एक भाग के, उदाहरणार्थ एक प्रान्त या ज़िले के, बहुसंख्यक लोग उस राज्य के विरुद्ध हों। ऐसी

अवस्था में राज्य के उस भाग के लोगों का प्रतिरोध का अधिकार क्या माना जा सकता है? ऐसा मानने से तो राज्य के टुकडे टुकड़े हो जावेंगे। यदि ये लोग राज्य के लोगों की संख्या में से बहुत थोड़े हैं तो वे देश छोड़कर जा सकते हैं। परन्तु चाहे जब बलवा करने का या राज्य से अलग होने का उनका अधिकार नहीं माना जा सकता। सम्भव तो यह है कि लोक-तन्त्र में स्थानीय राज्य-प्रबन्ध का अच्छा विकास हुआ हो। और इस तरह असन्तोष के बहुतेरे कारण दूर हो जायँ। परन्तु, हाँ कभी कभी राज्य के टुकड़े होने से ही सबका हित होता है। विशेषकर, जहाँ समुद्र के कारण अंतर बहुत पड़ गया है या प्राकृतिक सीमायें इतनी विकट हैं कि आवागमन जल्द नहीं हो सकता, या क़ौम या धर्म की भिन्नता के कारण या प्राचीन इतिहास अथवा प्रचलित सामाजिक रीतियों की भिन्नता के कारण उनका हिता-हित बिलकुल भिन्न और परस्पर-विरुद्ध होगया हो, वहाँ एक राज्य-शासन किसी काम का नहीं। या यदि दो राज्य एक में जोड़े जा रहे हैं, और उस समय उनके बहिर्देशीय सम्बन्ध भिन्न हैं, तो उनके संयोग से कोई लाभ नहीं। हाँ, यदि इन राज्यों से एक सच्चा स्वाभाविक विभाग बनता हो तो बात अलग है। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय गर्व या ऐतिहासिक अभिमान के विकार को दूर करना चाहिए और सच्चे स्वाभाविक विभागों का एक राज्य बनने देना चाहिए या एक राज्य के एक से अधिक स्वाभाविक विभागमूलक राज्य बनने देना चाहिए। परन्तु जब कभी यह डर रहे कि ऐसे एकीकरण या विभाजन से बाहरी सत्ताओं को बीच में पड़ने का अच्छा मौक़ा मिलेगा, उस समय ऐसा करना ठीक नहीं। इस विषय का अधिक विवेचन अन्य स्थानों में होगा।

६—सारांश, राज्य में क्रान्ति कई तरह की हो सकती है। (१) किसी उद्देश के बिना प्रचलित शासन का नाश करना अराजक क्रान्ति है। राज्यविज्ञान में इसका विचार नहीं हो सकता। (२) राज्य के प्रबन्ध का स्वरूप बदलने के लिए भी क्रान्ति हो सकती है। लोगों

को प्रतिनिधियों के निर्वाचन के अधिकार देना या क़ायदे के लिए उनकी सम्मति की आवश्यकता प्रस्थापित करना, या शासन-विभाग—न्याय-विभाग—क़ानूनविभाग के परस्पर सम्बन्ध बदलना या इन विभागों की रचना में परिवर्तन करना इत्यादि इसके उदाहरण हैं। सारांश में इसे राज्य-सङ्गठन-विषयक क्रान्ति कह सकते हैं। (३) राज्य के कर्म-चारियों को बदलने का प्रयत्न कभी कभी हुआ करता है। राज्यक्रान्ति का यह बिलकुल सौम्य स्वरूप है। परन्तु इसके लिए इतिहास में जानमाल का ख़ून-ख़राबा हुआ है। जब जब किसी दुष्ट कर्मचारियों को लोग और किसी प्रकार दूर नहीं कर सके हैं, तब इस शस्त्र का प्रयोग करने के लिए वे बाध्य हुए हैं। परन्तु बिना प्रसंगविशेष के जाने यह नहीं कह सकते कि अमुक राज्य-क्रान्ति उचित थी या अनुचित। थोड़े से लोगों के स्वार्थ की पूर्ति के लिए इस प्रकार की राज्य-क्रान्तियाँ कम नहीं हुई हैं। (४) एक राज्य के नागरिक रहने पर दूसरे राज्य के नागरिक होना राज्य-क्रान्ति ही है। क्योंकि जो लोग एक राज्य-प्रभुता को छोड़कर दूसरी को स्वीकार करते हैं, वे दूसरे समाज के अंग बन जाते हैं। (५) दो राज्यों का एक राज्य होना, एक राज्य के दो या अधिक टुकड़े हो जाना या एक राज्य की भूमि में दूसरे राज्य की कुछ भूमि और उसके साथ वहाँ के लोगों का जुड़ जाना इत्यादि राज्य-क्रान्ति ही है।

सारांश, जब कभी राज्यप्रभुता का क्षेत्र बदलता है, तो राज्य में क्रान्ति हो जाती है। इस परिभाषा में केवल कर्मचारियों का परि-वर्तन शामिल नहीं है। क्योंकि ऐसा करने पर भी राज्य का स्वरूप वही बना रहता है। परन्तु विशिष्ट कर्मचारियों का विचार करें तो वह भी राज्यक्रान्ति कहला सकती है। क्योंकि राज्यसत्ता एक हाथ से दूसरे हाथ में चली जाती है।

७—राज्यक्रान्ति के समय लोगों के मन में एक प्रश्न उठ सकता है। ऐसे समय बहुधा दो पक्ष हुआ करते हैं। विचारवान् मनुष्य

किस पक्ष में शामिल हो ? राज्य-सत्ता पर अधिकार किसी का नहीं रह जाता, दोनों समान हो जाते हैं। इस कारण, यह प्रश्न बड़ा विकट बन बैठता है। यदि यह स्पष्ट दीख रहा है कि एक पक्ष बिलकुल न्याय्य है तो समस्या एक-दम हल हो जाती है। विचारवान् और निःस्वार्थी पुरुष न्याय्य पक्ष में ही शामिल होंगे। परन्तु कौन पक्ष न्याय्य है, कौन अन्याय्य, यह कैसे जानें ? ऐसे समय में दो ही उचित मार्ग देख पड़ते हैं। एक तो यह कि यदि बन सके तो किसी भी पक्ष में शामिल न होना। या दूसरे, जो लोग अपनी सत्ता प्रस्थापित कर सकें उनको राजकीय सत्ताधिकारी मान लेना। क्योंकि बाक़ायदा सत्ता का यह लक्षण है कि लोगों पर उसका प्रभाव बना रहे । यदि लोगों पर से उसका प्रभाव उठ गया, तो लोग उसकी जगह में प्रस्थापित होनेवाली सत्ता को मानने के लिए बाध्य ही हैं। और कुछ काल के बाद यही नई सत्ता 'प्रस्थापित' सत्ता हो जावेगी । "राज्यक्रान्ति विफल होने पर ही बलवा या ग़दर कहलाती है* ।" सफल होने पर और लोगों के मान लेने पर वही बाक़ायदा हो जाती है । लोगों के मानने से ही 'अधिकार' प्राप्त होता है। 'प्रचलित राज्य-सत्ता' फिर 'बाक़ायदा राज्य-सत्ता' हो जाती है।

८—इसलिए, 'प्रचलित राज्य-सत्ता' और 'बाक़ायदा राज्यसत्ता' दोनों एक ही हाथों में होनी चाहिए। क्योंकि जिनके हाथ में राज्य-सत्ता वास्तव में है, वे उसे कमज़ोर और सत्ताहीन लोगों के हाथ में नहीं देना चाहते। परन्तु यह भी सत्य है कि केवल भौतिक बल से जो सत्ता प्रस्थापित होती है, उसे लोग जल्द मानना नहीं चाहते। लोग 'गतानुगतिक' होते हैं, इसलिए राज्य-सत्ता पर 'बाक़ायदा' की छाप होना आवश्यक है । परन्तु यह भी आवश्यक है कि वह अपना अधिकार चला सके। लोग यथासम्भव प्रचलित बाक़ायदा सत्ता के

* Gattel : Introduction to Political Science, p. 104.

हुक्म मानने को तैयार रहते हैं। यथासम्भव वे अपने कष्टों के कारणों को 'बाक़ायदा' रीति से ही दूर करने का प्रयत्न करते हैं। बहुत सा ज़ुल्म, बहुत सा कुशासन, अधिकारों का बहुत सा दुरुपयोग, वे सह भी लेते हैं। क्योंकि राज्यक्रान्ति के परिणामों की कोई निश्चितता नहीं रहती। हाँ, यह अवश्य निश्चित है कि जान और माल का ऐसे समय में ख़ून ख़राबा होता है। इसलिए लोग अन्तिम अवस्था में ही अन्तिम उपाय का अवलम्बन करते हैं। ऐसी अवस्था में दुनिया उन्हें ठीक ही कहेगी और इस बात का उनका नैतिक अधिकार मानेगी। 'नियमबद्ध स्वतन्त्रता' की रक्षा के लिए इस 'अनियमित स्वतन्त्रता' का उपयोग इतिहास में करना पड़ा है। लोकतन्त्र के बढ़ने से यह डर दुनिया में कम हो रहा है। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि लोक-तन्त्रवाले देशों में भी आन्तरिक झगड़े हुए हैं। कह नहीं सकते कि ऐसा समय कब आवेगा कि जब उनकी आवश्यकता सदैव के लिए दूर हो जावेगी।

आठवाँ परिच्छेद

राज्यों राज्यों का परस्पर सम्बन्ध

१. राज्य के जो लक्षण बतलाये, उसमें यह एक प्रधान लक्षण है कि राज्य पर किसी बाहरी सत्ता का अधिकार नहीं रहता—राज्य सदा स्वतन्त्र, स्वाधीन, पराई सत्ता के प्रभाव के परे, रहता है। परन्तु एक राज्य की भूमि दूसरे राज्य की भूमि से लगी रहती है। और इस कारण दो शरीरों के समान राज्य बिलकुल भिन्न नहीं हो सकते। किन्हीं भी दो शरीरों का कोई मूर्त सम्बन्ध नहीं होता, वे आपस में नहीं जुड़े रहते। परन्तु सारी पृथ्वी एक है, उसके जो कुछ टुकड़े किये गये हैं वे क़रीब क़रीब कृत्रिम हैं। कुछ टुकड़ों को 'स्वाभाविक' कहते अवश्य हैं, परन्तु इसका इतना ही अर्थ है कि उन्हें कुछ स्पष्ट स्वाभाविक चिह्नों ने अलग अलग कर दिया है। परन्तु इस बात में दो राज्य दो शरीरों के समान नहीं हो सकते। पर्वत द्वारा या समुद्र द्वारा, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, वे जुड़े अवश्य रहते हैं। इस कारण, एक राज्य से दूसरे राज्य का सम्बन्ध प्रस्थापित होता है। लोग आते जाते हैं, चीज़ें आती जाती हैं, व्यापारादि व्यवहार बढ़ते हैं, आर्थिक, राजकीय, सामाजिक, धार्मिक आदि कारणों से झगड़े होने का डर रहता है। कभी कभी स्वहित के लिए भी उन्हें व्यवहार करना पड़ता है। इन अनेक प्रकार के व्यवहार मनमाने नहीं चल सकते। व्यवहार करनेवाले होते हैं मनुष्य जो अनेक बातों को नियमों के अनुसार चलाने का प्रयत्न करते हैं और उन्हें नियमों के अनुसार चलना भी पड़ता है। जो दूसरे पर बीतेगी, वही निज पर भी बीतने की सम्भावना रहती है। इसलिए मनुष्य को सोच-विचार कर चलना पड़ता है। इस तरह राज्यों को

भी परस्पर के व्यवहार में कुछ नियमों का अवलम्बन करना पड़ता है। जिन नियमों का बहुधा सदैव पालन होता है, वे समाज में क़ायदा कहलाते हैं। और राष्ट्रों राष्ट्रों के व्यवहार के नियमों को 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदा' कहते हैं।

परन्तु क्या वे वास्तविक अर्थ में क़ायदा कहला सकते हैं? क़ायदे की परिभाषा में हमने यह एक लक्षण बतलाया है कि उनका प्रवर्तन किसी राजकीय सत्ता के द्वारा हो। इन 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों' का प्रवर्त्तन किसी राजकीय सत्ता के द्वारा नहीं हो सकता। क्योंकि राज्यों के ऊपर और कोई सत्ता नहीं हो सकती। ऐसी सत्ता रहने से उनकी स्वाधीनता नष्ट होती है। स्वाधीनता के नष्ट होने से वे राज्य नहीं कहला सकते। सारांश, 'क़ायदे' की वास्तविक परिभाषा के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों' को क़ायदे का स्वरूप नहीं प्राप्त हो सकता।

२. इन क़ायदों का और उनकी कल्पना का इतिहास योरपीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है। योरपीय इतिहास अच्छी तरह से जिन्हें मालूम नहीं है, उन्हें इन क़ायदों का इतिहास विशेष रोचक न होगा। और अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों का स्वरूप समझने के लिए उसका बहुत अधिक उपयोग भी नहीं है। इस कारण यहाँ हम वह इतिहास नहीं लिखते, तथापि इन क़ायदों का जन्म कैसे हुआ और होता है, यह बतलाना आवश्यक है। क्योंकि इससे इन क़ायदों के स्वरूप को जानने में बड़ी सहायता होगी।

(१) प्राचीन काल में रोमीय साम्राज्य बड़ा प्रसिद्ध था। वह बड़ा विस्तीर्ण और शक्तिमान् था। रोम में अनेक राष्ट्रों के लोग आकर बसा करते थे। रोम की राजकीय सत्ता उनको अपने यहाँ के क़ायदे लागू करना नहीं चाहती थी। जिन अनेक राष्ट्रों के लोग वहां आकर बसे थे, उनके क़ायदों में जो सर्व-सामान्य नियम देख पड़ते थे, उनके अनुसार इन विदेशीय लोगों के व्यक्तिगत और व्यापारी झगड़े वे निपटाया करते थे। इस प्रकार ये नियम बढ़ने लगे। वे अनेक राष्ट्रों

के लोगों को लागू किये जाते थे, इस कारण वे 'राष्ट्रों के क़ायदे' (gus gentium or Law of the Nations) कहे जाने लगे। और जब 'प्रकृति के नियमों' वाला सिद्धान्त※ रोम में ज़ोर पकड़ने लगा, तब इन क़ायदों को भी वही लागू होने लगा। ये नियम 'प्रकृति के नियम' कहे जाने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों का पहला उद्गम यहाँ से हुआ। परन्तु 'राष्ट्रों के क़ायदों' में और 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों' में बहुत भेद हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे राष्ट्रों राष्ट्रों के व्यवहार के नियम हैं। रोमीय 'राष्ट्रों के क़ायदे' विदेशीय व्यक्तियों के लिए बन व्यक्तिगत और विशेषकर व्यापारी व्यवहार के नियम थे। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों के नियमों का पालन भिन्न भिन्न राष्ट्र अपनी अपनी ख़ुशी से करते हैं। रोमीय 'राष्ट्रों के क़ायदे' रोम की सत्ता से यानी रोम की अदालतों द्वारा प्रवर्तित होते थे। इसलिए रोमीय 'राष्ट्रों के क़ायदे' आज कल के 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे' नहीं हैं। तथापि यह सत्य है कि रोमीय 'राष्ट्रों के क़ायदों' का 'अन्तर्राष्ट्रीय' नियमों के विकास पर बड़ा भारी परिणाम हुआ है। औचित्य, न्यायबुद्धि, तर्कबुद्धि इत्यादि के अनुसार जो निर्णय होगा वह बहुत बातों में सदैव मिलता-जुलता रहेगा। क्योंकि मनुष्य की कुछ कल्पनायें सदैव सामान्य होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों में भी औचित्य, न्यायबुद्धि, तर्कबुद्धि आदि का पूरा उपयोग हुआ है।

रोम के इन्हीं क़ायदों का नहीं बरन ख़ास रोम के, रोमीय नागरिकों नागरिकों को लागू होनेवाले, क़ायदों का भी आज-कल के अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। रोमीय क़ायदे के अनुसार सब नागरिक क़ायदे की दृष्टि से बराबर दर्जे के समझे जाते थे। इसी से यह कल्पना उत्पन्न हुई कि सब राज्य भी बराबर दर्जे के होते हैं और वे स्वतन्त्र होने चाहिए।

※इसका कुछ विवेचन चौथे परिच्छेद में हो चुका है। पृष्ठ ७७-७८ देखिए।

(२) ग्रन्थों का भी इनके विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ा है और पड़ता है। इतिहास और जीवन-चरित्र से युद्ध, राज-दूतत्व (diplomacy) और सन्धियों के विषय का बहुत-सा हाल प्राप्त हो सकता है। उनसे राष्ट्रों राष्ट्रों के सम्बन्ध जान जा सकते हैं और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का विकास हो सकता है। परन्तु इनसे भी अधिक व्यवस्था-विज्ञानियों का प्रभाव पड़ता है। प्रत्यक्ष व्यवहार के नियमों की अथवा औचित्य-अनौचित्य के नियमों की शास्त्रीय पद्धति से कई विद्वानों ने जांच की है। उनमें से कई के नाम बड़े प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहां उनके नाम बतलाने से विशेष लाभ नहीं। इतना स्मरण रखना चाहिए कि व्यवस्था-विज्ञानियों के गवेषणा-पूर्ण विवेचनों का अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे के विकास पर भारी प्रभाव पड़ा है।

(३) आधुनिक सन्धियों का तथा राज्यों के प्रतिनिधियों की सभा-समितियों का बहुत ही भारी प्रभाव पड़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों में करार सम्बन्धी जितने नियम हैं, उनका विकास बहुतांश में सन्धि-पत्रों से तथा सभा-समितियों के निश्चय से हुआ है। और यह स्मरण रखना चाहिए कि राज्यों राज्यों के व्यवहार में करार-सम्बन्धी नियम स्वभावतः ही अधिक रहते हैं।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय परिषदें भी अनेक हुई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का फ़ैसला करने के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें भी बैठी हैं। इनके निर्णयों से अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों के कुछ कम नियम नहीं बने।

(५) राज्यों राज्यों के आन्तरिक क़ायदों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इतना ही नहीं किन्तु राज्यों की भीतरी अदालतों का भी कुछ परिणाम हुआ है। नज़ीरें देते समय राज्यों की बड़ी अदालतों के निर्णयों पर नज़र जाना स्वाभाविक है। नागरिकता, उदासीनता, (यानी तटस्थ वृत्ति) सामुद्रिक कर, सेना, जहाज़ आदि के नियम राज्य के ही बने रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए उनका यथासम्भव अवश्य उपयोग हुआ है।

(६) राजकीय वकीलों के पत्र-व्यवहार या दूसरे सरकारी कागज़ों से भी अनेक नियम बने हैं। इस तरह से जो अनेक नियम जाने गये हैं और जाने जाते हैं उनका यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में उपयोग हुआ, तो वे 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे' बन जाते हैं।

सारांश, किसी राज्य के भीतरी क़ायदे का विकास जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार इन क़ायदों का भी विकास होता है। यहां किसी व्यवस्था-विभाग-द्वारा क़ानून का निर्माण नहीं होता, पर इसकी तुलना प्रत्यक्ष करार या अन्तर्राष्ट्रीय सभा-समितियों में बनाये नियमों से कर सकते हैं। लोक-व्यवहार के नियमों के समान नियम यहां हैं ही, अदालतों का और व्यवस्था-विज्ञानियों का भी प्रभाव उन पर पड़ता है। युद्ध-काल के लिए, व्यापार के लिए, नागरिता के लिए, लोगों के आने-जाने के नियन्त्रण के लिए, राज्यों को अपने निजी लोगों के लिए जो नियम बनाने पड़ते हैं, वे कुछ अंश में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से हुक्मनामे यानी हुक्मी क़ायदों के समान देख पड़ते हैं। इस प्रकार दोनों तरह के क़ायदों के विकास में बहुत कुछ समानता देख पड़ती है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायतों से अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों के सम्बन्ध का हम कुछ अधिक विचार करेंगे।

जिस प्रकार व्यक्ति व्यक्ति के व्यवहारों का निपटारा करने के लिए पञ्चायत होती है, उसी प्रकार राज्यों राज्यों के व्यवहार के लिए राज्यों के प्रतिनिधियों की पञ्चायत होती है। अन्तर्राष्ट्रीय पञ्चायती साठ सत्तर साल से ही अधिक बढ़ी है। पहले भी सब देशों में यह पद्धति रही और उसका थोड़ा बहुत उपयोग होता ही रहा, परन्तु उन्नीसवीं सदी में इसका अधिक विकास हुआ है। युद्ध का खर्च बढ़ता गया, और व्यापार भी बढ़ता गया। व्यापार पर युद्ध का बड़ा बुरा परिणाम होता है। ऐसे समय में यथासम्भव कोई भी राष्ट्र युद्ध नहीं चाहता। इतना ही नहीं, अब सब राष्ट्र आर्थिक और व्यापारी दृष्टि से परस्परावलम्बित हो गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों का उलट पुलट

जाना बहुत हानिकारक होता है। इसलिए यथासम्भव मेल-जोल से पञ्चायतों के द्वारा राज्यों के बीच के झगड़े निपटाने की प्रवृत्ति बढ़ी। यह सत्य है कि अभी तक इस पद्धति ने अच्छा ज़ोर नहीं पकड़ा है।* परन्तु कुछ झगड़ों का निपटारा इस प्रकार हुआ अवश्य है। सीमाओं के निश्चय के लिए सन् १८२७ और सन् १८४६ में ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका के संयुक्त राज्य के बीच इस पद्धति का उपयोग हुआ है। १८७१ में अमरीका का जो नुक़सान हुआ था उसकी पूर्ति इसी प्रकार की गई थी। इस प्रकार कुछ नहीं तो सौ मामले गत सदी में तय हुए हैं।

इससे बढ़कर एक बात और हुई है। कायम अदालत प्रस्थापित करने का प्रयत्न हुआ है। १८९९ में सब प्रधान राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की सभा हेग† में हुई। वहां के निर्णय के अनुसार एक कायम अदालत प्रस्थापित हुई है। इस अदालत के स्वरूप और कार्य-विधि का भी निश्चय हो चुका है। इस अदालत के सामने अपने झगड़े लाने के लिए राष्ट्र बाध्य नहीं किये जा सकते। तथापि जिस किसी को शान्तता से अपने झगड़े निपटा लेना हो, उसके लिए मार्ग बन गया है। कई संधिपत्रों में इस अदालत के उपयोग करने का वचन दिया जा चुका है। और धीरे धीरे इस अदालत का महत्त्व बढ़ रहा है।

तथापि इतना अवश्य कहना चाहिए कि कोई राज्य बाक़ायदा बाध्य नहीं किया जा सकता कि इस अदालत के सामने अपने झगड़े अवश्य लावे। 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदा' इस अर्थ में क़ायदा है ही नहीं। पहले दुनिया के नैतिक मत का प्रभाव डाला जाता है, पीछे सङ्घशक्ति का यानी प्रत्यक्ष भौतिक बल का भी डर दिखलाया जाता है। इतने पर

---

*गत योरपीय महायुद्ध इसका एक उदाहरण है। † हॉलैंड का एक शहर।

जो न माने वह किसी भी रीति का अवलम्बन करे और उसके परिणामों को सहे। गत योरपीय युद्ध इसका एक उदाहरण है। परन्तु इसी का यह परिणाम है कि राष्ट्रसङ्घ (League of Nations) की कल्पना उत्पन्न हुई है। आज इस सङ्घ का ज़ोर यथेष्ट नहीं है, तथापि आशा की जा सकती है कि वह आगे बढ़ जावे और भविष्य के युद्धों को रोकने का भारी प्रयत्न करे।

४. इतने विवेचन से अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों के स्वरूप का ठीक ठीक पता लग सकता है। राजकीय सत्ता के द्वारा जिस प्रकार राज्य के भीतर क़ायदे प्रवर्त्तित होते हैं, उस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे नहीं हो सकते। क्योंकि सब राज्य स्वतन्त्र हैं। उनको बाक़ायदा बाध्य करने के लिए उन्हें किसी सर्वोच्च राजकीय सत्ता के अधीन रखना होगा। परन्तु इस अधीनता से उनका राज्यत्व निकल जावेगा। इसलिए इन क़ायदों का प्रवर्तन संसार के आचार पर ही निर्भर है।

परन्तु ये क़ायदे केवल नीति के नियम नहीं हैं। लोकाचार से ये अधिक उच्च दर्जे के माने जाते हैं। न्यायबुद्धि का इनमें भरपूर उपयोग हुआ है। जब कभी पञ्चायतों या अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों के सामने मामले पेश होते हैं, तो सब कार्य यथाविधि किया जाता है, लेखकों के मत उद्धृत किये जाते हैं और उनको आदर मिलता है। इस प्रकार जो निर्णय होते हैं, उनका प्रवर्तन राज्य की सरकारें अपने नागरिकों पर करती हैं। और इस प्रकार मामूली क़ायदे के समान ही उनका लोगों पर परिणाम होता है और लोगों को मानना भी पड़ता है। राज्य के मानने पर उस राज्य का कोई व्यक्ति नाहीं नहीं कर सकता—प्रत्येक को तदनुसार आचरण करना ही पड़ता है। प्रेसिडेंट विलसन ने कहा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों का स्थान मामूली क़ायदों के और नीति के बीच है*।' उसमें क़ायदे के अनेक लक्षण हैं, पर अपने बल से उनको अमल में लानेवाली कोई सत्ता नहीं है।

---

† Woodrow Wilson: The State, p. 604 (old edition).

नवाँ परिच्छेद

अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों के विषय और कुछ नियम

१. राष्ट्रों राष्ट्रों के सम्बन्ध के दो भाग किये जा सकते हैं। एक तो शान्तता के समय के, दूसरे युद्ध के समय के। युद्ध के समय में सब ही राष्ट्र युद्ध में नहीं लगे रहते, कुछ उदासीन रहते हैं यानी तटस्थ वृत्ति धारण करते हैं। युद्धमान राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध कुछ होंगे और तटस्थ राष्ट्रों के उनसे सम्बन्ध कुछ और होंगे। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे के तीन भेद किये जा सकते हैं:—

(१) शान्तता के समय राष्ट्रों राष्ट्रों का सम्बन्ध।
(२) युद्ध के समय युद्धमान राष्ट्रों का सम्बन्ध।
(३) युद्ध के समय युद्धमान और तटस्थ राष्ट्रों का सम्बन्ध।

मामूली समय के कर्तव्य और अधिकारों के उपभेद किये जा सकते हैं। स्वतंत्रता, समता, जायदाद, अधिकार-क्षेत्र और राजकीय व्यवहार की दृष्टि से ये उपभेद हो सकते हैं। इनका हम क्रमशः विचार करेंगे।

२. राज्यप्रभुता का एक लक्षण यह है कि राज्य पूर्ण स्वतन्त्र हो, दूसरी सत्ता का उस पर हुक्म न चले। इसलिए प्रत्येक राज्य को अधिकार है कि वह अपने कार्य पूर्ण स्वतन्त्रता से करे, उसमें दूसरों का हस्तक्षेप न होने दे। इतना ही नहीं, बरन उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के कामों में हस्तक्षेप न करे। यह बात तभी शक्य होती कि जब राज्यों राज्यों को परस्पर से कोई वास्ता न रखना पड़ता। परन्तु गत परिच्छेद में हम देख चुके हैं कि उन्हें भी

परस्पर से वास्ता रखना पड़ता है। व्यक्ति एक राज्य के अङ्ग होने के कारण उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, जो कुछ स्वतन्त्रता मिल सकती है वह केवल नियमबद्ध ही। यही हाल कुछ अंश में राज्यों का भी है। सिद्धान्त की दृष्टि से वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं। परन्तु व्यवहार तो करने ही होते हैं, और ये व्यवहार किसी नियम के अनुसार ही करने चाहिए। यानी व्यवहार के लिए उन्हें अपनी स्वतन्त्रता को नियन्त्रित और नियमित करना पड़ता है। इसी प्रकार, सुलहनामों से भी उनकी (राष्ट्रीय) स्वतन्त्रता परिमित और नियमित होती है। नियमितता और परिमितता के कम-अधिक प्रमाण से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता भी कम-अधिक होती है। तथापि इतना फिर से कहना चाहिए कि सिद्धान्त के अनुसार वे पूर्ण स्वतन्त्र हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे वास्तव में 'क़ायदे' हैं ही नहीं। माने तो क़ायदे, नहीं तो रद्दी काग़ज़। इस कारण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने के मौके भी कम आते हैं। जब कभी इस स्वतन्त्रता में वास्तविक हस्तक्षेप होता है, तब बल का प्रयोग या उसके प्रयोग की धमकी का उपयोग करना पड़ता है। यह बलपूर्वक हस्तक्षेप है। सलाह, मध्यस्थता, अथवा पञ्चायती से यह बात भिन्न है। क्योंकि इन अन्तिम रीतियों में बल के प्रयोग की कल्पना नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों के अनुसार बलपूर्वक हस्तक्षेप निम्न-लिखित स्थिति में कर सकते हैं।

(१) आत्मरक्षा की आवश्यकता। आत्मरक्षा के समय एक राज्य के व्यक्ति जिस प्रकार इस बात के लिए बाध्य नहीं कि सब क़ायदों का वे उस समय पालन करें, उसी प्रकार राज्य भी कर सकते हैं। हाँ, आत्मविनाश का भय इतना स्पष्ट, प्रत्यक्ष तथा यथेष्ट रहे कि उसके निवारण के लिए बल के प्रयोग की आवश्यकता स्पष्ट देख पड़े।

(२) जब कभी सन्धिपत्रों की शर्तें तोड़ी जावेंगी तब इसका प्रयोग न्याय्य समझा जावेगा। और यदि उसके प्रयोग की बात सन्धिपत्र में लिखी हो तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। बल का प्रयोग जितना

और जिस रीति से करने की शर्ते मन्जूर हो गई हो, उतना वह सब उचित ही होगा।

(३) यदि कोई राज्य अन्यायपूर्वक हस्तक्षेप करे तो उसे रोकने के लिए या उसके हस्तक्षेप का अन्त शीघ्र करने के लिए यह उपाय उचित हो सकता है। इतना ही नहीं, बरन एक मित्र राष्ट्र को बचाने के लिए भी इस उपाय का अवलम्बन किया जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस अधिकार का दुरुपयोग भी हो सकता है। इसलिए हस्तक्षेप ऐसे समय ही किया जाय कि जब उसकी आवश्यकता बड़ी स्पष्ट देख पड़े। और उस समय ऐसा करनेवाले के हेतु स्वार्थमूलक न हों। योरप में राष्ट्रों राष्ट्रों की दलबन्दी बहुत काल से चली आती है। कोई बाजू सबल न होने पावे, और कोई राष्ट्र सिरजोर न होने पावे, इसके लिए राष्ट्रों ने वहां कई बार एक दूसरे के युद्धों में और कभी कभी देश के भीतरी युद्धों में भी हस्तक्षेप किया है। मनुष्यता की दुहाई देकर उसकी आवश्यकता हज़ारों बार बतलाई गई है और बतलाई जाती है। इस प्रकार के अन्याय्य कामों से इतिहास भरा पड़ा है। इसलिए इस विषय में कुछ अधिक कह नहीं सकते। प्रसङ्ग-विशेष से ही जाना जा सकता है कि किस समय हस्तक्षेप उचित हुआ और किस समय अनुचित।

राज्यप्रभुता के सिद्धान्त में और अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे में सब राष्ट्र बराबर समझे जाते हैं। तथापि कुछ भेद अब भी माने जाते हैं। जो राष्ट्र बलवान् हैं वे बहुधा अग्रेसर हुआ करते हैं और निर्बल राष्ट्रों को उन्हें आदर देना ही पड़ता है। इँग्लेंड, फ्रांस, इटली और (युद्ध के पहले) रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया का कहना दूसरों को बहुधा मानना ही पड़ता था। इतना ही नहीं, बरन वे दूसरे राष्ट्रों की एक तरह की देख-रेख भी किया करते थे। और उनमें से अब भी कुछ किया ही करते हैं। अमरीका के महाद्वीप में वहां के संयुक्त-राज्य का अधिक प्रभाव है और यह अपना कहना दूसरों पर

लादता ही है। गतयुद्ध से इसका मान योरपीय क्षेत्र में भी होने लगा है।

२. आज-कल के सारे राष्ट्रों के पास खूब जायदाद है और वे उसके मालिक हैं। सरकारी इमारतें, बारूदगोला, जहाज़ इत्यादि चीज़ों को मामूली समय में राज्य का भीतरी क़ायदा लागू होता है। पर युद्ध के समय में उनको अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे लागू होते हैं। परन्तु जायदाद-सम्बन्धी सबसे भारी बात जो इस क़ायदे को करनी पड़ती है वह राज्य की भूमि और समुद्र के विस्तार के विषय की होती है। आज-कल राज्य की नींव भूमिभाग है। क़ायदों का अमल भी इसी तत्त्व के अनुसार होता है। इस कारण कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं। एक राज्य की भूमि* में क्या बातें शामिल होनी चाहिए? भूमि की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है? कोई राज्य भूमिभागों पर किस प्रकार अधिकार बनाये रख सकता है?

(१) एक राज्य की भूमि में (क) उसकी सीमा के अन्तर्गत ज़मीन और पानी का सब भाग आता है। जब सीमाप्रान्त पर नदी या झील आ जाती है तो बहुधा आधा आधा हिस्सा दोनों राज्यों में बँट जाता है। परन्तु सन्धिपत्र के अनुसार और कोई शर्त हो जावे तो बात अलग है। (ख) जब ज्वार उतर जाय तब समुद्र के किनारे से तीन मील का जो अन्तर हो वह भी राज्य की भूमि में शामिल है।

---

* अँगरेज़ी में इसके लिए territory शब्द है। संस्कृत में 'विषय' शब्द है। परन्तु इस शब्द का उपयोग हिन्दी में दूसरे ही अर्थ में होता है। इसलिए हमने 'भूमि' या 'प्रदेश' शब्द का ही उपयोग किया है। राज्य की भूमि के विषय में जहाँ कहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख है, वहाँ इन शब्दों से पृथ्वी के उस भाग-विशेष से मतलब है जहाँ राज्य का अधिकार सदा-सर्वदा चलता है और जो राज्य का भाग समझा जाता है, चाहे वह निरी ज़मीन हो, या ज़मीन और समुद्र हो। पाठक कृपया इस अर्थ को ख़याल में रक्खें।

यह बात सौ वर्ष पहले निश्चित हुई थी। उद्देश यह था कि युद्ध-मान राष्ट्रों के जहाज़ों से दूसरों के जहाज़ों को हानि न पहुँचे, राज्य के सामुद्रिक क़ायदों का अच्छी तरह अमल हो सके, किनारे के बाशिन्दों को कोई डर न रहे, और समुद्र किनारे की रक्षा हो सके। उस समय तोपों के गोले केवल तीन मील तक जा सकते थे। परन्तु अब तो वे बहुत दूर तक जा सकते हैं। इसलिए इस अन्तर को बढ़ाने का प्रयत्न कई बार हुआ है, परन्तु नतीजा कुछ भी न निकला। (ग) राज्य की भूमि में किनारे की खाड़ियां, नदी-मुख आदि भी शामिल हैं। परन्तु इनकी चौड़ाई कितनी होनी चाहिए, इसके बारे में कोई निश्चय नहीं है। बहुधा, दस मील की चौड़ाई तक सीमा हो सकती है, परन्तु कहीं कहीं यह सीमा इससे बहुत अधिक है। (घ) इसी प्रकार किनारे के द्वीप भी शामिल हैं। परन्तु यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि इन द्वीपों का अन्त कहां है। जिन द्वीपों की राज्य की रक्षा के लिए आवश्यकता होती है, उनका बहुधा राज्य में समावेश हो जाता है।

(२) निम्नप्रकार से बहुधा भूमि प्राप्त की जा सकती है।

(क) क़ब्ज़ा एक प्रधान साधन है। जिस ज़मीन पर किसी बलवान् राज्य का अधिकार नहीं है या जहां असभ्य या जङ्गली लोग रहते हैं पर कोई अच्छा राज्य नहीं है, वहां क़ब्ज़ा कर लेने से ही वह भूमि हस्तगत हो जाती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि क़ब्ज़ा करनेवाला राज्य अपने उद्देश स्पष्ट कह दे और वहां बस्ती बसावे।

(ख) कभी कभी सन्धिपत्रों के अनुसार भूमि एक राज्य से दूसरे राज्य को मिल जाती है। यह परिवर्त्तन बिक्री से या मामूली दे देने से और अदल-बदल से हो सकता है।

(ग) विजय तो पहले सबसे भारी साधन था और अब भी कुछ प्रमाण में है। यह ज़बरदस्ती का लेना है, तथापि जिस राज्य की ज़मीन हो उसके, नाखुशी से क्यों न हो, कोई ज़मीन दे देने पर वह

जीतनेवाले राज्य की हो जाती है और अन्तर्राष्ट्रीय कायदे में वह जीतनेवाले की मानी भी जाती है।

(घ) प्राकृतिक कारणों से भूमि मिल सकती है। समुद्र हट जावे और भूमि निकल आवे। या नदी की मिट्टी से समुद्र में छोटे मोटे द्वीप बन जावें।

(३) भूमि पर राज्य के अनेक प्रकार के अधिकार हो सकते हैं।

(क) भूमि राज्य का भाग मानी जा सकती है। इस स्थिति में उस राज्य का उस भूमि पर सब बातों में पूरा पूरा अधिकार रहता है। फिर वह भले ही वहाँ के कर्मचारियों को चाहे जितने अधिकार, यहाँ तक कि स्वराज्य भी, दे दे।

(ख) कोई भाग 'संरक्षित' हो सकता है। अभी तक संरक्षित राज्य का दर्जा अच्छी तरह निश्चित नहीं हुआ है। बहुधा इस बात का निश्चय बलवान् और कमज़ोर राष्ट्रों के बीच करार यानी सुलहनामे से होता है। बहुत से संरक्षित राज्यों की बहिर्देशीय नीति संरक्षक राज्य के हाथ में रहती है, परन्तु भीतरी बातों में वे बहुत कुछ स्वतन्त्र रहते हैं। बहिर्देशीय नीति की दृष्टि से संरक्षित और संरक्षक राज्य मिलकर एकही राज्य माने जाते हैं। संरक्षित राज्य में कोई तीसरा राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता और संरक्षक राज्य उसके कार्यों के लिए ज़िम्मेदार होता है। इँग्लैंड और इजिप्ट, फ्रांस और ट्यूनिस, अमरीका का संयुक्त राज्य और क्यूबा इसके उदाहरण हैं।

(ग) कभी कभी कोई कोई भूमि-भाग किसी बली राज्य के 'प्रभाव-क्षेत्र' बन जाते हैं। यह बहुत अर्वाचीन रीति है और अधिकार की दृष्टि से इसमें बहुत अनिश्चितता है। जहाँ असभ्य लोग रहते हैं, वहाँ इसका उपयोग बहुत अधिक होता है। बहुधा बली राष्ट्र इस बात का आपस में फ़ैसला कर लेते हैं कि कहाँ किसका प्रभाव चले। जिन पर प्रभाव चलने का है, उनका मत नहीं लिया जाता। 'प्रभावक्षेत्र' पर प्रत्यक्ष किसी तरह का, भीतरी या बाहरी, नियन्त्रण

नहीं रहता। परन्तु यदि उसे संरक्षित राज्य बनाने का या उस भूमि को राज्य में शामिल करने का मौक़ा आया, तो संरक्षक राज्य ही कर सकता है, अन्य कोई नहीं। पहले पहल बहुधा ये संरक्षक राज्य अपने यहाँ के लोगों की कम्पनियों को व्यापार और शासन के अधिकार दे उस भूमि में भेज देते हैं। धीरे धीरे वे मूल राज्यों पर अधिकाधिक जवाबदारियाँ लादने लगते हैं और 'प्रभावक्षेत्र' का संरक्षित राज्य या उपनिवेश बनाने का मौक़ा उन पर आ जाता है। आफ्रीका के टुकड़े इसी प्रकार तोड़े गये हैं।

जल पर के विशेष अधिकारों का उल्लेख करना आवश्यक है। पहले कुछ राज्यों ने बीच समुद्र के कुछ भागों पर अधिकार दिखलाया था। पर अब ऐसे अधिकार को कोई नहीं मानता। कुछ काल तक तो समुद्र के उन भागों पर अधिकार माना जाता था जो ज़मीन के बीच में होते थे। पर अब वह भी नहीं माना जाता। अब अन्तर्राष्ट्रीय करार के अनुसार बहुधा ऐसे भाग स्वतन्त्र हो गये हैं।

४. अब शासन-क्षेत्र का विचार करेंगे। शासन-क्षेत्र में क़ायदा बनाने का और क़ायदे को अमल में लाने का अधिकार समाविष्ट है। शासन-क्षेत्र की मर्यादा बहुधा राज्य की मर्यादा पर अवलम्बित है। राज्य के भीतर के सब लोग और सब वस्तुएँ शासन-क्षेत्र में आ जाती हैं। जिन मनुष्यों पर किसी राज्य का शासन चल सकता है, वे ये हैं:—

(क) जन्ममूलक नागरिक। प्रत्येक राज्य बहुधा अपने अपने लिए निश्चित करता है कि जन्म की किस स्थिति में, स्थान के अनुसार अथवा माता-पिता के अनुसार, किस रीति से नागरिकत्व के अधिकार लोगों को दिये जायँ। इनमें बहुत से भेद हैं, इस कारण कभी कभी झगड़े उपस्थित हो जाया करते हैं।

(ख) कृत्रिम नागरिक। विदेशी लोगों को भी नागरिक के अधिकार दिये जाते हैं, पर राज्य स्वयं इसकी शर्तों का निश्चय करता है। कभी कभी इस प्रकार के कृत्रिम नागरिक अपने मूल-देश को लौट

जाते हैं। सन्धियों के कारण इस विषय की बहुत-सी कठिनाइयां दूर हो गई हैं, तथापि कभी कभी बड़ी भारी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं।

(ग) विदेशी वाशिन्दे और विदेशी यात्री। इन लोगों को भी उस भूमि के क़ायदों का पालन करना पड़ता है। परन्तु इससे इन लोगों का राजकीय दर्जा कम नहीं होता। बहुधा विदेशी वाशिन्दों से फ़ौजी नौकरी नहीं ली जाती।

स्थावर जायदाद जिस राज्य में रहती है, उस पर उसी का अधिकार चलता है, परन्तु जङ्गम जायदाद पर अधिकार उस राज्य का चलता है कि जहां उसके मालिक का घर हो। परन्तु व्यापारी जहाज़ों के विषय में यह बात नहीं है। वे यदि किसी राज्य के सामुद्रिक भाग में आगये तो उन पर उस राज्य का अधिकार चलेगा। परन्तु जहाज़ की भीतरी बातों पर वे अधिकार नहीं चलाना चाहते। राज्य के सरकारी और ग़ैर-सरकारी, सब जहाज़ों पर उस राज्य का अधिकार बीच समुद्र में भी चलता है। सामुद्रिक चोरों को यदि किसी राज्य के जहाज़ पकड़ ले आवें तो उन पर भी उसका अधिकार चलता है। क्योंकि सामुद्रिक चोर किसी राज्य की रक्षा में नहीं समझे जाते—वे अन्तर्राष्ट्रीय अपराधी माने जाते हैं।

दूसरे देशों में गये हुए नागरिकों पर कुछ अंश तक मूल राज्य का अधिकार चलता है। मूल राज्य के विरुद्ध अपराध करनेवाले या और कोई भारी अपराध करनेवाले यदि उस राज्य की सरकार से सज़ा न पावें जहां उन्होंने अपराध किये हों, तो मूल राज्य की सरकार उनके वहां लौट आने पर सज़ा देती है। यदि एक राज्य का अपराधी दूसरे राज्य में पाया जाय और यह दूसरा राज्य मूल राज्य को उसे वापस दे दे तो 'विदान' (extradition) कहलाता है। बहुत से राज्यों ने सन्धियों के अनुसार इस विषय के नियम बना लिये हैं और उनमें बहुत से अपराध आ जाते हैं, परन्तु बहुधा राजकीय स्वरूप के अपराध इनमें

सम्मिलित नहीं किये जाते। यदि कोई मामला सन्धि-पत्र के नियमों में न आवे तो कोई राज्य अपराधी को वापस दे या न दे, क्योंकि वह ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं हो सकता। कभी कभी बड़ा विचित्र मामला उपस्थित होता है। अपराधी दूसरे राज्य में अपराध करने पर अपने राज्य को भाग जाय तो क्या किया जाय। इँग्लेंड और अमरीका का संयुक्त-राज्य ऐसे अपराधी नागरिकों को उन राज्यों के हाथ सौंप देते हैं कि जहां वे अपराध करते हैं, परन्तु अदालत के न्याय के कार्य पर दृष्टि बनाये रखते हैं। तथापि बहुत से राज्य ऐसे अपराधियों को वापस नहीं भेजते। या तो वे स्वयं उस अपराधी को सज़ा देते हैं या वैसे ही छोड़ देते हैं।

निम्न-लिखित पुरुष राज्य की सीमा में रहने पर भी उसके अधिकार में नहीं रहतेः—

(क) विदेशी शासक और उनके नौकर-चाकर।

(ख) विदेशी सरकार की हथियारबन्द फ़ौज दूसरे के राज्यों के भीतर से सेना ले जाने के लिए बहुधा परवानगी की आवश्यकता होती है। परन्तु विदेशी बन्दरगाह में जाने के लिए इसकी आवश्यकता नहीं होती।

(ग) विदेशी राजदूत और उसके घर के लोग।

(घ) किसी किसी पूर्वीय राज्यों से इस बात का करार पश्चिमी देशों ने कर लिया है कि हमारे नागरिक यदि तुम्हारे राज्य में गये तो तुम्हारे यहां के हमारे राजदूत ही उनका मुक़द्दमा अपने देश के क़ायदे के अनुसार करेंगे।

४. अब हम राष्ट्रों के राजकीय व्यवहार का विचार करेंगे। विदेशीय व्यवहारों का काम सरकार विदेशीय कार्यों के मन्त्री द्वारा चलावे, या कोई ख़ास कर्मचारी नियत करे या विदेशीय राज्य में उसके लिए दूत नियत कर रखे। दूत भेजने की रीति पूर्व और पश्चिम दोनों ओर बहुत पुरानी है। परन्तु जब से अर्वाचीन योरपीय राष्ट्रों का विकास

हुआ है, तब से यह कार्य विशेष महत्त्व का होगया है। इस कारण इस विषय के अनेक नियम बन गये हैं। बहुधा राज्य एक ही दर्जे के वकील भेजते और रखते हैं। अच्छा उच्च दर्जे का राजदूत न रहा तो कभी कभी राज्य उन्हें रखने से इनकार कर देते हैं। परन्तु उन राज्यों से राजकीय व्यवहार एकदम बन्द नहीं कर देते। क्योंकि आज-कल इसका अर्थ युद्ध का आह्वान होता है। राजदूत के अनेक काम होते हैं। अपने राज्य को उस विदेशीय राज्य की और वहां के लोकमत की ख़बर-बात देनी होती है। लेन-देन और सुलहनामों का काम करना पड़ता है। अपने राज्य के आये हुए नागरिकों के जान-माल की रक्षा करनी होती है। और उस राज्य के बड़े बड़े कार्यों में हाज़िर रहना पड़ता है। यह पहले बतला ही चुके हैं कि इन पर उस विदेशीय राज्य का अधिकार नहीं चलता। आज-कल उन्हें व्यापार-सम्बन्धी कार्य विशेष करने पड़ते हैं। एक प्रकार के दूतों को देखना पड़ता है कि अपने राज्य के व्यापार को किसी प्रकार हानि न होने पावे। सामुद्रिक झगड़ों पर तथा जहाज़ों पर किये झगड़ों पर न्याय देने का उन्हें अधिकार रहता है। अपने राज्य के नागरिकों के हित की दृष्टि से बहुत से क़ानून और हुण्डी के काम करने होते हैं।

राज्यों राज्यों के बीच जो करार होते हैं, वे सुलहनामों में लिखे जाते हैं। यह सत्य है कि उनका प्रवर्तन करनेवाला और कोई ऊँचा अधिकारी नहीं होता। तथापि वे इसी समझ से किये जाते हैं कि उनका पालन होगा। प्रत्येक राज्य में यह निश्चित रहता है कि सुलहनामा करने का अधिकार किसे रहे। इसलिए यह आवश्यक है कि यही अधिकारी सुलहनामा करे। कहीं कहीं व्यवस्था-विभाग की आलोचना के लिए या सम्मति के लिए भी वे पेश किये जाने हैं और उन्हें क़ायदे का पूरा स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

सुलहनामों में से कुछ ऐसे होते हैं जो किसी निश्चित बात के पूरे होने रप पूर्ण हो जाते हैं। सीमा का निश्चय कभी कभी इसी प्रकार से

होता है। परन्तु व्यापार-सम्बन्धी करार क़रीब क़रीब सदैव के लिए बने रहते हैं। सुलहनामों के लिए कभी कभी ख़ास कर्मचारी नियत किये जाते हैं, परन्तु बहुधा विदेशीय मन्त्री अनेक पुरुषों और राजदूतों की सलाह से यह काम करता है। युद्ध के बाद की सन्धि के लिए तीसरे राज्य की सीमा में सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने की रीति है। मामूली सन्धिपत्रों पर उस राज्य में हस्ताक्षर किये जाते हैं कि जिस राज्य से उस पत्र का अधिक सम्बन्ध होता है। राष्ट्रों की समानता बनाये रखने के लिए बहुधा ऐसा करते हैं कि सन्धि-पत्र की अनेक नक़लें बनाई जाती हैं। जिस राज्य को हस्ताक्षर करना होता है उसका नाम उसकी प्रति में सदा प्रथम रहता है और उसका प्रतिनिधि प्रथम हस्ताक्षर भी करता है।

६. अभी तक शान्तता के समय के सम्बन्धों का विचार किया। परन्तु शान्तता सदा नहीं रह सकती। इन नियमों का पालन करना या न करना राज्यों की ख़ुशी पर है। व्यक्ति पर जिस प्रकार एक बाक़ायदा सत्ता होती है, उस प्रकार राज्यों पर नहीं है। इस कारण युद्धों के मौक़े आ ही जाते हैं। परन्तु युद्ध करने से पहले बल का दूसरी रीति से प्रयोग कर देखते हैं। यदि एक राष्ट्र ने दूसरे के साथ कोई बुराई की या अनुचित बर्ताव किया, तो दूसरा भी पहले के साथ वैसा ही करता है। कभी कभी प्रथम कसूर करनेवाले राज्य की जायदाद रोक ली जाती है या पकड़ ली जाती है। यदि इन उपायों से भी कुछ न बना, तब युद्ध रखा ही समझो। युद्ध पुकारने का अधिकार प्रत्येक राज्य में किसी व्यक्ति या व्यक्तिसमूह को दिया रहता है। दूसरे राष्ट्र ने युद्ध पहले छेड़ा या युद्ध के कारण उपस्थित किये तो बहुधा शासन-विभाग को युद्ध पुकारने का अधिकार रहता है, पर ख़ुद पहले युद्ध छेड़ना हो तो व्यवस्था-सभा की परवानगी आवश्यक होती है। यदि अनधिकारी पुरुषों ने युद्ध पुकारा तो उनका राज्य चाहे तो उसकी ज़िम्मेदारी अपने पर ले ले। ऐसा करने से बाक़ायदा युद्ध प्रारम्भ हो ही

गया समझो। अथवा वह उस काम की ज़िम्मेदारी अपने पर न ले, क़सूर करनेवालों को सज़ा दे और कोई नुक़सानी हुई हो तो उसकी पूर्ति कर दे। ऐसी रीति है कि युद्ध पुकारने के पहले एक आख़िरी खलीता भेजते हैं जिसकी स्वीकृत या अस्वीकृति पर युद्ध अवलम्बित रहता है। परन्तु कोई कोई यह नहीं भी करते। या कोई कोई उधर खलीता भेजते हैं और इधर युद्ध प्रारम्भ कर देते हैं। क्योंकि खलीता के स्वीकृत होने की सम्भावना कम रहती है। तथापि युद्ध की घोषणा अपने लोगों और तटस्थ राष्ट्रों को बतलानी होती है।

युद्ध का प्रथम परिणाम यह होता है कि युद्धमान राष्ट्र और उनके नागरिक परस्पर के शत्रु हो जाते हैं। क़ायदे की दृष्टि से एक राज्य का प्रत्येक नागरिक दूसरे राज्य के प्रत्येक नागरिक का शत्रु हो जाता है। व्यापारिक सम्बन्ध सब टूट जाते हैं, करार आदि क़ायदे के बन्धन उस काल के लिए लागू नहीं होते। सन्धि-पत्रों पर युद्धों का परिणाम उनकी शर्तों पर अवलम्बित है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि-पत्र यह जान कर किये हों कि युद्ध होंगे तो उन पर युद्ध का कोई परिणाम नहीं होता। परन्तु युद्ध-मान राष्ट्रों के मामूली सन्धि-पत्रों का पालन उस समय नहीं होता। युद्ध होने की सम्भावना देखकर जो सन्धि-पत्र उस समय के लिए राष्ट्रों में होते हैं, वे युद्ध प्रारम्भ होने पर लागू होते हैं।

युद्ध की रीति के अनुसार उसके नियम बदलते रहते हैं। गत योरपीय युद्ध तक बहुत से अच्छे नियम प्रचलित थे। साधारण नागरिकों को कष्ट न देना, क़ैदियों को दयापूर्वक रखना, ऐसी किसी वस्तु का उपयोग न करना कि जिससे योद्धाओं को आवश्यकता से अधिक कष्ट हो या जिनसे केवल क्रूरता दीख पड़े, इत्यादि इत्यादि अनेक नियम थे। परन्तु इन नियमों का गत युद्ध में ख़ूब उल्लङ्घन हुआ।

जायदाद के नियमों का विशेष उल्लेख आवश्यकीय है। जायदाद के दो भेद होते हैं, एक सरकारी और दूसरा व्यक्तिगत। उन पर क़ब्ज़ा करने के लिए ज़मीन और समुद्र के नियम अलग अलग हैं।

(१) ज़मीन के नियम—(क) ऐसी ज़मीन पर कोई सरकारी चीज़ें मिलें कि जिनका सेना के लिए उपयोग हो सके तो उसका नाश कर देना अयोग्य नहीं समझा जाता। धर्म, धर्मादाय, शिक्षा या इसी प्रकार के उपयोग की अन्य चीज़ों का नाश करना अनुचित है। (ख) व्यक्तिगत जायदाद यदि स्थावर रही तो उस पर क़ब्ज़ा न करना चाहिए। परन्तु यदि व्यक्तिगत जङ्गम जायदाद ऐसी रही कि जिसका युद्ध के लिए उपयोग हो सके, तो उसको ज़बरदस्ती से या माँग कर कब्ज़ा कर लिया जा सकता है। माँगना हो तो उसी राज्य के क़ायदों के अनुसार माँगना चाहिए। चीज़ों के लिए नुक़सानी देने की रीति गिरती जा रही है। लूट-मार करना मना है।

(२) समुद्र के नियम—तटस्थ राष्ट्रों के जल-विभाग को छोड़ कर शत्रु-राष्ट्र के (व्यक्तिगत और सरकारी) सब जहाज़ समुद्र पर चाहे जहाँ पकड़े जा सकते हैं। यदि वे निजी बन्दरों में भेजे जा सकें तो ठीक ही है। नहीं तो उनसे दण्ड-कर (ransom) लेकर उन्हें चाहे तो छोड़ दिया जाय या उनको नष्ट कर डाला जाय।

समुद्र पर पकड़ी हुई सब चीज़ें पकड़नेवाली सरकार की होती हैं। वह चाहे उनका उपयोग करे, चाहे नष्ट कर डाले, या चाहे बेंच डाले और जो कुछ दाम आवे वह सब या उसका कुछ अंश पकड़नेवालों को अपने क़ायदों के अनुसार दे दे। यदि लूट के पकड़ने के सम्बन्ध में कोई झगड़ा रहा तो 'लूट की अदालतों' में उनका निपटारा होगा। यथासम्भव वे अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदों का उपयोग करते हैं परन्तु जहाँ कहीं राष्ट्रीय क़ायदों में कुछ अन्य नियम हो तो वही नियम लागू किया जाता है। दूसरे देशों की ऐसी अदालतों की नजीरों पर भी ख़याल दिया जाता है। परन्तु उनका सब काम मुक़द्दमे की अपेक्षा जांच के समान अधिक होता है। यदि कोई कहे कि चीज़ें क़ायदे के ख़िलाफ़ पकड़ी गईं, तो उसका काम है कि वह अपने कथन की सत्यता सबूत करे। ऐसी अदालतों की बैठकें तटस्थ राष्ट्रों की सीमा में नहीं होतीं।

पकड़े हुए जहाज़ की ओर से बहुधा पकड़नेवाले अथवा तटस्थ-वृत्तिवाले राष्ट्र का कोई नागरिक उपस्थित होता है क्योंकि क़ायदे की दृष्टि में शत्रु की कोई हैसियत नहीं होती। राज्य की लूट की ऐसी अदालतों के ऊपर लूट की एक अन्तर्राष्ट्रीय अदालत द्वितीय हेग परिषद् के अनुसार प्रस्थापित हुई है।

शत्रु की जनता और जायदाद के विषय के सब ही नियम निश्चित नहीं हैं। कभी कभी तो बड़ी कठिन समस्यायें उपस्थित होती हैं। सब विषयों पर एकमत होना कठिन है। विदेशी लोग राज्य में आकर रहते हैं, परन्तु उनके विषय में सामान्य रीति से निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

युद्धमान राष्ट्र शान्तता के समय के भी कुछ व्यवहार चालू रख सकते हैं। इसके लिए तात्कालिक सन्धि करनी होती है या कुछ काल तक युद्ध बन्द रखना पड़ता है या सुरक्षितता के पत्र आदि देने होते हैं।

७. अब तटस्थवृत्ति* का विचार करेंगे। जो राष्ट्र युद्ध में भाग नहीं लेते और सब व्यवहार शान्तता से चलाते रहते हैं, वे तटस्थ कहलाते हैं। कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जो सदा के लिए तटस्थ बना दिये गये हैं। स्विट्ज़रलैंड और बेल्जियम† इसके उदाहरण हैं। तटस्थवृत्ति की बहुत सी कल्पनायें अर्वाचीन हैं‡। जब हमेशा युद्ध हुआ करते थे, तब इस

---

* "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में इसके लिए 'आसन' और तटस्थ राजा के लिए 'उदासी' शब्द हैं। इन शब्दों के अब बिलकुल भिन्न अर्थ हैं। इस कारण हमने सार्थक नया शब्द रखा है।

† परन्तु इसका गत युद्ध में उल्लङ्घन हुआ था।

‡ ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दुस्तान के ग्रन्थों में इसका विचार है। परन्तु वह सुसम्बन्ध और विस्तृत नहीं है। "कौटिलीय अर्थशास्त्र" में कुछ उल्लेख है।

विषय का अधिक विचार नहीं हो सकता था। परन्तु धीरे धीरे, विशेष करके व्यापार के कारण, तटस्थ वृत्ति का विचार होता गया। अब इसकी बहुत सी कल्पनायें निश्चित होगई हैं। तटस्थ राष्ट्रों को चाहिए कि वे किसी के कार्यों में हस्तक्षेप न करें और पक्षपातहीनता धारण करें। युद्धमान राष्ट्रों का काम है कि वे तटस्थ राष्ट्र के हकों का आदर करें। वे इनकी सीमा के भीतर युद्ध न करें या युद्ध की कोई तैयारी न करें। नौयात्रा या मामूली जीवन के लिए जो कुछ चाहिए वे चीज़ें वे ले सकते हैं। परन्तु युद्धोपयोगी कोई चीज़ नहीं ले सकते। यदि तटस्थ राष्ट्रों ने अपनी रक्षा के लिए उचित नियम बनाये तो उनका पालन करना भी युद्धमान राष्ट्रों का कर्तव्य है। वे अपने बन्दरगाहों का उपयोग नियन्त्रित कर सकते हैं, चौबीस घण्टे के अन्दर उन्हें जाने के लिए कह सकते हैं या और कोई नियम बना सकते हैं, परन्तु दोनों पक्षों के साथ उसका व्यवहार बिल्कुल एक-सा होना चाहिए।

तटस्थ राष्ट्र का काम है कि वह लड़नेवाले राष्ट्र को कोई सशस्त्र सहायता न दे, एक को न दिये अधिकार दूसरे को न दे, या द्रव्य या युद्धोपयोगी सामग्री न दे। परन्तु राष्ट्रों के लोग व्यक्तिशः द्रव्य या युद्ध की सामग्री दे सकते हैं। तटस्थ राष्ट्र का यह भी काम है कि वह अपनी भूमि से लड़नेवालों की सेनायें न जाने दे, न उन्हें अपने यहां सेना की भरती करने दे। युद्धमान राष्ट्रों के मुनीमों को और अपने नागरिकों को भी वह अपनी सीमा के भीतर चढ़ाई की तैयारी न करने दे, न कोई सहायता देने दे। तटस्थ राष्ट्रों के लोगों का युद्ध में किसी प्रकार भाग लेना मना है। यदि तटस्थवृत्ति के उल्लङ्घन से युद्ध-मान राष्ट्रों की कोई हानि हो तो उसकी पूर्ति भी करनी चाहिए।

८. तटस्थ राष्ट्रों के व्यापार के विषय में भी बहुत से नियम बन गये हैं। युद्धोपयोगी सामान को छोड़ कर तटस्थ राष्ट्रों के जहाज़ों से शत्रु का सामान न पकड़ना चाहिए। उसी प्रकार युद्धोपयोगी सामान को छोड़ कर शत्रु के जहाज़ में यदि तटस्थ राष्ट्रों का सामान रहा, तो उसे न

पकड़ना चाहिए। परन्न्तु 'युद्धोपयोगी सामग्री' के विषय में कोई एक निश्चित मत नहीं है। कुछ वस्तुएँ तो स्पष्टतया युद्धोपयोगी ठहराई जा सकती हैं। कुछ ऐसी भी होती हैं जो मामूली जीवन के लिए या शान्तता के समय में उपयोगी होती हैं। परन्तु कुछ ऐसी हैं जो दोनों प्रकार की समझी जा सकती हैं। इस कारण वस्तु को देख कर और वह कहां जानेवाली है यह जान कर थोड़ा-बहुत निश्चित मत हो सकता है। युद्ध की रीतियों के अनुसार 'युद्धोपयोगी सामग्री' की परिभाषा भी बदलती रहती है। पहले जो युद्धोपयोगी थी, वह अब नहीं रही। अब जो है वह पहले नहीं थी।

तटस्थ प्रदेश को छोड़कर यदि अन्य कहीं से युद्धोपयोगी सामान का लाना ले जाना होता हो और वह युद्धमान के पास जानेवाला हो तभी कुसूर लग सकता है। उसके लिए सज़ा यह है कि वह सामान ज़ब्त कर लिया जाय। और यदि यह सिद्ध हुआ कि जहाज़ के मालिक को मालूम था कि इसमें युद्धोपयोगी सामान है, तब जहाज़ भी ज़ब्त हो सकता है। ऊपर कह ही चुके हैं कि तटस्थ राष्ट्रों के नागरिक नुक़सान सहने को तैयार होकर यदि युद्धमान राष्ट्रों को युद्धोपयोगी सामान दें तो कोई हर्ज़ नहीं, पर यदि राज्य ही ऐसा करे तो वह काम युद्ध छेड़ने के बराबर समझा जावेगा। लोगों का ऐसा व्यापार रोकने का काम तटस्थ राष्ट्रों का नहीं, लड़नेवालों का काम है कि वे इस बात की ख़बरदारी रक्खें कि युद्धोपयोगी सामग्री शत्रु को न मिलने पावे।

बहुधा व्यापारी जहाज़ों को सब बन्दरों में आने-जाने देते हैं, परन्तु कभी कभी बन्दरबन्दी (blockade) हो सकती है। यह बात युद्धमान राष्ट्र बन्दर को लेने के लिए कर सकते हैं या शत्रु का व्यापार रोक कर उसे कमज़ोर करने के हेतु से कर सकते हैं। यदि तटस्थ राष्ट्रों के जहाज़ भयकारक स्थिति में भी बन्दर में जाने का प्रयत्न करें तो वे पकड़े जा सकते हैं। परन्तु बन्दरबन्दी की सूचना

पहले से दे देनी चाहिए। पकड़ने पर जहाज़ और उसका सामान ज़ब्त किया जा सकता है। यदि यह सिद्ध हो जाय कि कोई जहाज़ या उसका सामान केवल दिखलाने के लिए तटस्थ राष्ट्र के बन्दर में जा रहा था, पर वास्तव में उसका उद्देश युद्धमान राष्ट्र के वहाँ जाने का है, तो जहाज़ या सामान या दोनों पकड़े जा सकते हैं।

इन अधिकारों को व्यवहार में लाने के लिए तलाशी की आवश्यकता है। तलाशी से ही जाना जा सकता है कि जहाज़ किस राष्ट्र का है, उसमें क्या क्या सामान है और वह कहाँ जानेवाला है। तटस्थ राष्ट्रों के सशस्त्र जहाज़ नहीं पकड़े जा सकते हैं। और अभी तक यह एक प्रश्न ही है कि यदि तटस्थ राष्ट्रों के व्यापारी जहाज़ अपने ही सशस्त्र जहाज़ों की रक्षा में आवें जावें तो उन्हें पकड़ना चाहिए या नहीं। परन्तु इस प्रकार व्यापार करने की रीति ही बन्द होती ही जा रही है, क्योंकि भिन्न भिन्न तरह के जहाज़ों का एक साथ चलना कठिन होता है। युद्धमान राष्ट्रों के जहाज़ों को अधिकार है कि वे चाहें तो भाग जायँ या धोखा दें या सामना करें। परन्तु तटस्थ राज्यों के व्यापारी जहाज़ों की, तटस्थ भूमि को छोड़ कर, चाहे जहाँ तलाशी ली जा सकती है। हाँ, तलाशी के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का तलाशी करते समय पालन करना होगा। चाहें तो वे कागज़ पत्र भी देख सकते हैं। यदि यह देखा जाय कि युद्धोपयोगी सामान शत्रु के राज्य में जा रहा है, या यदि 'बन्द बन्दर' को जा रहा है, यदि वह धोखा देना चाहता है, तो जहाज़ को पकड़ कर अपने बन्दर में लूट के बतौर रख सकते हैं।

तटस्थ राष्ट्रों का सामान आदि नहीं पकड़ना चाहिए। इस नियम के अनुसार यह आवश्यक है कि जब तक उचित न्याय-विधि के बाद अदालतें निर्णय न दें तब तक उनकी ज़ब्ती न की जावे। इसलिए पकड़नेवाले का कर्तव्य है कि वह जान-माल की रक्षा पर दृष्टि देकर जहाज़ की तलाशी करे, सामान के पकड़ने पर उसे न्यायालय में जल्द

पेश करे और सामान या जहाज़ को कोई हानि न होने दे। यदि यह सिद्ध हो जाय कि पकड़नेवाले ने इस विषय में पूरी सावधानी न रखी और इस कारण नुक़सान होगया, तो नुक़सानी देनी होगी। तटस्थ राष्ट्रों के जहाज़ों को कभी नष्ट न करना चाहिए। यदि उन्हें बन्दर में न्याय के लिए लाना सम्भव न हो सका, तो उन्हें छोड़ देना चाहिए।

९. कभी कभी एक ही राज्य के लोगों में युद्ध छिड़ पड़ता है। उस समय दूसरे राज्यों का क्या कर्तव्य रहे ?

हमारे तत्त्वों के अनुसार दूसरे राष्ट्रों का यह कर्तव्य है कि वे उस राज्य की भीतरी बातों में कोई दख़ल न दें, युद्ध बन्द हो जाय और राज्य में कोई परिवर्तन न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ज्यों के त्यों बने रहेंगे। परन्तु यदि राज्य के टुकड़े हो जायँ तो क्या किया जाय ? दूसरों का यह कर्तव्य होगा कि युद्ध के समाप्त होने पर 'नये राज्यों' को राज्य मान लें। यदि क्रान्तिकारक पक्ष को दूसरे पक्ष ने स्वतन्त्र राज्य के हक़ दे दिये तो दूसरों को भी उसे स्वतन्त्र राज्य मानने में कोई कठिनाई नहीं। परन्तु यदि उसे पहले राज्य ने स्वतन्त्र राज्य न माना तो 'उचित समय' तक राह देख लेनी चाहिए। उचित समय के बाद दूसरों का कर्तव्य होगा कि वे उसे स्वतन्त्र राज्य मानें। नहीं मानने से उसका अपमान होगा। परन्तु इसके लिए इतनी शीघ्रता भी न करनी चाहिए कि उससे दीख पड़े कि दूसरे राज्यों ने क्रान्तिकारकों का पक्ष लिया। सारांश, 'उचित समय' का निर्णय परिस्थिति देख कर ही हो सकता है।

यदि राज्य के किसी पक्ष ने दूसरे राज्यों के प्रति झगड़ालू वृत्ति धारण की तो उन्हें बीच में पड़ना ही होगा। परन्तु झगड़ालू वृत्ति स्पष्ट देखी जानी चाहिए।

दसवाँ परिच्छेद

राज्य की भूमि और मनुष्य

राज्य की परिभाषा करते समय हमने बतलाया था कि राज्य के अस्तित्व के लिए सबसे प्रथम भूमि और मनुष्य चाहिए। भूमि और मनुष्य के बिना मनुष्यों की संस्थायें नहीं हो सकतीं। तथापि अब तक हमने मनुष्यों की राजकीय बातों का ही विचार किया, भूमि को मानो हम क़रीब क़रीब भूल ही गये थे। इसलिए इस परिच्छेद में भूमि का (और वहां की प्राकृतिक परिस्थिति का) और उससे मनुष्य के सम्बन्ध का विचार करेंगे।

१. प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध के बारे में बहुत काल से बड़े बड़े झगड़े चले आते हैं। एक पक्ष का कहना है कि प्रकृति ही सब कुछ कराती है, मनुष्य कुछ नहीं करता। दूसरा पक्ष कहता है कि मनुष्य ही इस प्रकृति का स्वामी है, प्रकृति उसके सामने कुछ नहीं है। इतिहास को देखने से ऐसा पता चलता है कि प्रकृति और मनुष्य दोनों का दोनों पर परिणाम हुआ है। कुछ अंश में प्रकृति बलवती है तो कुछ अंश में मनुष्य बलवान् है। कभी प्रकृति की शक्ति के सामने मनुष्य को सिर झुकाना पड़ा है, तो कभी मनुष्य ने प्रकृति को अपनी इच्छा पूर्ण करने को बाध्य किया है। किसका किस पर कितना परिणाम हुआ या होगा, यह बात प्रकृति और मनुष्य की शक्ति पर निर्भर है। कमज़ोर संकल्पशक्ति के लोग सदा प्रकृति के दब्बू बने रहते हैं, प्रकृति उन्हें चाहे जैसे झुकाती रहती है। बलवती संकल्प-शक्ति के लोगों ने प्रकृति को अपनी सेवा करने को अवश्य बाध्य किया है। हाँ, इतना मानना होगा कि प्रकृति यदि बिलकुल ही प्रतिकूल रही तो उसके

सामने मनुष्य का बहुत कम चला है। परन्तु ऐसे स्थान दुनियां में थोड़े हैं कि जहां मनुष्य का कुछ भी नहीं चल सकता। सारांश, इतिहास में दोनों के प्रभाव बहुधा सब जगह देख पड़ते हैं।

राज्य की दृष्टि से प्रकृति के पांच भेद किये जा सकते हैं (१) भूमि का पृष्ठ-भाग, (२) जलवायु, (३) उपज, (४) विस्तार, और (५) अन्य सामान्य बातें। मनुष्य का विचार करते समय हमें (१) मनुष्य-संख्या (२) कौम, (३) राष्ट्रीयता और व्यक्तित्व के प्रभावों का विवेचन करना होगा। पहले हम प्रकृति के प्रभावों का विचार करेंगे।

२. भूमि के पृष्ठ-भाग में जल और थल का सम्बन्ध, पर्वत और नदियों का मान और स्थिति, भूमि की ऊँचाई और निचाई शामिल है। इन्हीं के कारण पृथ्वी के अनेक छोटे बड़े और विविध प्रकार के टुकड़े हो गये हैं। कोई पर्वतों के कारण तो कोई समुद्रों के कारण और कोई नदियों के कारण परस्पर से वियुक्त या संयुक्त हुए हैं। कहीं ये भाग बड़े स्पष्ट देख पड़ते हैं जैसे कि ग्रेटब्रिटन, या अन्य द्वीप, हिन्दुस्तान, इटली या स्पेन हैं। कहीं ये स्वाभाविक सीमायें परिपूर्ण नहीं हैं। उदाहरणार्थ, फ्रांस, जर्मनी और रूस क्रमशः मिले हुए हैं इन प्राकृतिक परिस्थितियों का राज्यों पर बड़ा भारी परिणाम हुआ है।

(१) बहुधा एक राज्य का विस्तार वहां की स्वाभाविक सीमा तक ज़रूर पहुँच जाता है। स्वाभाविक सीमाओं के कारण ऐसे राज्य में सब बातों की समानता जल्द उत्पन्न होती है। और यही समानता वहाँ पर एक राज्य के अस्तित्व का प्रधान कारण है। ऐसे स्वाभाविक भूमि-भाग के लोगों में एकता की भावना शीघ्र पैदा हो जाती है, सबके हित एक हो जाते हैं और एक राज्य की प्रस्थापना होने में देरी नहीं लगती। योरपीय देशों में इंग्लेंड में और फिर स्पेन में बहुत पहले आधुनिक स्वरूप के राज्यों का निर्माण हुआ। कारण यही था कि ये पृथ्वी के क़रीब क़रीब नितान्त स्वाभाविक विभाग हैं। योरप में एक

साम्राज्य की कल्पना मनुष्यों के मन में बहुत काल से रही, पर योरप एक स्वाभाविक विभाग न होने के कारण और इसके विस्तार के कारण एक साम्राज्य की प्रस्थापना वहां कभी भी पूर्ण रीति से न हो सकी।

राज्य के भूमि-विस्तार का राज्य पर बहुत परिणाम होता है। 'रोमीय साम्राज्य' के लेखक गिबन का कहना है कि रोमीय साम्राज्य अपने ही विस्तार-भार से दब गया। उस समय आवागमन के सुभीते अधिक न थे। इस कारण विशाल साम्राज्य दीर्घस्थायी न हो सकते थे। बनने में काल अधिक लगता था, परन्तु मिटने के लिए बहुत थोड़ा। योरप के प्रसिद्ध शार्लमेन अथवा नेपोलियन के प्रयत्नों का यही परिणाम हुआ। आज-कल विस्तृत देशों में संयुक्त-शासन-प्रणाली की रचना धीरे धीरे अवश्य होती जाती है। इस योजना के बिना ब्रिटिश-साम्राज्य कभी नहीं चल सकता। प्रातिनिधिक प्रजातंत्र* का मूल राज्यों के विस्तार में ही रखा है। एक राज्य के इतने अधिक लोगों की सभा में न कोई काम हो सकता है, और न इतने लोग इकट्ठा हो सकते हैं। प्रजातन्त्र की इमारत प्रातिनिधिक तत्त्व की नींव पर ही रची जा सकती है। ये दोनों कल्पनायें आज कल धूम-अग्नि की नाई अनुषंगी जान पड़ती हैं। परन्तु वास्तव में वे वैसी हैं नहीं। प्राचीन काल के ग्रीस में छोटे छोटे राज्य थे और वहां प्रत्यक्ष† प्रजातंत्र था। वहां यह शक्य था क्योंकि एक राज्य एक छोटा सा शहर ही होता था। आज-कल प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र केवल असम्भव है। इस कारण प्रातिनिधिक तत्त्व का उपयोग मनुष्यों को बरबस करना पड़ा है।

(२) स्वाभाविक सीमाओं पर ही दूसरे राज्यों से होनेवाले सम्बन्ध निर्भर हैं। इस विषय का एक बड़ा भारी उदाहरण इँग्लैंड है। यह

---

* जहां पर राज्य प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा चले।

† जहां एक राज्य के सारे नागरिक राज्य-शासन में प्रत्यक्ष भाग लें।

देश योरप से समुद्र के कारण जुदा होगया है। इस कारण यहाँ पर बाहरी आक्रमण बहुत कम हुए और ग्यारहवीं सदी के बाद हुए ही नहीं। बाहरी आक्रमणों के अभाव के कारण इस देश को अपनी उन्नति करने के लिए ख़ूब अवसर मिला। भाग्य से उसकी शक्ति बढ़ गई और वह देश बड़ी भारी नाविक योजना करने में लग गया। इस कारण वह दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप कर सका, परन्तु दूसरे यहाँ के कार्यों में हस्तक्षेप न कर सके। नैपोलियन ने योरप के सब राज्यों को चित कर दिया, परन्तु फ़्रांस से थोड़ी ही दूर पर रहनेवाला इँग्लैंड सब तरह सुरक्षित बना रहा और इसी समय उसने अपनी औद्योगिक शक्ति की नींव डाली। यदि इँग्लैंड योरप से मिला होता तो कह नहीं सकते कि इँग्लैंड और योरप के इतिहास में हमें आज क्या भिन्न बातें पढ़नी पड़तीं।

इसके उलटा, फ़्रांस और जर्मनी के बीच कोई स्वाभाविक सीमा नहीं है। एक राइन नदी है। जब रोमीय साम्राज्य शक्तिमान् था, तब इस नदी ने स्वाभाविक सीमा का बहुत काम दिया। परन्तु जब इसके दोनों ओर शक्तिमान् राज्य पैदा होगये, तब यह नदी स्वाभाविक सीमा का अच्छा काम न दे सकी। इस कारण दोनों देशों की सीमा सदा अनिश्चित रही। परिणाम यह हुआ कि दोनों राष्ट्रों में सीमा के प्रश्न के कारण समय समय पर युद्ध होते रहे। कभी एक जीतता तो कभी दूसरा। गत योरपीय महायुद्ध में अनेक प्रश्नों में से एक प्रश्न यह भी था। जर्मनी ने १८७१ में फ़्रांस से जो प्रान्त छीन लिये थे, वे अब फ़्रांस ने वापस ले लिये हैं। परन्तु इतिहास की दृष्टि से विचार करते ऐसा नहीं जान पड़ता कि यह निर्णय अन्तिम होगया, अब आगे इस कारण झगड़े न होंगे। इसी प्रकार के अन्य कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

स्वाभाविक सीमाओं से कूपमण्डूकता भी अधिक पैदा होती है। इतिहास-लेखक इँग्लैंड पर यह दोष थोड़ा-बहुत अवश्य लगाते हैं।

सामुद्रिक देशों का जीवन नाविक योजना पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। नाविक शक्ति के नष्ट होते ही देश की शक्ति बहुत-कुछ नष्ट हो जाती है। स्पेन का साम्राज्य इसका उदाहरण है। इँग्लेंड को अपनी रक्षा के लिए जहाज़ों की बड़ी भारी मालिका रखनी पड़ती है। उसका सारा अस्तित्व इसी पर अवलम्बित है। आयर्लेंड इँग्लेंड से कुछ दूर होने के कारण और वहां की प्राकृतिक परिस्थिति भिन्न होने के कारण धर्म, भाषा, आचार-विचार आदि में इँग्लेंड से बहुत कुछ भिन्न बना रहा। इसी लिए उसने सदैव भिन्नता के लिए इँग्लेंड के विरुद्ध प्रयत्न किया। परन्तु वह इतना दूर भी नहीं है कि इंग्लेंड उसका लोभ छोड़ दे और उसके रहने से होनेवाले लाभों की अपेक्षा हानियां अधिक हों। इस कारण, दोनों देशों में अनबन और झगड़े सदैव बने रहे। स्काटलेंड और इंग्लेंड के बीच पहाड़ हैं और दोनों की प्राकृतिक परिस्थिति बहुत कुछ भिन्न है। इस कारण स्काटलेंड के लोगों के मन में निजी राष्ट्रीयता के थोड़े बहुत भाव अब तक बने हैं।

(३) यह भी देखने में आता है कि एक राज्य का सम्बन्ध किसी ख़ास देश से अधिक होता है। इसका एक कारण यह है कि उन देशों के बीच आवागमन के मार्ग अधिक सुभीते के रहते हैं। योरपीय लोगों के आने से पहले हिन्दुस्तान में सारी चढ़ाइयां वायव्य दिशा की घाटियों से हुईं। कभी कभी इसी प्रकार का कोई दूसरा ही कारण उपस्थित रहता है। प्राचीनकाल में ग्रीस का सम्बन्ध पूर्व से अधिक रहा क्योंकि पूर्वीय दिशा में बहुत से द्वीप और बंदरगाह हैं।

पहले-पहल राज्यों का निर्माण नदी के किनारे के प्रदेश में बहुधा हुआ करता था। ऐसी भूमि उपजाऊ रहती थी, और आगे बढ़ने के लिए नदी का मार्ग सुविधाजनक था। हिन्दुस्तान में आर्य लोगों का विस्तार इसी तरह हुआ। और भी देशों में ऐसे उदाहरण मौजूद हैं।

३. अब जलवायु के परिणामों का विचार करें। यह तो स्पष्ट है कि अत्यन्त ठंडे मुल्कों में मनुष्य बहुत कम काम कर सकता है। वहां चीज़ें भी कम पैदा होती हैं। इसलिए ऐसे स्थानों में राज्यों का अस्तित्व कठिन है। लोग थोड़े हैं और वे भी प्रकृति पर बहुत ही अधिक अवलम्बित हैं। इस कारण सभ्यता के बहुत कम चिह्न ऐसे स्थानों में देख पड़ते हैं। यही बात अत्यन्त गर्म और ऊसर ज़मीन में देखने में आती है। ऐसे भी देशों में राज्य का अच्छा विकास नहीं हो सकता। मनुष्य वहीं बस सकता है कि जहां की गर्मी या सर्दी उससे सही जा सकती है और खाने की चीज़ें काफ़ी मिल सकती हैं। ये बातें जितने परिमाण में अधिक होंगी, उतने परिमाण में मनुष्य की संख्या बढ़ेगी और राज्य के विकसित रूप देख पड़ेंगे।

जलवायु के वैसे तो इतने अधिक परिणाम हैं और उनका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष राज्य से इतना सम्बन्ध है कि उन सबका विचार हम यहां नहीं कर सकते। भूगोल-विज्ञान ही इसके लिए उचित स्थान है। कुछ लोगों का ऐसा सिद्धान्त है कि गर्म मुल्क सदा पराधीन बने रहेंगे। यह सिद्धान्त पूर्णतया ठीक नहीं। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व का विचार नहीं किया है। मनुष्य की संकल्पशक्ति को भूलने से यह सिद्धान्त एकदेशीय हो जाता है।

४. उपज के तीन भेद किये जा सकते हैं:—(१) खनिज पदार्थ, (२) वनस्पति और (३) जीवसृष्टि।

खनिज पदार्थों का परिणाम बड़ा स्पष्ट है। प्राचीनकाल में पत्थर या कांसा या लोहा व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं किन्तु राष्ट्रीय जीवन में भी बड़ा परिणामकारी हुआ है। जीत-हार इन वस्तुओं के शस्त्रों पर अवलम्बित थी, जीवन के साधन इन पर अवलम्बित थे, जीवन के साधनों पर मनुष्य-संख्या अवलम्बित रहती है। इस तरह राज्यों का होना या न होना इन पर निर्भर रहा है। स्पेन ने चांदी और सोने के लिए अमरीका में क्या नहीं किया! इनके कारण

उसकी शक्ति और विस्तार दोनों बढ़े। इँग्लेंड के राज्य पर वहाँ के कोयले और लोहे का कितना परिणाम हुआ है, इसका पता लगाना कठिन है! तथापि यह बात स्पष्ट है कि उसकी शक्ति इन दो वस्तुओं पर बहुत अधिक अवलम्बित है।

(२) यह ऊपर बतला ही चुके हैं कि प्राचीन राज्यों का निर्माण उपजाऊ भूमि में ही हुआ। और बहुधा वे नदियों के किनारे रहे। मिश्र देश की नील, चीन की यांगसीक्यांग और हिन्दुस्तान की गंगा-यमुना और पंजाब की नदियाँ इसके साक्षी हैं। जिन देशों में खाने-पीने की चीज़ें यथेष्ट परिमाण में नहीं पैदा होतीं, वहाँ या तो मनुष्य-संख्या नहीं बढ़ती या उन्हें दूसरे देशों पर उन चीज़ों के लिए अवलम्बित रहना पड़ता है। वनस्पति की भिन्नता के कारण अमरीका के संयुक्त-राज्य के एक बार दो टुकड़े ही होना चाहते थे। दक्षिणी भाग में कपास और गन्ना अधिक होता है और उनके लिए मज़दूरों की अधिक आवश्यकता है। कुछ दास-व्यापारी अठारहवीं सदी से आफ़्रिका के ग़ुलामों को ले जाकर दक्षिणी भाग में बसाया करते थे। उन्नीसवीं सदी में ग़ुलामी की प्रथा सभ्य संसार से कम से कम उठा दी गई, परन्तु अमरीका में बनी रही थी। उसे वहाँ से भी उठाने का विचार हुआ। और इसी कारण उस राज्य में अच्छा भारी गृह-युद्ध होगया। यहां तक कि दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से अलग होना चाहता था।

जब देश में मनुष्य-संख्या बढ़ जाती है और खाने-पीने या जीवन-निर्वाह की चीज़ों या साधनों की कमी होती है, तब लोग देश छोड़ कर जाने लगते हैं। इनका दूसरे देशों पर बहुत परिणाम होता है। इसके उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। अमरीका का संयुक्त राज्य, कनाडा, फिजी, दक्षिण आफ़्रिका में ऐसे प्रश्न बहुत काल से गड़बड़ मचा रहे हैं।

(३) जीव-सृष्टि का भी मनुष्य के राजकीय विकास पर भारी परिणाम हुआ है। जब मनुष्य अपने निर्वाह के लिए शिकार पर

अवलम्बित था, तब राजकीय संस्थाओं का दृढ़ होना सम्भव न था। लोग इतस्ततः घूम फिर कर अपनी जीविका चलाते थे। उनका बड़े बड़े दलों में एकत्र रहना विशेष सम्भवनीय न था। यदि कहीं जानवर पालतू करने के लायक़ मिले और वहां चरोखर या खेती का काम हो सका तो लोग वहां एकत्र रह सके। इस कारण इन लोगों में कुछ सभ्यता भी देख पड़ी। पालतू जानवरों के ज़रिये कई तरह की जायदाद पैदा हुई। कई लोगों का मत है कि इसी कारण योरप और एशिया में सभ्यता का विकास बहुत पहले हो सका, और अमरीका और आस्ट्रेलिया में ऐसे जानवर न होने के कारण सभ्यता के चिह्न बहुत काल तक न देख पड़े।

४. इसके अलावे, सृष्टि के अन्य चमत्कारों का भी मनुष्य के राजकीय विकास पर परिणाम हुआ सा जान पड़ता है। किसी किसी भूमि-भाग में प्रकृति का भयङ्कर रूप अधिक दीख पड़ता है। भूकम्प, ज्वालामुखी, तूफ़ान, बड़े बड़े पर्वत या मरुस्थल, बड़ी बड़ी नदियां, कहीं कहीं बहुतायत से पाई जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इनसे मनुष्य की मनोभावनाओं पर बड़ा भारी परिणाम होता है। मनुष्य भयशील हो जाता है और उसकी कल्पना सदा जागृत रहती है। अन्वेषणशीलता का उसमें अभाव रहता है। आत्म-विश्वास उसमें रह नहीं जाता। धर्म का स्वरूप भ्रममय बन जाता है। ऐसे स्थानों में अनियन्त्रित सत्ता की प्रस्थापना बहुत जल्द हो सकती है। कहीं कहीं प्रकृति बड़ी शान्त रहती है। और इस कारण मनुष्य उस पर अपना प्रभुत्व जल्द स्थापित कर सकता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि और तर्क का अच्छा विकास होता है और इस कारण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विकास के लिये मौक़ा मिलता है। ऐसे स्थानों में प्रजातन्त्रों का होना स्वाभाविक है।

हमारी समझ में इस सिद्धान्त में अतिशयोक्ति बहुत अधिक है। इसमें एक भारी दोष यह है कि मनुष्य के आत्मस्वातन्त्र्य को इसमें के

स्थान नहीं दिया गया है। मनुष्य यदि थोड़-बहुत अंश में विचारशील और प्रयत्नशील प्राणी है, तो यह मानना होगा कि वह खुद भी एक शक्ति है। इसलिए वह पूर्णतया सृष्टि का कठपुतला नहीं हो सकता। इसका अधिक विचार हम इस परिच्छेद के अन्त में करेंगे।

६. राज्य का दूसरा अङ्ग मनुष्य है। मनुष्यों पर प्रकृति का परिणाम होता अवश्य है, परन्तु उस पर दूसरी भी शक्तियों का असर होता है। सब से प्रथम तो माता-पिता का परिणाम होता है। जैसे माता-पिता होंगे, वैसे उनके बाल-बच्चे होंगे। दूसरे, मनुष्य का ही मनुष्य पर परिणाम होता है। इसलिए मानवी परिणामों का भी विचार रखना आवश्यक है। मनुष्यों मनुष्यों का सम्मिश्रण हुआ करता है। उसके कारण जो अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, उनका थोड़ा बहुत विचार इसके पहले हो चुका है। दासता इसी तरह पैदा होती है। राज्य पर दासता के अनेक परिणाम हुए हैं। कुछ लोगों को राजकीय अधिकार होना और कुछ को न होना अशान्ति का कारण होता है। रोम, ग्रीस तथा अमरीका के इतिहास इसके उदाहरण हैं। बाहरी लोगों को आने देना या नहीं, आने दिया तो उनके क्या अधिकार होने चाहिए इत्यादि इत्यादि आज-कल के राज्यों के सामने बड़े भारी प्रश्न हैं और उनके कारण कुछ देशों में बड़ी गड़बड़ी मची रहती है। जातियों के सम्मिश्रण से सङ्कर-जाति पैदा होती है, और सङ्कर-जातियों की समस्या भी राज्यों के लिए एक कठिन बात है। एक देश के लोग जब दूसरे स्थानों में जा बसते हैं, तो कभी कभी उस राज्य के उपनिवेश बन जाते हैं। इस तरह से राज्य का विस्तार होने पर उसके सामने और ही समस्यायें उत्पन्न होती हैं। इनका विचार हमने एक अलग परिच्छेद में किया है।

७. बहुधा इन प्रश्नों के पीछे क़ौम का प्रश्न खड़ा रहता है। एक स्थान में रहते रहते लोगों में एक तरह के आचार-विचार, एक तरह की रहन-सहन और एक तरह के रूप-रङ्ग पैदा हो जाते हैं, वे एक

'क़ौम' बन जाते हैं। व्यक्ति व्यक्ति में भेद अवश्य रहता है, कोई भी लड़के अपने माता-पिता के बिलकुल ही समान नहीं होते, न कोई भाई ही होते हैं। व्यक्तिगत शारीरिक भिन्नता प्रत्येक में पाई जाती है। परन्तु यह भी सत्य है कि उनमें अनेक तरह की, यहाँ तक कि शरीर की भी, थोड़ी बहुत समानता पाई जाती है। इसी को जातीय विशेषता कहते हैं। और ये विशेषतायें थोड़े बहुत अंश में वंशपरम्परा से चली जाती हैं।

क़ौमी विशेषताओं का राजकीय विकास पर द्विविध परिणाम होता है।

(१) उसी क़ौम के लोगों में एकता अधिक रहती है। इस कारण उनका एक ही राज्य में सम्मिलित होना सहज होता है। शारीरिक, मानसिक और नैतिक एकता के कारण एक क़ौम के लोगों का एक राष्ट्र बनना स्वाभाविक बात है। यही बात बहुतांश में आज तक पाई गई है।

(२) क़ौम की उत्पत्ति कुछ अंश में एक ही कुल से होने की सम्भावना है। बढ़ते बढ़ते एक कुल से अनेक कुल हो जाते हैं। कुल, गोत्र और जाति इस विकास की परम्परा हैं। ऐसे लोगों में एकता और समानता होती है और उनका एक राज्य बन जाना कोई कठिन बात नहीं। बहुत से राज्यों में इस सम्बन्ध के कुछ अवशेष बहुत काल तक देख पड़ते हैं।

८. ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि एकराष्ट्र की उत्पत्ति बहुधा एक क़ौम से होती है। राष्ट्र और क़ौम में जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, उतना ही वह राज्य अधिक स्थायी होगा। ऊपर कह ही चुके हैं कि एक क़ौम के लोगों के आचार-विचार, रहन-सहन, रूप-रङ्ग बहुधा एकसमान होते हैं। उनकी भाषा और धर्म भी बहुधा एक होते हैं। इस कारण उनमें एकता का होना स्वाभाविक बात है। उनकी सब प्रकार की आवश्यकतायें भी समान ही होती हैं। इस कारण एक क़ौम का एक ही

राज्य में शामिल होना और उनका इस कारण एक राष्ट्र बनना भी स्वाभाविक बात है। दूसरे धर्म के, दूसरी भाषा बोलनेवाले, और दूसरे आचार-विचार के लोगों को अपनाना कठिन काम है। यह मनोवृत्ति की बात है, उसमें किसी प्रकार की ज़बरदस्ती नहीं की जा सकती। शिक्षा के बढ़ने से आजकल मनोवृत्ति का कुछ स्थान बुद्धि ने ले लिया है, और कहीं कहीं भिन्न भिन्न क़ौमों के लोग एकत्र रहने लगे हैं। परन्तु वहाँ भी बहुतांश में क़ौमी बन्धन देख पड़ते हैं। ऊपर कुछ स्थानों में यह बतला ही चुके हैं कि योरपीय लोग एशियाई लोगों को यथाशक्य अपने राज्यों में नहीं आने देते। एशियाई लोगों के विरुद्ध उन्होंने अनेक क़ानून बना डाले हैं और इनके कारण सदा घोर आन्दोलन बना रहता है। इतने काल में भी जातीय कूपमण्डूकता बहुतांश में बनी ही है।

९. अब तक हमने मनुष्यों के समूहमूलक परिणामों का विचार किया। मनुष्यों का व्यक्तिशः भी कुछ कम परिणाम नहीं होता। कोई कोई तो यहाँ तक बढ़कर कह डालते हैं कि राष्ट्रों का इतिहास महापुरुषों की जीवनी है। यह सत्य है कि महापुरुषों का जगत् के इतिहास पर भारी परिणाम हुआ है। महाराष्ट्र के इतिहास पर शिवाजी के क्या क्या परिणाम हुए, यह सब लोगों पर विदित ही है। कई विवेचनों में यहाँ तक दिखलाया जाता है कि महाराष्ट्र का सौ सैकड़ा इतिहास शिवाजी ने ही रचा। परन्तु इसमें कुछ अतिशयोक्ति है। महाराष्ट्र का इतिहास शिवाजी ने अवश्य रचा और मराठी राज्य के कर्ता-धर्ता वे ही रहे, तथापि यह भी सत्य है कि उनके कार्य के लिए बहुत सी अनुकूल परिस्थिति पहले से ही बन चुकी थी। यदि ऐसा न होता तो शिवाजी का कार्य सफल न हुआ होता। यही बात कम अधिक परिमाण में दूसरे महापुरुषों को लागू होती है। यदि कुछ अंश में ये लोग नई परिस्थिति के निर्माणकर्ता होते हैं, तो कुछ अंश में वे स्वयं परिस्थिति के निर्मित किये होते हैं। बहुधा देखने में आता है कि ऐसे पुरुषों के

विचार और कार्य परिस्थिति से मिलते-जुलते रहते हैं। इस कारण यह कहना अयोग्य न होगा कि महापुरुष अपने कार्य के प्रतिनिधि होते हैं।

१०. परन्तु केवल महापुरुष ही नई परिस्थिति के निर्माण-कर्ता नहीं होते। उनके साथ में उनके लोग भी रहते हैं। इनका भी इतिहास के निर्माण में थोड़ा-बहुत भाग रहता है। राज्यों के बनाने-मिटाने का श्रेय या दोष इन्हें भी देना चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु लोग अपनी बुद्धि के बल से प्राकृतिक परिस्थिति को भी थोड़ा-बहुत बदल देते हैं। और इस प्राकृतिक परिवर्तन का राज्यों पर भारी परिणाम होता है। ऊपर कह ही चुके हैं कि मनुष्य अपनी परिस्थिति का पूर्णतया दास नहीं है। वह अपने ज्ञान के बल पर उसका मालिक भी हो सकता है। समुद्रों को पार कर सकना कोई मामूली बात नहीं समझना चाहिए। जहाँ रास्ते न थे, वहाँ मनुष्य ने रास्ते बना लिये हैं। रेलगाड़ियों के लिए पहाड़ों को मनुष्यों ने फोड़ डाला है और आवागमन की प्राकृतिक बाधाओं को दूर कर दिया है। कई स्थानों पर दलदल का पानी निकाल बाहर किया गया है और उस भूमि से पैदाइश होने लगी है। स्वेज़ और पनामा की नहर उसके महान् कार्यों के जीते-जागते उदाहरण हैं। मनुष्य ने जङ्गलों को साफ़ करके कीट-पतङ्ग की जाति को मार भगाया है और वहाँ की आब-हवा बदल दी है। यह सबको मालूम ही है कि हालेंड के लोगों ने समुद्र को हटाकर उससे ज़मीन छीन ली है और अपने बचाव के लिए बड़ी बड़ी दीवालें खड़ी कर दी हैं। इन दीवालों के अभाव में हालेंड का राज्य न जाने कहाँ रहता? नहरों के बनाने से ज़मीन उपजाऊ हो जाती है, साथ ही आवागमन का मार्ग बन जाता है। नये नये जानवर और वनस्पतियों की उत्पत्ति हो सकती है और विज्ञान के सहारे उनकी जाति सुधारी जा सकती है। यन्त्र-सामग्री से मनुष्य की शक्ति लाखों गुनी बढ़ जाती है। नये नये खाद्य और नये नये वस्त्रों के सहारे मनुष्य प्रतिकूल परिस्थिति और

जलवायु में भी रह सकता है। वैद्यविद्या ने भी इतनी उन्नति कर ली है कि पनामा जैसे रोगी स्थान को भी मनुष्य ने अपने उपयोग का बना डाला है। स्विट्ज़रलैंड में प्रकृति क़रीब क़रीब प्रतिकूल है। परन्तु जो कुछ वहाँ है, उसी का मनुष्य ने भरपूर उपयोग किया है और इस तरह प्रतिकूल अवस्था में भी वह समृद्धिशाली हो सका है। विद्युच्छक्ति के चमत्कार तो अवर्णनीय हैं। तार ने तो सारी दुनिया को मानो एक ही बना डाला है। उसके कारण दूरी का प्रश्न ख़बर की दृष्टि से रह ही नहीं गया। इस प्रकार अनेक रूपों में प्रकृति पर मनुष्य ने विजय प्राप्त कर ली है। प्रकृति दुर्दम्य ज़रूर है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि भी कुछ कम चमत्कार करनेवाली नहीं है। और इन सबका राजकीय बातों पर ख़ूब परिणाम होता है। रेल और तार के ही कारण आज-कल के बड़े बड़े राज्यों का चलना शक्य है। रेल और तार निकाल दो, फिर देखो कि अमरीका का संयुक्त-राज्य कितने काल तक इतना बड़ा बना रह सकता है ? ब्रिटिश-साम्राज्य की मजबूती जहाज़ों से ही नहीं है, तार से उसका बड़ा सहारा है। वायुयान की खोज से पर्वतों और समुद्रों की बाधा बहुत कम हो गई है। यह सर्वविश्रुत ही है कि जर्मनी की कृत्रिम नील ने हिन्दुस्थान के प्राकृतिक नील की खेती नष्ट कर डाली ! ऐसी हज़ारों क्या लाखों बातें बतलाई जा सकती हैं कि जिससे दिखलाया जा सकता है कि मनुष्य ने मानो प्रकृति को दबा डाला है, या उसे अपने अधीन कर डाला है, अपनी 'चेरी' बना डाला है। इन सब बातों का राजकीय घटनाओं पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम अवश्य होता है।

११. हमने अब तक हिन्दुस्तान की प्राकृतिक परिस्थिति के परिणामों का बहुत कम विचार किया। इसलिए अब इस विषय का एकदम संक्षेप में विचार करेंगे।

हिन्दुस्थान का इतिहास उठाकर देखते हैं, तो पहले यही देख पड़ता है कि वायव्य दिशा से आर्य लोगों के झुंड के झुंड चले आ

रहे हैं। वे सब आकर पंजाब की नदियों के किनारे बसते जाते हैं। उनमें उस काल के मान से यथेष्ट राजकीय व्यवस्था देख पड़ती है। कार्यों के अनुसार लोगों के वर्ग-भेद हैं। कोई बहुधा राज्य का काम चलाते हैं, तो कोई बहुधा धर्म का काम करते हैं और कोई खेती वग़ैरह का काम करते हैं। यहाँ के इन दलों के मूलनिवासियों से ही युद्ध नहीं हुए, इनमें आपस में भी हुए। जब उनकी संख्या बहुत होगई तो वे धीरे धीरे गंगा-यमुना की तराई में घुसने लगे। यहां उनके बलशाली राज्य उत्पन्न हुए। कहीं कहीं प्रजातन्त्र थे, परन्तु बहुधा एकसत्ताक राज्यों की सृष्टि अधिक हुई। यमुना के नीचे मरुभूमि थी, तो गंगा के नीचे जङ्गली पहाड़ थे। इस कारण आर्यों की बस्तियां गंगा-यमुना और उनकी सहायक नदियों के किनारे यानी उपजाऊ मैदान में ही अधिक हुईं। विन्ध्याचल के ऊपर ही वे अधिक काल तक बने रहे। परन्तु आख़िर को पूर्वीय दिशा से उनका दक्षिण में भी प्रवेश हुआ। ग्रीस के छोटे छोटे नगर-परिमित राज्य हिन्दुस्थान में नहीं पैदा हुए। परन्तु यहाँ भी नगरों की सृष्टि हुई। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, कांपिल्य, साकेत, श्रावस्ती, काशी, राज-गृह, कपिलवस्तु, गया, कुशिनगर आदि प्रसिद्ध नगर यहां भी थे। और वे बहुधा एक एक राज्य की राज्यधानी के केन्द्र थे। तथापि उनकी सीमा एक नगर के आसपास के दो-चार मील के विस्तार में समाप्त न होती थी। उस समय के राज्यों का भौमिक स्वरूप आज-कल जैसा ही था। भेद इतना ही था कि उनका विस्तार आजकल के राज्यों से छोटा होता था। परन्तु पीछे पीछे यथेष्ट बड़े राज्य पैदा होने लगे। उनमें से कौशल, काशी और मगध के राज्य बहुत प्रसिद्ध हैं।

आर्यों के आने के बाद अन्य कई जातियों की समय समय पर चढ़ाइयाँ हुईं। उनमें से बहुतांश लोग यहाँ आकर बस जाते थे। उनका दक्षिण में भी प्रवेश होता गया। और वहाँ भी यथेष्ट राज्य उत्पन्न हुए। राजपुताना और दक्षिण में, विशेषकर, आजकल

के महाराष्ट्र में, शक लोगों की बस्तियाँ अधिक हुईं। परन्तु विशेषता यह रही कि आर्यों की सभ्यता को सबने स्वीकार कर लिया। इस कारण हिन्दुस्थान में एकता का एक बड़ा भारी कारण बहुत प्राचीन काल से यहां बना रहा। विन्ध्याचल ने हिन्दुस्थान के उत्तरी भाग को दक्षिणी भाग से अलग अवश्य किया है, परन्तु भरपूर नहीं। इस पर्वत की बाधा केवल अर्धबाधा है। इसके परिणाम इस देश के इतिहास पर बहुत बुरे हुए। उत्तरी राज्यों को शक्तिशाली होने पर दक्षिण को जीतने का लोभ अवश्य उत्पन्न हुआ, परन्तु वे कभी अच्छी तरह उसे न जीत सके। श्रीहर्ष का दक्षिण को जीतने का ऐसा ही पहला प्रयत्न है। बाद में अकबर से लगाकर औरंगज़ेब तक ऐसे ही प्रयत्न हुए और उनका परिणाम भी कम अधिक परिमाण में वैसा ही रहा। पहले कह ही चुके हैं कि योरपीय लोगों के पहले हिन्दुस्थान में जितनी चढ़ाइयां हुईं वे सब वायव्य की घाटियों से ही हुईं। और उनमें से बहुतेरों का प्रवाह पंजाब से बंगाल की ही ओर रहा। दक्षिण में समुद्र होने के कारण, उधर बहुत समीप देश कम होने के कारण और उस समय नाविकविद्या बाल्यावस्था में होने के कारण उधर से हिन्दुस्थान पर कोई चढ़ाइयाँ न हुईं। यहाँ के लोग उधर से अन्यत्र गये ज़रूर और अरब लोग भी यहां व्यापार करते रहे। परन्तु इन बातों का हिन्दुस्थान की राजकीय घटनाओं पर बहुत कम परिणाम हुआ। योरपीय लोगों के आने पर ही समुद्र का किनारा कमज़ोर होगया। हिन्दुस्तानी लोग नाविक विद्या में कम-ज़ोर थे। इस कारण योरपीय लोगों के पैर यहाँ के किनारे पर अच्छी तरह टिक सके। अन्त में जिस राष्ट्र की नाविक शक्ति अच्छी रही, उसी का यहाँ राज्य हुआ।

ऊपर हमने प्राकृतिक परिणामों में से बहुत थोड़े का उल्लेख किया है। विस्तार के लिए यह स्थान नहीं है। इसके लिए अलग ही विवेचन करना चाहिए।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

अधिकार-विभाजन-तत्त्व

१. प्रत्येक राज्य को मुख्यतः तीन प्रकार के कार्य करने होते हैं। (क) प्रथम कार्य क़ानून का बनाना। जिन नियमों से जन-समाज के परस्पर व्यवहार नियन्त्रित होते हैं वे नियम ही यदि मालूम न हों तो नियन्त्रण हो ही कैसे सकता है? नियमों को लोगों पर प्रकट करना राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है। एक मामूली क्लब स्थापन करने के पहले जब उसके नियम बना लेने पड़ते हैं, तो एक राज्य-प्रबन्ध के नियम निश्चित करने की कितनी आवश्यकता है यह कोई भी स्वयं ही अनुमान कर सकता है। इसी लिए हमारे प्राचीन विद्वानों का कथन है कि जहां राजा न हो वहां न रहना चाहिए। क्योंकि जहाँ राजा नहीं होता वहाँ अन्धेर-नगरी की सी स्थिति रहती है। इसलिए जायदाद और माल, करार, अधिकार इत्यादि के नियम निश्चित होने चाहिए। (ख) नियम निश्चित करने पर लोगों के हकों का रक्षण करना, तथा नियमों के अतिक्रमण होने पर दण्ड देना राज्य का दूसरा कार्य है। नियम बना कर पुस्तक में रख देने से कार्य नहीं चल सकता, उनका पालन भी होना चाहिए। इसके लिए न्याय-विभाग होना चाहिए। लोगों का वास्तविक स्वातन्त्र्य और सुख इसी पर निर्भर है। (ग) तीसरे, निर्णय होने के बाद तदनुसार कार्य किया जाना चाहिए। मूलपुरुष की वस्तु, हक़ अथवा हानि की पूर्ति, आदि जो कुछ हो वह उसे मिल जाना चाहिए। यदि कोई दण्डनीय ठहराया जाय तो उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। सारांश यह है, न्याय का पूरा पूरा अमल किया जाना चाहिए।

मोटी तरह से प्रत्येक राज्य-प्रबन्ध के, क़ानून, न्याय और अमल—ये तीन मुख्य भाग हैं। शेष बातें बहुधा इन्हीं कार्यों की पूर्ति के लिए की जाती हैं अथवा देशहित के नये प्रश्न अपने हाथ में लेकर सरकारें अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ा लेती हैं; तथापि वास्तविक कार्य व्यवस्था रखने का है, और इसलिए क़ानून का बनाना, उसके अनुसार निर्णय करना और तदनुसार अमल या शासन करना ही प्रत्येक राज्य-प्रबन्ध के मुख्य भाग हैं।

२. मान लीजिये, जो पुरुष क़ायदे बनाते हैं वे ही उनके अनुसार निर्णय भी करते हैं। ऐसी दशा में पहले तो उनके मन में इसी बात की गड़बड़ी हुआ करेगी कि क़ायदा क्या है और कैसा होना चाहिए था। क़ायदा जैसा होना चाहिए वैसा निर्णय करने की प्रवृत्ति उन लोगों में अधिक हुआ करेगी। 'चाहिए' और 'है' का भेद उनके ध्यान में कम रहेगा। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि लोगों का परस्पर सम्बन्ध जिन नियमों से निश्चित और नियन्त्रित करना है उन्हें निर्णय करने के पहले लोगों पर प्रकट कर देना चाहिए। यदि क़ानून बनाने का अधिकार और तदनुसार निर्णय करने का अधिकार एक ही हाथ में रहा, तो क़ायदा निश्चित होकर भी अनिश्चित हो जावेगा।

(क) "कैसा होना चाहिए" और "कैसा है" की गड़बड़ी में क़ायदा अनिश्चित रहेगा। दूसरे, जब क़ानून के बनानेवालों में और मामूली लोगों में झगड़ा उपस्थित होगा, तो निर्णय कौन करेगा? क्या वे अपना निर्णय बिना पक्षपात के स्वयं कर सकेंगे? यह आशा करना मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध है। तीसरे, श्रमविभाग के तत्त्व का भी स्मरण रखना चाहिए। ज्यों ज्यों समाज के नियम संख्या में बढ़ते और क्लिष्ट होते जाते हैं, त्यों त्यों यह आवश्यकता होने लगती है कि एक पुरुष एक ही तरह का कार्य करे। ऐसा करने से कार्य अच्छा होता है। वही काम करते करते लोग उसमें प्रवीण हो जाते हैं। नाना तरह के कार्य करने से श्रम और समय बँट जाता है और कोई भी काम ठीक नहीं हो पाता। चौथे, जैसा आगे चल कर देखेंगे, क़ानून बनानेवालों को राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी और

भी अनेक कार्य करने पड़ते हैं; इसलिए निर्णय का कार्य उन्हीं लोगों पर लादना अनुचित होगा। पाँचवें, क़ानून बनानेवाली सभा में बहुधा अनेक लोग हुआ करते हैं, और कार्य की दृष्टि से उसमें बड़ी संख्या आवश्यक भी है। यदि इतने लोगों से न्याय का अच्छा होना असम्भव न माना जावे, तो अशक्य अवश्य मानना पड़ेगा। सारांश यह कि क़ानून बनानेवाले लोगों से न्याय करनेवाले लोगों का विभाग सदैव भिन्न होना चाहिए।

(ख) अब सोचिए कि यदि क़ानून बनानेवालों को ही न्याय-विभाग के किये हुए निर्णय के अनुसार अमल करने का भी अधिकार दिया जाय, तो क्या होगा। लोक-दृष्टि से अमल का काम बड़े महत्त्व का है। यदि अमलदारों को ही क़ानून बनाने का भी अधिकार रहे तो अमलदार चाहे जो अन्धेर कर सकेंगे। न्याय-विभाग को तो क़ानून के अनुसार निर्णय करना ही होगा। क़ायदा कैसा होना चाहिए इस बात का प्रश्न फिर उनके सामने रहेगा नहीं। उन्हें केवल यही जानना होगा कि क़ायदा क्या है। वास्तव में अमल का कार्य ऐसा है कि उसके करने-वालों पर किसी न किसी की कड़ी दृष्टि बनी रहनी चाहिए। यदि क़ानून बनानेवाले को ही अमल का अधिकार रहा तो वह क्या नहीं कर सकेगा। उस राज्य में 'टका सेर भाजी, टका सेर खाजा' की कहावत सहज ही में चरितार्थ हो जावेगी, इसलिए अमलदारों के कार्यों पर किसी की दृष्टि बनी रहना आवश्यक है, और क़ानून बनानेवालों को ही अमल के अधिकार देना नितान्त अनुचित है। एक दूसरी बात और भी है। शासन-विभाग का कार्य बिना द्रव्य के नहीं चल सकता। लोगों से द्रव्य लेकर ही राज्य-प्रबन्ध चलता है। कितना द्रव्य किस कार्य के लिए चाहिए, यह शासन-विभाग बतला सकता है, पर उतना यथार्थ में चाहिए या नहीं, इस बात का निर्णय होना चाहिए। फिर, वह दिया हुआ द्रव्य बराबर निश्चित कार्य में खर्च किया जाता है या नहीं, इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए। इन दो कार्यों का भार किस पर

रहे यह विचारणीय है। इतिहास से पता चलता है कि अभी तक इन दोनों कार्यों का भार क़ानून बनानेवाले पर ही रहता था। यदि क़ानून बनानेवालों पर ही ये छोड़ दिये जायँ तो वे क़ायदे को चाहे जितना सन्दिग्ध बना कर उसका चाहे जैसा अमल कर सकते हैं। जिन देशों में ये अधिकार एकत्रित हैं वहाँ का इतिहास पढ़ने से इसके भयङ्कर परिणाम मालूम हो सकते हैं। इसलिए अमल करने और क़ानून बनाने के अधिकार यथाशक्य अलग अलग रहना अत्यावश्यक है।

(ग) इसी प्रकार यह भी उतना ही आवश्यक है कि न्याय और अमल के अधिकार अलग अलग रहें। न्याय शब्द अत्यन्त पवित्र है। न्याय करते समय विकार-रहित रहना बहुत आवश्यक है। विकारों को मन में स्थान देना नितान्त अनुचित है। ऐसे समय पक्षपात न हो, किसी पर अन्याय न किया जावे, किसी का हक़ न मारा जाय, किसी का स्वातन्त्र्य अकारण नष्ट न किया जाय, बदला लेने की इच्छा न हो। इस सबके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मन शान्त, स्थिर और पूर्व-प्रवृत्ति-रहित हो। यदि न्याय के साथ उसके अमल का भी अधिकार रहा तो न्याय का तो कहीं पता ही न रहेगा, और फिर ज़ुल्म करने का अच्छा यन्त्र तैयार हो जावेगा। अमल का अधिकार बड़े महत्त्व का है, और लोगों का उससे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। शासन-विभाग के पुरुषों से लोग डरते रहते हैं; क्योंकि ये लोग चाहें तो लोगों को चाहे जैसा कष्ट, क़ायदे की चंगुल में फँसे बिना भी, दे सकते हैं। इन कार्यों का क़ानून सदा सन्दिग्ध रहता है। इसलिए न्याय और अमल को एकत्र करने से, न्याय के नाम पर, बड़ी आसानी से ज़ुल्म किया जा सकेगा। इस तरह लोगों का स्वातन्त्र्य चाहे जैसे नष्ट किया जा सकता है। इन दो अधिकारों को एकत्र रखने के विरुद्ध केवल यही आक्षेप नहीं है। इससे निकलने-वाला एक दूसरा बड़े महत्त्व का आक्षेप यह है कि यदि इन शासन-विभाग के अफ़सरों ने क़ायदे का उल्लङ्घन किया तो उनका न्याय कौन करे? जिन लोगों पर क़ायदों के पालन करवाने का बोझ है यदि वे लोग

क़ायदा तोड़ें, तो उन्हें वास्तव में अधिक दण्ड होना चाहिए। 'उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध'* का अर्थ केवल यह नहीं कि राज्य-प्रबन्ध में लोगों का भाग रहे और वे शासन-विभाग पर दृष्टि बनाये रहें। इससे अधिक महत्त्व का दूसरा तत्त्व यह है कि शासन करनेवाले भी मामूली लोगों के समान मामूली अदालतों में अभियुक्त हो सकें। तभी वे अपने अधिकारों की सीमा का अतिक्रमण न करेंगे। क़ायदा सबको एक समान लागू हो—इसके लिए न्याय और शासन यानी अमल के अधिकारों का अलग अलग रहना आवश्यक है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगया होगा कि इन तीन विभागों का—इन तीन अधिकारों का—अलग रहना, लोगों के स्वातन्त्र्य और सुख की दृष्टि से, अत्यन्त आवश्यक है।

३. इससे यह न समझना चाहिए कि इन राज्याङ्गों के कार्य बिलकुल विशिष्ट हैं या इन्हें दूसरे राज्याङ्गों के कार्यों का अधिकार बिलकुल नहीं रहता।

(क) क़ायदे का मुख्य स्वरूप यह है कि वह सामान्य हो, अर्थात् क़ानून बनाने का यही अर्थ है कि वे सब लोगों को अथवा सरकार के नौकरों को एक समान लागू हों और उनका उल्लङ्घन करने पर किसी एक तरह का दण्ड दिया जाय; परन्तु सरकार के नौकरों के लिए ऐसे नियम बनाना कि जिनसे वे अपना अपना कार्य ठीक करते रहें, क़ानून बनानेवाली सभा के लिए अशक्य है। काम लेने के नियम वे ही अच्छी तरह बना सकते हैं जो कार्य लेते हैं। फिर प्रत्येक बात का विशिष्ट नियम बनाना व्यवस्थापक-सभा के लिए असम्भव सा है। परिणाम यह निकलता है कि इन नियमों का बनाना शासन-विभाग के सर्वोच्च अधिकारियों पर छोड़ देना चाहिए, अर्थात् इस सम्बन्ध के क़ानून (क्योंकि एक दृष्टि से

---

* इस तत्त्व का अधिक विवेचन "उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध" नामक परिच्छेद में है।

ये क़ानून ही हैं) का बनाना अमल-विभाग का कार्य हो जाता है। इतना ही नहीं, कभी कभी सामान्य नियम बनाने पर विशिष्ट नियम बनाने का कार्य भी बहुधा शासन-विभाग पर छोड़ दिया जाता है। जिन्हें अमल करना है वे ही जान सकते हैं कि विशिष्ट परिस्थिति में कौन से नियम चाहिए। इतना ही नहीं, परिस्थिति के परिवर्तन के साथ विशिष्ट नियम भी परिवर्तित करने पड़ते हैं। फिर यह भी आवश्यक है कि शासन-विभाग के सर्वोच्च शासक—सर्वोच्च अधिकारी की सम्मति, क़ायदों का स्वरूप मिलने के लिए अनिवार्य हो जिससे यह देखा जा सके कि अमुक क़ायदे से काम चलेगा या नहीं, या अमुक क़ायदे से किसी का स्वातन्त्र्य अथवा सम्पत्ति तो नहीं हरण की जाती; किसी व्यक्ति-विशेष पर ज़ुल्म तो नहीं किया जाता। ये सब बातें वे ही अच्छी तरह जान सकते हैं जिन्हें क़ायदों का अमल करना होता है। इसलिए शासन-विभाग के सर्वोच्च शासक की सम्मति क़ायदे के बनाने में आवश्यक समझनी चाहिए।

पहले ही कह चुके हैं कि क़ायदे बनाने का अप्रत्यक्ष कार्य थोड़े बहुत अंश में न्याय-विभाग को भी करना पड़ता है। जैसा ऊपर बताया गया है कि किसी देश के क़ायदे इतने स्पष्ट और विशिष्ट नहीं हो सकते कि क़ायदों के अनुसार निर्णय करते समय एक खास नियम उठाकर उस प्रकार रत्ती रत्ती न्याय बराबर किया जा सके। क़ायदों का स्वरूप सामान्य होता है, वे नियम सब लोगों के लिए बनाये गये हैं, किसी व्यक्ति-विशेष अथवा किसी एक प्रसंग के लिए नहीं बनाये जाते। उनकी सामान्यता के कारण प्रत्येक समय निर्णय करना होता है कि अमुक क़ायदे का—अमुक शब्दों का—विशिष्ट स्थल पर क्या अर्थ है और इस विशिष्ट प्रसङ्ग पर वह कहां तक लागू हो सकता है। कभी कभी ऐसा अर्थ करने में वह क़ायदा बिलकुल बदल भी जाता है। क़ायदों का अर्थ विशिष्ट और सदा स्पष्ट न होने के कारण न्याय-विभाग को उसका अर्थ निश्चित करने का, और इस तरह अप्रत्यक्षरीत्या क़ानून बनाने में भाग लेने का कार्य

करना ही पड़ता है। कभी कभी तो किसी किसी प्रसङ्ग के लिए क़ायदा बिलकुल ही निश्चित नहीं रहता। उस समय तो क़ायदे का अर्थ खींचा-तानी में कुछ का कुछ हो जाता है। इस प्रकार क़ायदा बनाने का थोड़ा बहुत कार्य न्याय-विभाग से भी होता रहता है। बहुत से क़ायदे अनेक देशों में इसी प्रकार बने हैं।

सारांश, क़ानून बनाने का कुछ कार्य शासन-विभाग और न्याय-विभाग दोनों को करना पड़ता है—उनसे वह बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता।

फिर व्यवस्थापक-सभा को ही अनेक तरह के कार्य करने पड़ते हैं। ऊपर दो कार्यों का उल्लेख हो ही चुका है। शासन-विभाग पर नज़र रखने का और उसके कार्यों की आलोचना करने का अधिकार देश की व्यवस्था के नियमों के बनानेवालों को ही होना चाहिए।* यह कार्य न तात्त्विक रीति से उनसे अलग करना चाहिए, न ऐतिहासिक दृष्टि से ही इन कार्यों के लिए एक भिन्न राज्याङ्ग की आवश्यकता ही दीख पड़ती है। द्रव्य के मार्ग निश्चित करने का और उसका उचित विनियोग करवा लेने का कार्य भी उसे ही करना चाहिए। फिर कोई देशहित का आवश्यक कार्य करवा लेने का भार भी उसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण उसी पर आ गिरता है। नियम के अनुसार राज्य के मन्त्रियों को बहुधा

---

* अधिकारविभाजन का मुख्य हेतु लोक-स्वातन्त्र्य की रक्षा है। शासन-विभाग के कार्यों की आलोचना करने का अधिकार यदि व्यवस्थापक-सभा न ले तो शासन-विभाग पर कोई दबाव न रहेगा और उसकी मनमानी चलने लगेगी। परिणाम यह होगा कि अधिकार-विभाजन के तत्त्वों का हेतु ही इस तरह निष्फल हो जावेगा; इसलिए इन अधिकारों को विभक्त करने के तत्त्व अच्छी तरह जान लेना आवश्यक है।

राज्य का सर्वोच्च अधिकारी नियत करता है; पर कई देशों* में विशिष्ट राज्य-घटना के कारण व्यवहार में उन्हें व्यवस्थापक सभा ही नियत करती है। फिर, सभा के भीतर की कार्रवाइयों के नियम तदनुसार निर्णय और अमल इत्यादि बातें उसी को करनी पड़ती हैं। इस प्रकार व्यवस्थापक-सभा को बहुविध कार्य करने पड़ते हैं।

(ख) शासन-विभाग को भी सिर्फ़ अमल का ही कार्य नहीं करना पड़ता। ऊपर बतलाया गया है कि सामान्य नियमों के विशिष्ट उपनियम बनाने का, और इस तरह क़ानून बनाने का कार्य इस विभाग को करना ही पड़ता है। फिर न्याय का अधिकार न रहने पर भी इन अफ़सरों को थोड़ा-बहुत न्याय का काम करना पड़ता है। मान लीजिए कि किसी ने कुछ जुल्म किया। कभी उसे बिना वारण्ट के पकड़ सकते हैं, कभी गिरफ़्तारी के लिए वारण्ट निकालना पड़ता है। किस तरह से उसकी गिरफ़्तारी की जावे? इसके लिए बुद्धि से उसी तरह का—न्याय का निर्णय करने का—कार्य लेना होगा। किसी पर कर लगाते समय जिस बुद्धि का निर्णय होगा उसी का किसी माल के हक़दार का निर्णय करते समय करना होगा। यथा, जेलखाने में क़ैदियों के लिए नियम बने रहते हैं। उनका उल्लङ्घन होने पर, उनके अनुसार दण्ड देने के लिए भी, न्याय-बुद्धि का ही उपयोग करना होगा। इसी प्रकार कई उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जहां शासन-विभाग को भी न्याय का कार्य थोड़ा बहुत, और कभी कभी बड़े महत्त्व का, करना होता है। इसके विपरीत, न्याय-विभाग को भी शासन-विभाग के अधिकारियों की बुद्धि रखनी पड़ती है। क्या इस पुरुष को इस सज़ा से कुछ लाभ होगा या नहीं? वह किस प्रकार की और कितनी होनी चाहिए कि वह फिर गड़बड़ न मचावे—यह बात न्यायाधीश को भी ध्यान में रखनी होती है। वारण्ट निकालने का थोड़ा-बहुत अधिकार न्यायालयों को

*इँग्लेंड इसका एक बड़ा भारी उदाहरण है।

होना ही चाहिए, यद्यपि यह वास्तव में शासन-विभाग का कार्य है। न्याय के कार्य की व्यवस्था, पक्षकारों से अदालत के नियमों का पालन करवाना, अदालत के समय शांति रखना, गवाहों को बुलाना, और किसी विशिष्ट प्रसंग पर कौनसी रीति से जांच-पड़ताल करना, इत्यादि बातें शासन-विभाग के कार्यों के समान ही हैं। इस प्रकार इन दो विभागों को थोड़ा बहुत दूसरे विभाग का कार्य करना ही पड़ता है।

सारांश, इन कार्यों को बिलकुल अलग करना असम्भव है। कुछ अंशों में ये तीन विभाग परस्पर के विभाग का कार्य करते ही रहेंगे।

४. पहले बतलाया गया है कि क़ानून बनानेवालों की दृष्टि शासन-विभाग पर बनी रहनी चाहिए और उसके कार्य की आलोचना उसके सर्वोच्च अधिकारियों के सामने होनी चाहिए। इतना ही नहीं किन्तु उन्हें अप्रत्यक्ष रीति से दूर करने का अधिकार भी क़ानून बनाने-वालों के हाथ में रहे; पर न्याय-विभाग की वैसी बात नहीं है। इस विभाग के कार्य पर लोगों की स्वतन्त्रता अवलम्बित रहती है; क्योंकि शासन-विभाग के पुरुष भी क़ायदों के पालन करने के लिए उतने ही बाध्य हैं जितने कि मामूली लोग। इसके लिए न्याय-विभाग पर दूसरे दो विभागों का दबाव बहुत कम होना चाहिए। क़ायदों के अनुसार उन्हें स्वतन्त्र होकर निर्णय करने देना चाहिए। फिर उसमें शेष दो विभाग किसी तरह हस्तक्षेप न करें। न्याय-कार्य के लिए न्याय-विभाग बिल-कुल स्वतन्त्र रहे। इसके लिए आवश्यक है कि जब तक न्यायविभाग के पुरुष क़ायदे और नियमों का उल्लङ्घन न करें, तब तक अपने कार्य से दूर न किये जावें। उन्हें दूर करने का अधिकार बहुधा व्यवस्थापक-सभा को ही रहता है और वह भी न्याय की रीति से। उनका वेतन भी शासन-विभाग की मर्ज़ी पर न छोड़ा जाय—उसका भी स्वतन्त्र प्रबन्ध कर दिया जाय, जिसमें न्यायाधीश दूसरों पर किसी प्रकार अवलम्बित न

रहे और अपना कार्य स्वतन्त्रता से करता रहे। अधिकार-विभाजन की बड़ी भारी आवश्यकता यही है।

५. सारांश, अधिकार-विभाजन का तत्त्व लोगों की स्वतन्त्रता की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। यह दिखाया जा चुका है कि उनको बिलकुल अलग करना या एक दूसरे से (न्यायविभाग को छोड़कर) अलग अलग करना अशक्य है, और न उचित ही है। कहीं कहीं पर एक को दूसरे के प्रान्त में हस्तक्षेप करना पड़ता है यह भी दिखला दिया गया है। अधिक दख़ल करते समय दूसरे देशों की राज्य-प्रणाली की ओर दृष्टि देना आवश्यक है। मोटी तरह से कहना हो तो ये तीनों कार्य भिन्न हैं और मनुष्य-प्रकृति की ओर देखने से यही जँचता है कि वे भिन्न राज्यांगों के हाथ में रखे जायँ। अधिकार-बाहुल्य से मन अपना कार्य ठीक नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध स्वदेशाभिमानी संयुक्त-अमरीका के प्रथम प्रेसिडेन्ट जार्ज वाशिङ्गटन की उक्ति स्मरण रखने योग्य है। वे कहते हैं—"उसी प्रकार यह भी बहुत महत्त्व की बात है कि शासनाधिकारियों को स्वतन्त्र देशों की विचार-पद्धति के कारण अपने अधिकार का उपयोग करते समय स्मरण रखना चाहिए कि वे अपने सीमाबद्ध अधिकार का अतिक्रमण न करें—एक विभाग के अधिकारों का दूसरे विभाग के अधिकारों पर कोई परिणाम न होने पावे। इस प्रकार एक बार (दूसरे के) अधिकारों में हस्तक्षेप करने की आदत पड़ गई तो अन्तिम परिणाम यह होता है कि सारे अधिकार एक जगह आकर सङ्कलित हो जाते हैं। फिर राज्य-घटना किसी भी तरह की क्यों न हो, वह सच्चा अत्याचारी राज्य बन जाता है। मनुष्य स्वभाव से ही अधिकार का प्रेमी है और उसका दुरुपयोग करता है। इस कारण जो कुछ यहाँ कहा गया है, उसकी सत्यता अधिक दृढ़ हो जाती है। राज्याधिकार को विभक्त करके अलग अलग विभागों में बाँटने की ओर परस्पर उनके दबाव की और इस प्रकार ज़ुल्म रोक कर लोक-सुख की रक्षा की आवश्यकता प्राचीन

और अर्वाचीन इतिहास से जँच चुकी है। ये राज्याङ्ग प्रस्थापित करना आवश्यक तो है ही; पर अलग अलग रखना भी उतना ही आवश्यक है।" हमें केवल यही कहना है कि स्वतन्त्र देशों की अपेक्षा परतन्त्र देशों में यह आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होती है।

बारहवाँ परिच्छेद

अधिकार-विभाजन-तत्त्व के ऐतिहासिक परिणाम

१. गत परिच्छेद में देख चुके हैं कि प्रत्येक राज्य-प्रबन्ध के मुख्य तीन भाग होते हैं—(२) क़ानून बनाना, (२) उसके अनुसार न्याय करना, और (३) तदनुसार अमल करना। इन तीन कार्यों के लिए प्रत्येक राज्य-प्रबन्ध में मुख्य तीन अंग होते हैं—(१)—व्यवस्थापक-विभाग (२) न्याय-विभाग, और (३) शासन-विभाग। ये तीनों कार्य अच्छे चलें, लोगों की स्वतन्त्रता निर्बाध रहे और एक कार्य से दूसरे कार्य में रुकावट न हो, इसके लिए आवश्यक है कि ये तीनों कार्य करनेवाले राज्य-प्रबन्ध के तीन भिन्न अंग एक दूसरे से अलग रहें। एक से अधिक अधिकार एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथ में न रहे। साथ ही वे स्वतन्त्र भी हों, एक किसी के अधिकार के कार्यों में कोई दूसरा किसी भी प्रकार का दबाव न डाल सके। परन्तु यह भी बतला चुके हैं कि यह तत्त्व मोटी रीति से ग्राह्य हो सकता है, तथापि शासन-विभाग पर व्यवस्थापक-विभाग की दृष्टि रहना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि ऐसा न होने से शासन-विभाग चाहे जैसा कार्य कर सकता है और बड़ी भारी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। हाँ, यह अत्यन्त आवश्यक है कि न्याय-विभाग सब बातों में सर्वथा स्वतन्त्र रहे; क्योंकि स्वतन्त्र अवस्था में ही वह न्याय का कार्य पक्षपात-रहित होकर कर सकेगा और फिर लोगों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उससे भय कम रहेगा। अधिकार-विभाजन-तत्त्व का प्रचलित अर्थ यही है।

२. मांटेस्क्यू नामक ग्रन्थकार ने पहले-पहल जब इस तत्त्व का प्रतिपादन अठारहवीं सदी में बड़े ज़ोर से किया, तब इसका अर्थ ठीक यही नहीं था। अन्य देशों में इस तत्त्व के जो अर्थ किये गये उनमें भी कुछ भेद हो गया है और इस कारण उन देशों के राज्यप्रबन्ध की रचना में भी कुछ कुछ भिन्नता हो गई है।

मांटेस्क्यू का मत यह था—"यदि क़ानून बनाने और उनको अमल में लाने के अधिकार एक ही व्यक्ति-समूह को दे दिये जायँ, तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता न रहेगी; क्योंकि उससे आशङ्का रहेगी कि वे ज़ालिम क़ानून बना डालें और उनका अमल बड़ी सख़्ती के साथ करें। क़ानून बनाने और अमल करने के अधिकार से यदि न्याय का कार्य अलग न किया जाय तो भी स्वतन्त्रता न रहेगी। यदि वह क़ानून बनाने के अधिकार के साथ जोड़ दिया जाय, तो लोगों के जान-माल का कोई रक्षक न रहेगा; क्योंकि जब न्यायकर्त्ता ही क़ानून बनाने-वाला है, तब वह चाहे जो क़ानून बना डालेगा। और, यदि वह अमल के अधिकार के साथ जोड़ दिया जाय तो न्यायकर्त्ता अत्याचारी हो जावेगा।" सारांश यह कि ये तीनों अधिकार एक दूसरे से बिलकुल अलग और स्वतन्त्र रहें।

३. मान्टेस्क्यू ने यह तत्त्व ब्रिटिश-राज्य-प्रबन्ध की रचना को देख-कर ही सोचा था। इँग्लेंड और फ़्रांस में वैयक्तिक स्वतन्त्रता में जो भेद देख पड़ा उसका कारण इस ग्रन्थकार ने यह ठीक ही सोचा कि फ़्रांस में कम वैयक्तिक स्वतन्त्रता होने का कारण यह है कि वहाँ सब अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को दे दिये गये हैं। उस समय फ़्रांस की स्थिति सब प्रकार से बिगड़ चली थी। राज्य-प्रबन्ध का सर्वोच्च अधिकारी राजा था; पर राज्य के सूत्र प्रभावशाली स्त्रियों तथा अन्य लोगों के हाथ में चले गये थे। आर्थिक दशा को जाने दीजिए, लोगों के साथ ठीक ठीक न्याय होना कठिन था। सरकारी अफ़सर अपनी मनमानी चलाते थे। इस प्रकार लोगों की स्वतन्त्रता

का कहीं ठौर-ठिकाना न था। उसी समय इँग्लेंड में सुखदायक राज्यप्रबन्ध पहले से ही स्थापित था। ईसवी सन् १२१५ से अर्थात् जब राजा जान और उसके प्रधानों में झगड़ा हुआ था, तब से राजा के अधिकार धीरे धीरे नियन्त्रित हो चले थे, प्राचीन संस्थाओं में से नई नई संस्थायें विकसित हो चली थीं और राजा के अधिकार उनमें धीरे धीरे बँट गये थे। फिर सत्रहवीं सदी में राजा और पार्लिमेंट के बीच जो झगड़े हुए उनका परिणाम यह हुआ कि क़ानून बनाने, कर लेने और शासन-विभाग पर प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष दृष्टि रखने और उनके कार्यों की आलोचना करने के अधिकार पार्लिमेंट को पूर्णतया मिल गये। उसी समय न्याय-विभाग भी बिलकुल स्वतन्त्र बना दिया गया, न्याय-कर्ताओं के गिरफ़ारी-सम्बन्धी अधिकार भी बिलकुल निश्चित होगये और इस तरह लोगों की जान और माल पूर्णतया सुरक्षित होगये। इन दोनों राज्य-प्रबन्धों की तुलना कर उसने इँग्लेंड के लोगों की अच्छी स्थिति का कारण सोचा और उसे यह जान पड़ा कि राज्यप्रबन्ध के इन तीनों भिन्न अधिकारों के अलग और स्वतन्त्र होने से ही इँग्लेंड में स्वतन्त्रता अधिक है।

ऊपर इँग्लेंड के राज्यप्रबन्ध का जो सूक्ष्म वर्णन दिया गया है उससे पाठक जान सकेंगे कि मांटेस्क्यू का विवेचन सर्वथा ठीक नहीं—केवल मोटी रीति से वह ठीक कहा जा सकता है। इँग्लेंड की पार्लिमेंट को केवल क़ानून ही बनाने का अधिकार न था, वह शासन-विभाग के कार्यों को भी नियन्त्रित करती थी और उनकी आलोचना भी करती थी। दूसरे, शासन-विभाग के सर्वोच्च अधिकारियों तथा पार्लिमेंट का प्रत्यक्ष घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे उसके सदस्य रहते थे जैसा कि आजकल है। इस कारण उनसे दूसरे सदस्य अनेक प्रश्न कर सकते थे और सरकारी कार्रवाइयों का सारा हाल ठीक ठीक मालूम हो जाता था। फिर शासन-विभाग के अफ़सर भी मामूली लोगों की तरह, मामूली रीति से, किसी भी अदालत में अपने अनुचित कामों के लिए

अभियुक्त किये जा सकते थे। सारांश यह कि शासन-विभाग से व्यवस्थापक-विभाग से बिलकुल अलग और स्वतन्त्र न था। पर मांटेस्क्यू की दृष्टि में ये बातें न आईं और उसने उपरि-निर्दिष्ट तत्त्व ऐसा प्रतिपादित किया कि शासन-विभाग भी व्यवस्थापक-विभाग और न्याय-विभाग से पूर्णतया स्वतन्त्र रहे। अधिकारों के अलग रखने की बात कुछ भिन्न है और विभाग का पूर्णतया स्वतन्त्र रहना बात ही दूसरी है। इँग्लेंड में अब भी क़ानून और अमल के अधिकार अलग अलग हैं; पर व्यवस्थापक-विभाग शासन-विभाग के कार्यों को आलोचना-द्वारा नियन्त्रित कर सकती है, और इस प्रकार शासन-विभाग व्यवस्थापक-विभाग से दबा रहता है। हाँ, न्याय के अधिकार और विभाग पूर्णतया स्वतन्त्र हैं और उसकी आवश्यकता भी है।

४. अब देखिए कि फ्रांस और अन्य देशों में, अठारहवीं सदी में, जो नये नये राज्य-सङ्गठन हुए उनको यह तत्त्व कैसा लागू किया गया।

फ्रांस के क़ानून बनानेवालों ने इस तत्त्व का यह अर्थ किया कि मामूली न्यायाधीश शासन-विभाग से स्वतन्त्र रहें और उन्हें अपने स्थान से कोई दूर न कर सके, साथ ही सरकारी अफ़सर और उनके मातहतों पर इन मामूली अदालतों का कुछ भी अधिकार न रहे और वे इनसे अपने सरकारी ओहदे में पूर्ण स्वतन्त्र रहें। दूसरे भाग का अर्थ होता है कि यदि शासन-विभाग के अफ़सरों ने सरकारी ओहदे से कोई बेक़ायदा काम भी किया, तो भी इँग्लेंड के समान उन पर मामूली अदालतों में अभियोग न चल सके। ऐसा दुरर्थ करने का एक विशेष कारण यह था कि फ्रांस की परिस्थिति भिन्न थी। फ्रांस में न्याय की अन्तिम अदालत पार्लिमेंट थी। नीचे की अदालतों से यहाँ अपील हो सकती थी। इसके सिवा नीचे की अदालतों का कोई भी मामला वह अपने सामने प्रस्तुत करवा सकती थी। आगे चलकर परिणाम यह हुआ कि इस अदालत ने शासन-विभाग के अफ़सरों के

कामों में बहुत बाधा डाली। इस कारण फ्रांस के विचारकों को ऐसा जान पड़ा कि शासन-विभाग को स्वतन्त्र किये बिना उसका कार्य ठीक ठीक न चलेगा। इस कारण वहाँ के राज्य-सङ्गठन में शासन-विभाग के अफ़सरों पर न्यायविभाग का अधिकार अनुचित कामों के सम्बन्ध में भी कुछ न रहा। इस विभाजन का परिणाम यह हुआ कि सरकार और उसके कर्मचारियों से प्रजा का जो सम्बन्ध होना चाहिए उसके नियम अलग बनाये गये। जनता के अधिकारों के झगड़ों और अन्य अभियोगों का फ़ैसला मामूली अदालतों में किया जा सकता है; पर सरकारी ओहदे की हैसियत से सरकारी अफ़सर के किये हुए अपराध का विचार इन अदालतों में नहीं हो सकता। इसके लिए 'शासन-विभाग-सम्बन्धी अदालतें' स्थापित हुई हैं। यदि किसी को सरकारी अफ़सर के किसी कार्य के विरुद्ध कुछ कहना हो तो उसे इन 'शासन-विभाग-सम्बन्धी अदालतों' की शरण लेनी चाहिए। परन्तु इन नामधारी अदालतों का स्वरूप केवल अर्द्ध-न्यायालय के समान है। जब शासन-विभाग-सम्बन्धी क़ायदों के प्रश्न उपस्थित होते हैं, तब उसी विभाग के अफ़सर उनका विचार करते हैं। मामूली अदालतों की न्याय-रीति भले ही थोड़ी-बहुत उनमें ले ली गई हो; पर यहाँ उन सरकारी अफ़सरों की दृष्टि सरकारी ही हो जाती है और इस कारण उनका न्याय उसी प्रकार का रहता है। इन अदालतों के कारण एक तीसरे तरह की अदालतों की आवश्यकता हुई है जो 'अनिश्चिताधिकार की अदालतें' कहाती हैं। जब कभी यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक मामला किस तरह की अदालत में पेश हो, तब इस बात का निर्णय ये नई अदालतें किया करती हैं। इन अदालतों में पहले दोनों तरह की अदालतों के अफ़सर निपटारा करते हैं।

अब स्पष्ट होगया होगा कि एक ही बात का दुरर्थ करने से कैसी भिन्नता हो सकती है। इँग्लेंड में सरकारी अफ़सर अपने बेक़ायदा

सरकारी कामों के लिए भी मामूली अदालतों में अभियुक्त किया जा सकता है; पर फ़्रांस में अधिकार-विभाजन के तत्त्व को इतना खींच डाला है कि शासन-विभाग पर मामूली अदालतों का कोई अधिकार ही न रहा और अपने कार्यों के विचार का अधिकार उन्हें ही दे दिया गया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कोई कभी अपने ही अपराध का निर्णय पक्षपातरहित हो कर कर सकता है ? उत्तर स्पष्ट है कि कदाचित् कभी नहीं। अब पाठक विचार करें कि सच्ची वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रेसिडेंटवाले फ़्रांस में अधिक हो सकती है या राजावाले इँग्लेंड में ? अठारहवीं सदी में फ़्रांस में वहाँ की परिस्थिति के कारण राजकीय विचारों की अनेक लहरें उठीं और क़रीब क़रीब सब योरप ने उसमें गोते लगाये। इस कारण फ़्रान्स ने जिन तत्त्वों का पालन किया वही दूसरे देशों को भी ग्राह्य होगया। केवल इँग्लेंड इनसे दूर रहा। वास्तव में इँग्लेंड की नक़ल करने के प्रयत्न में फ़्रांस ने राज्य-क्रांति उत्पन्न की और उसकी नकल योरप के अन्य देशों ने की।

अमेरिका में कुछ दूसरा ही परिणाम हुआ। वहाँ जब संयुक्तराज्य संगठित न हुआ था, तब से ही इस तत्त्व पर ख़ूब ज़ोर दिया जाता था। एक स्थान पर तो यहाँ तक कह डाला गया है कि जहाँ क़ानून, अमल और न्याय के अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्तिसमूह को दिये जाते हैं वह राज्य-प्रबन्ध अन्यायी कहाता है। इँग्लेंड के मंत्रियों का नवीन नियमों के निर्माण पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। जिन नियमों के कारण अमेरिका को स्वतन्त्रता की घोषणा करनी पड़ी, वे नियम इँग्लेंड के मन्त्रियों के कहने से ही बनाये गये थे। इस कारण अमेरिकावालों ने सोचा कि मन्त्रियों अर्थात् 'शासन-विभाग' का, क़ानून बनाने में कोई भाग न रहे। परिणाम यह हुआ कि वहाँ के मन्त्री व्यवस्थापक-सभा के सदस्य नहीं हो सकते, और न वहाँ का प्रेसिडेंट कांग्रेस के दो अङ्गों में से किसी भी अङ्ग के कार्यालय में जाकर अपना

मत प्रत्यक्ष बतला सकता है। इस तरह शासन-विभाग और व्यवस्थापक-विभाग बिलकुल अलग अलग और स्वतन्त्र हैं; पर यह पद्धति अमेरिका में ही विशेष उपयोग में आई है, अन्यत्र नहीं है। आधुनिक तत्त्वों के अनुसार यह पद्धति अच्छी नहीं समझी जाती। इस पद्धति के कई अन्य परिणाम हुए हैं। पहले तो प्रेसिडेंट को यदि कोई क़ायदे आवश्यक जान पड़े तो उनके लिए कांग्रेस के पास 'सन्देश' भेजने पड़ते हैं। दूसरे, व्यवस्थापक-विभाग और, अमल-विभाग का सामञ्जस्य क़ानून होने की आवश्यकता सब ही देशों में है। दूसरे देशों में बहुधा वे ही लोग मन्त्री नियुक्त किये जाते हैं जिन्हें व्यवस्थापक-विभाग के बहुमत मिलने की सम्भावना है, और यह सरलता से जाना जा सकता है; क्योंकि वे बहुधा व्यवस्थापक-सभा के सदस्य रहते हैं। पर, अमेरिका में मन्त्री कांग्रेस के सदस्य नहीं हो सकते, इसके कारण दलबन्दी-पद्धति (Party system) पैदा हो गई है। अमेरिका में दलबन्दी इतनी बढ़ गई है कि कुछ कहते नहीं बनता। अमेरिका के प्रेसिडेंट के निर्वाचन में इनका बहुत हस्तक्षेप रहता है, और मन्त्रि-मण्डल में उसके नियत किये लोग ही रहते हैं। इस प्रकार कांग्रेस में जिनका बहुमत नहीं रहता उनके पक्ष के लोग अमल-विभाग में आजाते हैं। पर, यह रीति अच्छी नहीं, इसके परिणाम बहुत अंश में ठीक नहीं होते। अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसिडेंट वुडरो विलसन ने ही अपने ग्रन्थ में कहा है—"आजकल के राज्य-प्रबन्धों में सब जगह शासन-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी व्यवस्थापक-सभा के सदस्य हो सकते हैं और उसकी कार्यवाही में भाग ले सकते हैं। इस तरह इन दो विभागों में ऐसा कुछ सम्बन्ध हो जाता है कि मन्त्री लोग क़ानून-विभाग के अधिकारी न होते हुए भी उसके नायक बन जाते हैं, और व्यवस्थापक-विभाग मन्त्रियों के कार्य का नियन्त्रण कर सकता है। इससे राज्यप्रबन्ध के दो अङ्ग परस्परानुकूल हो जाते हैं और मिल-जुलकर कार्य करते हैं।

परिणाम यह होता है कि पहले के कार्य में संगति बनी रहती है और दूसरे के कार्यों को ज़ोर मिलता है।"

अमेरिका के उपराज्यों में तो इस विभाजन के तत्त्व को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ व्यवस्थापक-विभाग के सदस्य और गवर्नर चुने तो जाते ही हैं; पर शासन-विभाग के कई अफ़सर और न्याय-विभाग के न्यायाधीश भी चुने जाते हैं। दूसरे देशों में व्यवस्थापक-विभाग से नियम पास होने पर शासन-विभाग अर्थात् देश के सर्वोच्च अधिकारी की सम्मति बहुधा आवश्यक होती है। यह अधिकार वहाँ के गवर्नर को बहुत कम है; परन्तु इस पद्धति से कई दूसरे परिणाम उत्पन्न हुए हैं।

४. सारांश, अधिकार-विभाजन के तत्व का भिन्न भिन्न अर्थ करने से योरप और अमेरिका में भिन्न भन्न परिणाम हुए हैं। मांटेस्क्यू ने यह तत्त्व जनता के स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए प्रतिपादित किया था; पर दुरर्थ हो जाने से शासन-विभाग को बहुत अधिकार मिल गये और जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा होने के बदले उसके नष्ट होने का ही डर अधिक रहता है। व्यवस्थापक-विभाग के अधिकार में शासन-विभाग कोई हस्तक्षेप न करे, इस विचार से इन दो अङ्गों को ऐसा अलग बना डाला है कि उनका प्रत्यक्ष एकमत होना और मिल-जुलकर कार्य करना साधारण रीति से अशक्य है। फल यह हुआ है कि दलबन्दी शुरू हुई जिससे अनेक दुष्परिणाम हुआ करते हैं।

इसलिए इस तत्त्व का उपयोग अथवा प्रतिपादन करने से पहले उसका उचित अर्थ समझ लेना चाहिए। फिर यह भी देखना चाहिए कि वह किस प्रकार अमल में लाना चाहिए। इसके निर्णय के लिए इँग्लैंड, अमेरिका और फ्रान्स देशों के राज्य-सङ्गठन के इतिहास पर दृष्टि देना बहुत उपयोगी होगा।

———

तेरहवाँ परिच्छेद

व्यवस्थापक-सभा का स्वरूप

१. अधिकार-विभाजन का अर्थ हम समझ चुके और उसके कुछ ऐतिहासिक परिणामों को देख चुके। अब हम क्रमशः इन तीनों विभागों का वर्णन करेंगे। यदि हम वर्तमान संस्थाओं की ओर दृष्टि न दें और प्रचलित राजकीय विचारों को भूल जायँ और फिर प्रश्न करें कि क़ायदों के बनाने का कार्य किन लोगों को सौंपा जाय, तो पहला और सीधा उत्तर यही मिलेगा कि जो क़ायदों से अच्छी तरह परिचित हों उन्हीं के हाथ यह कार्य सौंपा जाय। जान स्टुअर्ट मिल का मत है— "क़ायदे बनाने के समान कोई अन्य बौद्धिक कार्य नहीं जिसमें अनुभवी और संस्कृत लोग ही नहीं, किन्तु सतत अभ्यास करके दक्षता प्राप्त हुए लोगों की अत्यन्त आवश्यकता है। इस बात का ठीक ठीक और दूर दृष्टि-पूर्वक विचार करना चाहिए कि क़ायदे के एक अंश का दूसरे अंश पर क्या परिणाम होगा। इस प्रकार जो क़ायदा बने उसका पहले के क़ायदों से कोई विरोध न हो, उनमें यह पूरा स्वतन्त्र स्थान पासके।"* जो क़ायदे बनाने का पेशा करते हैं, वे ही क़ायदों के अच्छे जानकार हो सकते हैं। जान स्टुअर्ट मिल के तत्त्वानुसार यदि कार्य किया तो यह आवश्यक होगा कि क़ायदा बनाने के लिए इन पेशे

---

*मिल ने आगे यह भी कह डाला है कि एक बड़ी भारी सभा में क़ायदे के एक एक शब्द पर विचार करना असम्भव है। इसलिए २०-२२ लोगों की एक क़ानून-समिति रहे और वह क़ायदों के मसविदे बनाया करे। व्यवस्थापक-सभा उसे बतला दे कि अमुक विषय पर अमुक तरह के क़ायदे का मसविदा बनाओ। एक बार क़ायदे का मसविदा बन गया तो व्यवस्थापक-सभा-द्वारा बिना किसी परिवर्तन के

वालों को ही यह कार्य सौंपा जाय। क़ायदों के मसविदे क़ानून के ज्ञाता ही बनावें और मूल मसविदे में यदि कोई हेरफेर किया जाय, तो उसका विचार ये लोग अवश्य कर लें, पश्चात् व्यवस्थापक-सभा उसे क़ायदे का रूप दे। परन्तु इस प्रथा के बहुत से विरोधी कारण भी हैं। क़ानून बनाने का पूरा तो क्या, मुख्य भाग भी क़ानून के पेशेवालों के हाथ नहीं सौंपा जा सकता है।

पहला कारण यह है कि प्रचलित अथवा बननेवाले क़ायदों के भले-बुरे परिणामों का विचार करना एक बात है और प्रचलित क़ायदों का प्रस्तुत मुक़दमों से सम्बन्ध जानना दूसरी बात है। यद्यपि क़ायदों

या तो ज्यों का त्यों स्वीकृत कर लिया जाय, या अस्वीकृत किया जाय। यदि उसका केवल कुछ भाग ही ठीक जान पड़े तो पुनर्विचार के लिए क़ानून-समिति के पास भेजा जाय।

यह योजना दीखती तो ठीक है; पर इससे एक तो क़ायदे बनाने की पद्धति में बड़ा भारी परिवर्तन हो जाता है; दूसरे क़ायदों के बनाने के अधिकारों का इस रीति से कुछ बँटवारा हो जाता है जो हानिकारक है! हां, यह अवश्य किया जा सकता है कि क़ायदे की स्वीकृति के पहले उस पर विचार करने के लिए एक समिति बैठाई जाय जो उसके दोषों को दूर कर सके और उसके सूक्ष्म परिमाणों को दिखला सके। ऐसी समिति की सूचनाओं पर व्यवस्थापक-सभा अवश्य ध्यान देगी और उन्हें स्वीकार भी करेगी। इस प्रकार प्रचलित और नये बननेवाले क़ायदे में बहुत सुधार हो सकेगा। हां, एक बात ध्यान में रहे कि उस समिति की प्रत्येक बात को स्वीकार करने के लिए व्यवस्थापक-सभा बाध्य न होनी चाहिए। यह समिति जो कुछ कहे, वह केवल सूचना-रूप में ही रहे। उसकी कही हुई कोई भी बात छोड़ देने को व्यवस्थापक-सभा स्वतन्त्र रहे। तब ही इस समिति से सच्चा लाभ हो सकेगा।

का ज्ञान दोनों में आवश्यक है, परन्तु दोनों बातों में ज्ञान का उपयोग, उससे बननेवाली मन की प्रवृत्ति, ध्यान में रखने योग्य मुख्य बातें इत्यादि भिन्न भिन्न होती हैं। क़ायदों को किसी विषय में लागू करने की योग्यता किसी में स्वभाव और शिक्षा से आ सकती है। यद्यपि न्यायाधीश और वकील आदि यही कार्य करते हैं, परन्तु बहुत सम्भव है कि उनमें उन क़ायदों को आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने की योग्यता भले ही न हो। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि क़ायदों के अनुसार न्याय करते समय न्यायाधीश प्रचलित क़ायदे को आदर-पूर्ण दृष्टि से देखे। रिश्वत, धमकी, पक्षपात, या व्यक्ति-विषयक प्रेम के कारण क़ायदे में परिवर्तन करने की कोई प्रवृत्ति उसके हृदय में न हो। वह उपयोगिता अथवा वास्तविक न्याय के प्रलोभन से लुब्ध होकर अपने कार्य से कभी न डिगे। प्रत्येक न्यायाधीश उपयोगिता अथवा वास्तविक न्याय का अपनी ही दृष्टि से विचार करेगा और इस कारण क़ायदा इतना बदल जावेगा कि उसमें निश्चितता रहेगी ही नहीं, वह नितान्त अनिश्चित हो जावेगा। ऐसा होने से उसमें कई स्वार्थों का समावेश हो जावेगा। इसलिए न्यायाधीशगण प्रचलित क़ायदों को पवित्र समझें और उनमें अपने ही हाथ से परिवर्तन करने की प्रवृत्ति न रखें। यदि मन का झुकाव प्रचलित क़ायदों को पवित्र मानने की ओर होगया, तो वे लोग क़ायदों में हेरफेर करने अथवा नये क़ायदे बनाने के योग्य न समझे जायँ। इतना ही नहीं, किन्तु हेरफेर करने की प्रवृत्ति उस दशा में उनमें रह ही नहीं सकती। वे तो यही पसन्द करते हैं कि क़ायदा जैसा कुछ बना हो, वैसा ही रहने दिया जाय। अतः केवल क़ायदों के जाननेवालों को क़ायदा बनाने में मुख्य भाग नहीं दिया जा सकता।

२ आदर्श क़ानूनकर्त्ता का काम वकील और न्यायाधीश के समान केवल क़ायदा जान लेने से ही न चलेगा, उसे कई अन्य बातें भी जानना चाहिए। उसे यह भी मालूम होना चाहिए कि उन क़ायदों का समाज से क्या सम्बन्ध है, जिन लोगों से उनका सम्बन्ध है उन पर

उनके क्या परिणाम होते हैं, आगे पीछे और क्या परिणाम होंगे, इत्यादि इतनी दूर दृष्टि उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि समाज की अनेक बातों से वह परिचित रहे। अपने अनुभव के बिना अथवा अनुभवी पुरुषों से वार्तालाप किये बिना ये बातें ज्ञात नहीं हो सकतीं। सामाजिक विकास का मुख्य प्रवाह किस ओर बह रहा है, भिन्न भिन्न सामाजिक कारणों के क्या परिणाम होते हैं, आदि बातें जानना भी आवश्यक है। आज-कल की व्यवस्थापक-सभाओं के सामने जो जो कठिन प्रश्न उपस्थित होते हैं उन सबको जानने और समझनेवाले कितने मनुष्य होते हैं? इसलिए प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन की अनेक बातें जिन्हें निज अनुभव से मालूम हैं, और जिनमें अन्य तरह की योग्यता भी है, ऐसे लोगों का क़ानून बनानेवाली संस्था में सम्मिलित होना आवश्यक है। आजकल की व्यवस्थापक-सभाओं में ऐसे ही पुरुष बहुधा देख पड़ते हैं।

३. व्यवस्थापक-सभा में इस प्रकार चुने हुए प्रतिनिधियों को रखने का केवल यही एक मुख्य कारण नहीं है। इससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि जिस समाज के लिए क़ायदे बनते हैं उसके भिन्न भिन्न भागों के हित पर ये लोग लक्ष्य दें। यह अच्छी तरह तब ही सिद्ध हो सकता है कि जब व्यवस्थापक-सभा के सदस्य कुछ नियत काल के लिए लोगों के द्वारा स्वतन्त्र रूप से चुने जायँ, अन्यथा नहीं। क्योंकि यदि पद अथवा पुरस्कार के कारण व्यवस्थापक-सभा के सदस्य का पद आकर्षक रहा, तो वे लोग फिर से चुने जाने का प्रयत्न करेंगे और वे उसी दशा में फिर से चुने जावेंगे कि जब वे लोगों की भलाई करें, नहीं तो लोग उन्हें फिर क्यों चुनेंगे?

दीवानी के क़ायदों का एक मुख्य तत्त्व यह है कि सब प्रौढ़ पुरुष (जिनका दिमाग़ बिगड़ा न हो) अपने हित को जान सकते हैं और उन्हें उसकी रक्षा की पूर्ण इच्छा भी रहती है। इसलिए वे शक्ति रहते अपने हित का साधन खुद ही करें। इन बातों में क़ायदे के हस्तक्षेप

की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। इसी तरह लोगों के ही चुने हुए पुरुष उनकी आवश्यकताओं को भली भाँति जान सकते हैं, दूसरे नहीं। इसलिए क़ानून बनाने की संस्था में लोगों के प्रतिनिधि ही रहें, शासन-विभाग के अधिकारियों-द्वारा नियुक्त पुरुष नहीं।

४. ऊपर जो कुछ कहा गया है वह कर (Tax) के विषय में भी पूर्णतया लागू होता है। कर के लेने का अर्थ दूसरे शब्दों में यह है कि किसी मनुष्य के निजी धन में से ज़बरदस्ती हिस्सा माँगना। जिन राज्य-शासनों में अधिकारियों पर भरपूर दबाव नहीं रहता, वे अधिक कर वसूल करने के प्रलोभन में पड़ जाते हैं और शासित लोगों को इससे सदा हानि होने की सम्भावना बनी रहती है। हाँ, यह हम मानते हैं कि किसी भी प्रकार के राज्य-प्रबन्ध में कर के विषय का पूरा उत्तरदायित्व कोई भी पुरुष अपने ऊपर नहीं ले सकता, तथापि जहाँ कर देनेवाले लोगों के प्रतिनिधि रहते हैं, वहाँ यह डर कम हो जाता है। इतिहास से विदित है कि इस पद्धति का यह बड़ा भारी लाभ है। केवल इसी एक कारण से ही प्रतिनिधि-पद्धति नितान्त आवश्यक है।

५. इसी के समान बड़ा भारी एक और कारण है। निर्वाचित लोगों के बनाये क़ायदे, सम्भव है, पूर्ण बुद्धिमानी से न बने हों; पर यदि वे लोगों के प्रतिनिधियों-द्वारा बनाये गये हैं, तो सर्व-साधारण उनका स्वीकार विशेषरूप से करेंगे। सरकार-द्वारा नियुक्त पुरुषों ने यदि क़ायदे बनाये तो लोग उनका इतना आदर न करेंगे। इससे जनता और सरकार के बीच में विशेष विरोध हो जावेगा। अपने चुने हुए प्रतिनिधि की बतलाई हुई बातों के अनुसार चलने को हम अधिक तत्पर रहते हैं। यही बात क़ायदों के विषय में भी चरितार्थ होती है। इसलिए व्यवस्थापक-सभा में हमेशा लोगों के प्रतिनिधि ही रहें।

६. यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि फिर प्रतिनिधि-रूपी मध्यस्थों की आवश्यकता ही क्या है? सारे प्रौढ़ लोगों की सभा बना डालो और उन्हें क़ायदे बनाने दो। हाँ, कुछ अंश में यह उचित ही नहीं किन्तु

कभी कभी आवश्यक भी होता है; परन्तु इस पद्धति के विरुद्ध एक बड़ा भारी कारण है। सर्व-साधारण को क़ायदे बनाने के लिए आवश्यक योग्यता और शिक्षा नहीं मिली रहती। क़ायदा बनाना सरल कार्य नहीं है। यह कला अवगत करने के लिए श्रम और समय चाहिए। साधारण लोग यह नहीं कर सकते। कभी कभी क़ायदों के विषय में निर्वाचक-संङ्घ की अनुमति लेने की आवश्यकता होगी; किन्तु इस पद्धति का सदैव अनुसरण करना उचित नहीं। समस्त प्रौढ़ लोगों को क़ानून बनाने का अधिकार देने में एक दूसरी कठिनाई और है। इनकी संख्या इतनी बड़ी होगी कि सारे लोगों को एकत्र करना और उनसे क़ानून बनवा लेना आजकल के राज्यों में सम्भव नहीं। जब राज्य की सीमा एक नगर के भीतर समाप्त होती थी, तब यह बात सम्भव थी। परन्तु आज-कल के राज्यों के करोड़ों लोगों की सभा असम्भव ही है। न तो सब प्रौढ़ लोगों को इतना अवकाश मिल सकता है कि वे बार बार अपना धन्धा छोड़ कर इस काम में लग सकें, न इतने लोगों की सभा में कोई काम ही हो सकता है। इसके लिए प्रातिनिधिक पद्धति ही उत्तम उपाय है।

७. जो लोग व्यवस्थापक-सभा के सदस्य होंगे वे जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हों, ऐसा करने के कुछ और कारण भी बतलाये जा सकते हैं। प्रातिनिधिक राज्य-प्रबन्ध से लोगों को अनेक प्रकार की शिक्षा मिलती है। सार्वजनिक कार्य करने से उन लोगों को अनेक तरह का ज्ञान मिलता है और उनकी बुद्धि का विकास भी होता है। साथ ही अनेक नैतिक लाभ भी होते हैं। उससे स्वदेशाभिमान, सार्वजनिक कार्य करने की प्रवृत्ति, आत्म-विश्वास और स्वावलम्बन आदि गुणों का विकास होता है। इतना सब होने पर भी यह कोई न कहेगा कि केवल इन्हीं लाभों की इच्छा से प्रातिनिधिक राज्य-प्रबन्ध की योजना करनी चाहिए। जो शिक्षाक्षम होंगे, वे इस कार्य से शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे, अन्य नहीं। अपने दोषों के परिणामों को कई लोग क्या दूसरे दूसरे कारणों के मत्थे नहीं मढ़ा करते? सब ही अपनी भूलों से शिक्षा

प्राप्त नहीं करते। नैतिक गुण और प्रातिनिधिक राज्यपद्धति कुछ अंश में परस्परावलम्बी हैं। जहाँ मनुष्यों में ये गुण होंगे, वहाँ इस प्रकार की राज्य-पद्धति निर्मित हुए बिना न रहेगी। इसी प्रकार जहाँ यह पद्धति रहती है, वहाँ इन गुणों का थोड़े बहुत अंश में विकास हुए बिना नहीं रहता।

८. सारांश यह है कि व्यवस्थापक-सभा के सदस्य लोगों के ही प्रतिनिधि हों। ऐसा होने से उनके क़ायदे, उनके बनाये नियम, उनका निश्चित किया हुआ कर, लोगों को स्वीकार होगा। इससे लोगों के हित की रक्षा होगी। क़ायदों का और समाज का परस्पर मेल बना रहेगा। व्यवस्थापक-सभा में सरकार के नियुक्त लोगों का रहना विशेष लाभकारी नहीं। व्यवस्थापक-सभा का स्वरूप प्रातिनिधिक ही होना चाहिए।

चौदहवाँ परिच्छेद

व्यवस्थापक-सभा के प्रथम भवन के सदस्यों का निर्वाचन

१. आजकल की भिन्न भिन्न व्यवस्थापक-सभाओं की ओर ध्यान दिया जाय, तो एक बात बड़ी स्पष्ट देख पड़ेगी। वह यह है कि बहुतेरी व्यवस्थापक सभाओं के दो भाग अथवा भवन होते हैं। एक में सर्व-साधारण लोगों के प्रतिनिधि बैठते हैं। दूसरे में अधिक कुलीन पुरुष।* पर प्रश्न हो सकता है कि क्या एक भवन से यानी क़ानून-सभा के दो भागों के बिना काम नहीं चल सकता? दो मन्दिरों की आवश्यकता क्यों है? दो स्वतन्त्र भागों के द्वारा क़ानून बनाने का कार्य क्यों चलाया जाता है? विचार कीजिए कि सर्वसाधारण लोगों के प्रतिनिधियों की सभा में ही क़ानून बनाने का कार्य हो, कुलीन पुरुषों की कोई सभा न हो। पहला डर जो युक्ति और इतिहास से देख पड़ता है, वह यह है कि यह लोक-प्रतिनिधि-सभा आवेग में आकर बिना पूर्ण सोचे-विचारे चाहे जैसा क़ानून बना डाले। ऐसे क़ानून से बड़ी भारी हानि होने की सम्भावना है। जहाँ कहीं आधुनिक काल में क़ानून का कार्य एक ही भवन-द्वारा होता रहा, वहाँ यही अनुभव प्राप्त हुआ है। वहाँ थोड़े ही काल में दूसरे भवन की, कुलीन पुरुषों की सभा की, स्थापना हुई है। लोकप्रतिनिधि-सभा आवेग में आकर चाहे जैसा क़ानून न बना डाले, इसके लिए दूसरे भवन की आवश्यकता है। इसके रहने से किसी व्यक्ति-विशेष का, या किसी जातिविशेष का, नुक़सान होने का

---

*उदाहरणार्थ, इँगलेंड के हाउस आव् कामन्स और हाउस आव लार्ड्स।

डर कम हो जाता है। कोई भी क़ायदा पूर्ण विचार के बाद ही बनता है, उसके गुण-दोषों का, परिणामों का, पूर्ण विवेचन होता है, किसी क़ानून की वास्तविक कमी की पूर्ति होती है, और शीघ्र परिवर्तनों का भय कम हो जाता है। शीघ्र परिवर्तन लाभदायक नहीं होते। परिवर्तन धीरे धीरे ही होने चाहिए। इतना ही नहीं बरन शासन-विभाग के अधिकारों पर हस्तक्षेप होने का डर भी बहुत कम हो जाता है। प्रस्ताव में एक ही मन्दिर के विचारों का दिग्दर्शन होता है, क़ानून में दोनों का। प्रस्ताव के लिए एक ही की और क़ायदे के लिए दोनों की अनुमति आवश्यक होती है। इस तरह, क़ानून और प्रस्ताव में भेद होने के कारण शासन-विभाग को बाक़ायदा दिये अधिकार जल्द वापस नहीं लिये जा सकते। और इससे राज्य-प्रबन्ध को स्थिरता प्राप्त होती है। कुलीन लोगों की कोई सभा न रहे तो उन लोगों के हित का लोकप्रतिनिधि-सभा-द्वारा सत्यानाश होने की सम्भावना है। एक ही सभा के हाथ में पूर्ण सत्ता रहने से अधिकार-मद होने की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। इसलिए भी, दो सभाओं की, दो भवनों की, क़ानून-सभा को दो भागों में विभक्त करने की, अत्यन्त आवश्यकता है। एक में सर्वसाधारण के प्रतिनिधि रहें और दूसरे में कुलीनों के।

२. अब हम प्रश्न कर सकते हैं कि सर्वसाधारण के प्रतिनिधि कौन चुने? क्या देश के समस्त प्रौढ़ लोगों को इन्हें निर्वाचित करने का अधिकार दिया जाय? अथवा, कौन से लोग इस अधिकार से वञ्चित रखे जायँ? और किस कारण?

यदि यह बात हम मानते हैं कि व्यवस्थापक-सभा में लोगों के प्रतिनिधि ही रहें, दूसरे कोई न रहें, तो यह एक बात स्पष्ट है कि समस्त लोगों के प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार समस्त प्रौढ़ लोगों को रहे। यदि किसी वर्ग को इससे वञ्चित रखते हैं तो उनके प्रतिनिधि न होने के कारण उनके हित की हानि हो सकती है। इन वञ्चित लोगों की

कि किसने किसको वोट दिया है। और अगर एक बार भी मतदाता के विरुद्ध कोई कार्रवाई हुई तो दूसरी बार वह अपनी निज की राय से न चलेगा—जैसा सिखाया जावेगा वैसा ही वह करेगा, फिर कुछ भी करो, वह अपनी स्वतन्त्र राय न देगा। और ये बहकानेवाले ऐसे पक्के होते हैं कि सब कुछ करके क़ायदे की पहुँच के बाहर ही रहेंगे—वे कभी उसकी चंगुल में नहीं आने के। तुम इतना ही जान सकोगे कि अमुक अमुक ने अमुक अमुक लोगों को लांच, धमकी अथवा मीठी मीठी बातों से बहकाया है। पर तुम कर ही क्या सकते हो? इसलिए नितान्त ग़रीब, परावलम्बी, और अज्ञानी लोगों को चुनने का अधिकार देने से लाभ के बदले हानि होने की सम्भावना अधिक है। सरकारी अफ़सरों का प्रभाव इन पर जल्द पड़ सकता है। यह बहुतेरे देशों में हुआ करता है। ऐसे ज्ञान-शून्य, परावलम्बी और ग़रीब लोगों के हित की हानि का डर यदि अधिक न हो तो इन्हें वोट के अधिकार से वञ्चित रखना अनुचित न होगा। जब इन्हें इस बात का ज्ञान हो जाय कि इससे हमारे हित की हानि होती है और इससे लाभ, तब ही उन्हें यह अधिकार दिया जाय।

३. परन्तु जब ये वोट का अधिकार मांगने लगें, तब इन्हें उससे वञ्चित रखना भी उचित नहीं। और जब सरकार शिक्षा के साधन प्रस्तुत नहीं कर देती और ज्ञानहीन लोगों को वोट के अधिकार से वञ्चित रखना चाहती है, तब तो अनौचित्य की मात्रा और भी बढ़ जाती है। जिन जिन ने बड़े भारी अपराध किये हैं, अथवा जिन पर वोट बेचने या मोल लेने अथवा धमकी देकर बहकाने का दोष सिद्ध हो चुका है, उन्हें इस अधिकार से वञ्चित रखना अनुचित नहीं। यह रीति सर्वत्र देखी जाती है और युक्तियुक्त और उपयोगी भी है। परन्तु अन्य अपराधों के कारण लोगों को सदा वञ्चित रखना उचित नहीं कहा जा सकता। मान लो कि किसी देश में परदेशी सरकार है। शासक-जाति के लोगों के हित की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस पक्षपात

के विरुद्ध आन्दोलन करनेवालों को केवल शङ्का होने पर कड़ी कड़ी सज़ायें मिलती हैं। क्या ऐसे समय में इन लोगों को इस अधिकार से वञ्चित रखना उचित होगा ? कदापि नहीं। आन्दोलन करनेवाले कुछ मूर्ख किंवा ज्ञानहीन नहीं होते ? वे देश का, अपने लोगों का हित चाहते हैं। वे अपने अधिकार का उपयोग राष्ट्र की दृष्टि से अच्छा ही करेंगे। उन्हें वोट का अधिकार अवश्य रहे। हाँ, भिखमङ्गों को वञ्चित रखने से कोई विशेष हानि न होगी। दिवालियों को भी बहुतेरे देशों में यह अधिकार नहीं दिया जाता और यह अनुचित भी नहीं है। इसी प्रकार, पुलिस और फ़ौजी सिपाहियों को यह अधिकार न रहे। ये लोग अपने पद के कारण अपने अधिकार का दुरुपयोग किये बिना नहीं रहते। परन्तु सारे सरकारी नौकरों को वञ्चित रखना अनुचित है। जहाँ कहीं दुरुपयोग का निश्चयात्मक डर हो, वहाँ ही ऐसा करना ठीक होगा। इसी प्रकार परदेशी लोगों को भी यह अधिकार नहीं दिया जाता। हाँ, जब वे निवासकाल की मर्यादा का पालन कर चुकें अथवा अन्य रीति से सूचित कर दें कि हम अब इसी देश में रहेंगे, तब उन्हें यह अधिकार देना आवश्यक होगा।

३. ऊपर कई बार कह ही चुके हैं कि वोट देने का अधिकार केवल प्रौढ़ पुरुषों को रहता है, जो अप्रौढ़ हैं उन्हें नहीं। परन्तु प्रौढ़ता की काल-मर्यादा भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न है। फ्रांस में २१ वर्ष से ऊपर सारे प्रौढ़ पुरुष मत दे सकते हैं। जर्मनी में यह मर्यादा २५ वर्ष पर रखी है। अमरीका के संयुक्तराज्य में बहुधा २१ वर्ष की मर्यादा है। और वही इँग्लैंड में है। परन्तु वयोमान से ही इन देशों में अधिकार नहीं मिल जाता। उसके साथ अन्य प्रकार की योग्यतायें आवश्यक होती हैं।

४. अब एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है। क्या वोट का अधिकार रखनेवाले लोग किसी न किसी के लिए वोट देने को क़ायदे से बाध्य किये जायँ ? हमारी समझ में यह ठीक न होगा। (१) यदि

मतदाता को किसी ने धमकी दिखलाई हो और वह उसे नाराज़ करने के डर से वोट ही न देना चाहता हो, तो उसे बाध्य करने से लाभ के बदले हानि ही अधिक होगी। उसका डर और भी बढ़ जावेगा। (२) बहुधा सभासमितियों में कई लोग अपना मत नहीं देते, वे उदासीन रहते हैं। फिर व्यवस्थापक-सभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए मत देने को बाध्य करना कैसे उचित हो सकता है ? शायद वह कुछ भी न लिखे और कोरा काग़ज़ डाल आवे। (३) सार्वजनिक कार्य की भावनायें न रहने से कुछ लोग उदासीन बने रहते हैं। परन्तु क़ायदे से ये भावनायें कैसे उत्पन्न हो सकती हैं ? इसके लिए अन्य उपायों की आवश्यकता है। ज़बरदस्ती करने से दुरुपयोग की ही सम्भावना अधिक है। (४) वोट का अधिकार देने का यह मतलब रहता है कि लोग यदि राज्यप्रबन्ध अथवा उसके क़ायदों से सन्तुष्ट न रहें, तो वे अपने इच्छानुसार उनमें परिवर्तन करवा लें। यदि उन्हें यह इच्छा होगी तो वे अवश्य मत देंगे। ज़बरदस्ती करने से लाभ ही क्या होगा ? केवल असन्तोष बढ़ने की सम्भावना अधिक होगी।

५. ऊपर के विवेचन से कदाचित् कोई ऐसा समझ बैठे कि हम कह रहे हैं कि शिक्षित और धनी समाज को ही सारे वोट के अधिकार रहें। इस भ्रम को दूर करना आवश्यक होगा। हम कह चुके ही हैं कि किसी वर्ग के हित की हानि न होने पावे, इसलिए यथासम्भव सबको वोट का अधिकार रहे। धनी और शिक्षित लोगों को वोट के अधिक अधिकार की आवश्यकता नहीं। उनके पास धन और शिक्षा होने के कारण वे वैसे ही लोगों पर अपना दबाव डाल सकते हैं और उनके वोट का अपने लिए उपयोग कर ले सकते हैं। यदि इन्हें अधिक अधिकार देने की आवश्यकता ही प्रतीत हो, तो वह अन्य प्रकार से दिये जायँ। व्यवस्थापक-सभा के दो भवन, दो भाग, हो सकते हैं। दूसरे में धनी और अधिक शिक्षा पाये लोगों का अधिक

समावेश कर दिया जाय। पर लोक-प्रतिनिधि-सभा में केवल इन्हीं लोगों को भर देने से अन्य लोगों के हित में बाधा पहुँचेगी। यदि व्यवस्थापक-सभा के दो भाग न रहे, एक ही सभा रही, एक ही भवन रहा, तो सारे लोगों को भिन्न भिन्न वर्गों में विभाजित करना उचित होगा। और धनी और शिक्षित लोगों को उनके हित के अंश के अनुसार वोट के अधिकार दिये जायँ। पर अधिक देने की आवश्यकता नहीं है। द्रव्य अथवा शिक्षा के कारण आगे ही वे बली बने रहते हैं। शिक्षा के कारण कुछ अंश में अधिक अधिकार देने से उतना अधिक नुक़सान कदाचित् न होगा। शर्त यह रहे कि धन की उसके साथ आवश्यकता न रहे। इससे शिक्षा बढ़ने की सम्भावना है। परन्तु साथ ही प्रश्न हो सकता है कि शिक्षा का माप कैसे किया जाय? क्या परीक्षायें इसका माप हो सकती हैं। ऐसा करने से अनुभव की कोई क़ीमत न रह जावेगी। फिर, अनुभव की शिक्षा को कौन कैसे तौल सकता है? धनी और शिक्षित लोग किसी भी समाज में कम रहते हैं, और इस कारण बराबर वोट से उनके हित की हानि होने का डर शायद किसी को लगे। पर उपरिलिखित कारणों पर ध्यान देने से यह डर दूर हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु उलटे इनकी सत्ता का डर सदा बना रहता है। इन लोगों को अधिक वोट दिये जायँ तो फिर क्या कहना है? उनका ही राज्य प्रस्थापित हो जावेगा।

६. अब विचार करना चाहिए कि निर्वाचन-कार्य के लिए किसी देश के लोगों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जाय। यदि विचार यह रहे कि निर्वाचन-सम्बन्धी अधिकार का बँटवारा लोगों में बराबर बराबर हो, तो सबसे बड़ी सरल रीति यह है कि सारे देश को जितने सदस्य चुनने हों उतने हिस्सों में बांट डालें। जिस प्रकार ज़िले, तालुके, तहसील इत्यादि विभाग हैं उस प्रकार निर्वाचन के लिए भी भाग कर दिये जायँ। परन्तु इसमें एक बड़ा भारी दोष यह है कि क़रीब

क़रीब आधे लोगों का कोई प्रतिनिधि नहीं चुना जाता। एक निर्वाचन-विभाग में एक या अधिक प्रतिनिधि चुने गये, तो कुछ लोग ऐसे अवश्य रह जाते हैं कि जो कोई प्रतिनिधि नहीं चुन सकते। इसलिए कुछ लोगों ने इसके सम्बन्ध में अनेक सूचनायें की हैं। उनमें से मुख्य यह है कि देश के इस प्रकार हिस्से करना ठीक नहीं, किसी पुरुष को कहीं से क्यों न हो, उचित संख्या में वोट मिल जायँ तो वह निर्वाचित समझा जाय। निर्वाचकों की संख्या में आवश्यक सदस्यों की संख्या से भाग दिया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि निर्वाचन के लिए किसी एक पुरुष को कितने वोट अवश्य चाहिए। एक पक्ष के लोग थोड़े थोड़े भिन्न भिन्न स्थानों में बँटे क्यों न हों, पर इस रीति से वे सब मिलकर अपना एक प्रतिनिधि अवश्य चुन सकेंगे। पहली पद्धति से ये यत्र तत्र बिखरे लोग अपना प्रतिनिधि कभी न चुन सकेंगे। इस स्वतन्त्र निर्वाचक-सङ्घ की पद्धति से यह काम सिद्ध हो सकता है। परन्तु इस पद्धति के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप किये जा सकते हैं:—

(१) स्थानीय विभाग की पद्धति रही तो शिक्षित लोग अल्पशिक्षित लोगों को अपने हेतु, अपने उद्देश्य, अच्छी तरह समझा सकते हैं, क्योंकि वे स्थानीय बातों से भली भाँति परिचित रहते हैं। परन्तु उपरिलिखित दूसरी पद्धति से लोग केवल बहकाये जा सकते हैं। निर्वाचन की इच्छा रखनेवाले लोग बड़े बड़े भाषण करेंगे, बड़ी बड़ी आशायें दिलायेंगे, पर स्थानीय आवश्यकताओं से परिचित न होने के कारण उनकी सब बातों में सन्दिग्धता भरी रहेगी, और उनकी सुहावनी बातों से अज्ञान लोग जल्द फँस जावेंगे। स्थानीय विभाग की निर्वाचन-पद्धति रही तो निर्वाचन की इच्छा रखनेवाले लोगों और उसके हितेच्छुओं को यह आवश्यकता जान पड़ेगी कि हम वहाँ के लोगों की ख़ातिरी कर दें कि हमारे चुनाव से लाभ होगा। वहाँ के लोग उसकी कारँवाई पर दृष्टि बनाये रहेंगे, समय समय पर वे उसके कार्यों की समालोचना करते रहेंगे और समय समय पर

निर्वाचित सदस्य को भी अपने कार्यों की कैफ़ियत लोगों के सामने रखनी होगी। इस प्रकार वहां के लोग राजकीय शिक्षा पाते रहेंगे। पर यदि भिन्न भिन्न स्थानों के वोटों को जोड़ कर यदि कोई पुरुष निर्वाचित किया जाय तो ये सब बातें देखने को न मिलेंगी, लोग उसके विषय में उदासीन रहने के कारण अभी बतलाई हुई राजकीय शिक्षा से वञ्चित बने रहेंगे और अपने अधिकारों का अपनी और अपने राष्ट्र की भलाई के लिए सदुपयोग न कर सकेंगे। यह भी सम्भव है कि इस पद्धति से वर्गों वर्गों के झगड़े अधिक खड़े हों और वर्गों वर्गों की भलाई-बुराई करनेवाले क़ायदे अधिक बनें।

(२) प्रातिनिधिक राज्य-पद्धति का यह उद्देश्य अवश्य है कि राष्ट्र के भिन्न भिन्न वर्गों और जातियों की विशिष्ट आवश्यकताओं पर उचित ध्यान दिया जाय। पर उसका यह मतलब नहीं कि एक प्रतिनिधि एक ही विशिष्ट मत या हित का प्रतिनिधि रहे, वह दूसरे मत या हित का विचार ही न करे। प्रत्युत, व्यवस्थापक-सभा के सदस्य ऐसे चाहिए कि जिनकी दृष्टि शिक्षा और अनुभव से सुविस्तृत होगई हो, अनेक मत-मतान्तर जानते हों, भिन्न भिन हकों पर और भिन्न भिन्न निर्णयों के सम्बन्ध में विचार कर सकें, और इन सबका यथाशक्य मेल करने का जिनका प्रयत्न सदा जारी रहे। किसी भी सभा में मत-भिन्नता हमेशा हुआ करती है। यह नितान्त स्वाभाविक बात है। और इन सब पर विचार कर कोई युक्ति निकालनी होती है, इन भिन्न मतों का ऐसा कुछ मेल करना होता है कि जो सबको स्वीकार हो जावे। इसलिए सभा के लोगों में यह युक्ति ढूँढ़ निकालने की, यह मेल करने की, शक्ति होनी चाहिए। अगर निर्वाचन के विभाग स्थानीय न रह कर यत्र-तत्र सारे देश में फैले रहें, यदि एक सदस्य के निर्वाचक एक ही स्थान के न रह कर भिन्न भिन्न स्थान के रहें, तो इस मेल की सम्भावना कम होती है। इस पद्धति से एक ही प्रकार के लोग अपने ही विशिष्ट प्रकार का सदस्य चुनने के लिए अग्रेसर होंगे। इससे जो सदस्य चुने

जावेंगे, वे बहुधा किसी ख़ास धन्धे के, व्यापार के, धर्मपन्थ के, अथवा ऐसी ही अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधि रहेंगे। इस कारण वे आततायी भी रहेंगे, दूसरों की बातें न सुनेंगे और न समझेंगे, अपनी ही बातें आगे घुसेड़ने का प्रयत्न करेंगे, विशिष्ट-हित-साधन के क़ायदे बनाने का प्रयत्न करेंगे, और इन समस्त कारणों से दलबन्दी को अधिकाधिक अवसर मिलेगा। ये दलवाले किसी केन्द्र-स्थान में अपनी समिति स्थापन कर लेंगे, सारे देश के लोगों को अपनी अपनी ओर खींचने का अधिक प्रयत्न करेंगे, अपने ही लोगों के चुनाव के लिए ये लोग ख़ूब दबाव डालेंगे और इस प्रकार निर्वाचक की स्वतन्त्रता व्यवहार में बिलकुल नष्ट हो जावेगी।

इस कारण उपरिलिखित स्वतन्त्र निर्वाचक-सङ्घ की पद्धति अनुपयोगी है। स्थानीय विभाग की पद्धति ही उससे अधिक अच्छी है।

७. स्थानीय निर्वाचन-विभाग की एक रीति हम ऊपर बतला चुके हैं। जितने सदस्य चुनने हों, उतने सारे देश के बराबर बराबर विभाग कर डालो। और एक विभाग से एक सदस्य चुना जाय। यह रीति अत्यन्त सरल है। निर्वाचन की योजना जितनी पेंचीदी होती जावेगी, उतनी ही विषमता अधिक बढ़ेगी और लोगों को कुड़कुड़ाने के लिए अवसर अधिक मिलेगा। इस सरल योजना पर एक यह आक्षेप हो सकता है कि स्थानीय पुरुष को इससे अधिक लाभ है, राष्ट्रीय कीर्ति का पुरुष चुना जाने की सम्भावना कम है। परन्तु इस आक्षेप में कुछ सार नहीं है। चुने न जाने की यदि किसी की सम्भावना है तो कम प्रसिद्ध पुरुष की। अधिक कीर्तिवाला पुरुष स्वभावतः ही लोगों को अधिक पसन्द होगा। यदि वह चुने जाने के बाद कुछ ऐसे कार्य करे कि जिससे लोगों की नज़र से वह उतर जाय तो बात अलग है। परन्तु इसमें बुराई भी क्या है? ऊपर जो विवेचन कर चुके हैं, उसमें यह दिखला ही चुके हैं कि स्थानीय आवश्यकताओं और हितों पर उचित ध्यान दिये जाने के लिए ही प्रातिनिधिक पद्धति की आवश्यकता है। इसलिए

स्थानीय पुरुष के निर्वाचित होने में कोई बुराई नहीं। सारांश, यह आक्षेप बहुत निकम्मा है।

तथापि इस पद्धति में एक वास्तविक दोष अवश्य है। इस प्रकार बराबर बराबर निर्वाचक-सङ्घ बनाने के प्रयत्न में कई बार ऐसा मौक़ा आ पड़ेगा कि स्वाभाविक विभागों के उन विभागों के, जो आर्थिक, राजकीय, सामाजिक इत्यादि दृष्टि से पूरे एक हैं उनके टुकड़े बनाने पड़ेंगे। बहुधा शहरों को एक एक समूचा निर्वाचन-विभाग बने रहने देने से अधिक लाभ होता है। उसकी आवश्यकतायें तब ही पूरी हो सकती हैं, कि जब उस पूरे शहर का कोई एक विशिष्ट प्रतिनिधि रहे। कदाचित् बहुत ही बड़े शहरों को यह बात लागू न हो। कदाचित् इनके विभाग शक्य हों। पर मामूली शहरों के विभाग नहीं हो सकते। और शहरों को एक अलग अलग प्रतिनिधि दिया जाय तो बराबर निर्वाचक-सङ्घ का तत्त्व उन्हें लागू नहीं हो सकता। कई विभागों में एक से अधिक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार देना होगा। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या एक विभाग के सारे के सारे सदस्य बहुमत से चुने जायँ? क्या प्रत्येक निर्वाचक उतने मत दें जितने सदस्य निर्वाचित होने के हैं? अथवा अल्पसंख्यक लोगों के प्रतिनिधि के चुने जाने की कोई योजना की जाय? हमें जान पड़ता है कि ऐसे समय अल्पसंख्यक लोगों के प्रतिनिधि के चुने जाने की योजना करने से हानि न होगी।

परन्तु अल्पसंख्यक लोगों के प्रतिनिधि के चुने जाने की योजना किस प्रकार की जाय? इसके कई प्रकार हो सकते हैं। पहले हम अधिकाधिकमान्यतादर्शक (preferential) पद्धति का वर्णन करेंगे।

इस पद्धति के अनुसार एक निर्वाचक एक ही वोट दे सकता है। परन्तु जितने सदस्य चुने जानेवाले हों, उतनी संख्या तक चाहे जितने नाम अपने वोट के काग़ज़ पर अपने इच्छानुसार लिख दे सकता है। वे नाम उसे जिस क्रम से मान्य हों, उस क्रम से उन्हें लिखना पड़ता

है। मान लो, एक विभाग से तीन सदस्य चुने जाने के हैं और पाँच उम्मेदवार हैं। उनके नाम **क ख ग घ ङ** हैं। एक त्ता निर्वाचक **ग, ख, ङ,** क्रम से लिख देता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि वह निर्वाचक चाहता है कि उसका वोट प्रथम **ग** को दिया गया है, परन्तु उचितसंख्यक वोट **ग** को मिल जाने के कारण उसके वोट की **ग** को आवश्यकता न हो तो वह **ख** को दिया जाय और **ख** को भी आवश्यकता न हो तब **ङ** को दिया जाय। सबसे प्रथम **ग** उसे मान्य है, उससे कम **ख** और **ङ** उससे भी कम। अपने वोट से इन पुरुषों के विषय में इस त्ता निर्वाचक ने अपनी अधिकाधिक मान्यता दर्शाई है। इस पद्धति में एक बड़ा दोष है। कौन वोट किसके लिए गिने जायँ यह कैसे जानें? यह सरल कार्य नहीं है। ऐसी ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी कि बड़े बड़े गणितज्ञ चकरा जावेंगे, और कौन कौन चुने गये यह निश्चित करना अशक्य हो जावेगा। यह रीति देखने में बड़ी सरल है, पर व्यवहार में बड़ी ही कठिन। स्विटज़रलैंड में जो पद्धति प्रचलित है, उसमें यह उपरिलिखित दोष नहीं है। प्रत्येक पुरुष को कुछ निश्चित संख्यक वोट मिलने की आवश्यकता रहती है और उसी के साथ दलबन्दी वोट और व्यक्तिविषयक वोट का सम्मेल किया गया है। इस पद्धति में यह आवश्यकता होती है कि जितने दल होने हैं, वे सब अपने अपने दल के उम्मेदवारों की सूची बना लेते हैं। पहले-पहल वोटों का बटवारा दल के अनुसार होता है, व्यक्तियों के अनुसार नहीं। जितने सदस्य चुने जानेवाले हैं, उतने वोट प्रत्येक निर्वाचक एक या दूसरे पक्ष को दे देता है। साथ ही, यदि कोई उम्मेदवार उसे विशेष मान्य हो तो उसका नाम भी लिख देता है। परन्तु जितने नाम लिखे जाते हैं उनके लिए वह कम अधिक मान्यता नहीं दिखला सकता। यह हो सकता है कि इनमें दूसरे पक्ष के एक या अधिक नाम लिख दे। परन्तु उसने यदि ऐसा किया तो दूसरे पक्ष के ऐसे प्रत्येक नाम के लिए निज के पक्ष के लिए दिये वोटों की

संख्या में से एक एक वोट कम कर लिया जाता है। फिर एक सदस्य के चुने जाने के लिए जितने वोटों की आवश्यकता होती है, उतने यदि किसी पक्ष को मिल गये तो ऐसा समझा जाता है कि उनका एक उम्मेद-वार चुना जा चुका है। यदि वोटों की संख्या आवश्यक संख्या से दुगनी होगई, तो समझा जाता है कि उस पक्ष के दो उम्मेदवार चुने जा चुके। और जिन उम्मेदवारों के नाम प्रत्यक्ष बतलाये गये हों और उनमें, जिन्हें अधिक वोट मिले हों, वे चुने गये समझे जाते हैं। मान लो कि एक पक्ष को तीन हज़ार वोट मिले और आवश्यक वोट की संख्या प्रत्येक सदस्य के लिए एक हज़ार है। इस अवस्था में इस पक्ष के तीन पुरुष सदस्य हो सकते हैं। और मान लो कि उस पक्ष के **क, ख**, ग, घ, ङ, पांच उम्मेदवार थे। जितने वोट ख़ास नाम से मिले हैं, उसके अनुसार इनका क्रम **घ, क, ग, ङ, ख** है। तो ऐसा समझेंगे कि **घ, क, ग**, चुने गये। अब यदि किसी पक्ष को हज़ार का यानी आवश्यक संख्या का कोई भाग मिले तो क्या करते हैं? मान लो कि एक पक्ष को २,७०० वोट मिले और दूसरे को ३,६४०, और कुल छः सदस्य चुनने हैं। ३,६४० वालों को चार सदस्य चुने गये समझेंगे और २,७०० वालों को दो ही। तत्व यह है कि बची हुई जगह में उस पक्ष का सदस्य चुना समझा जाय जिन्हें सबसे अधिक वोट मिले हैं। यह भी रीति थोड़ी बहुत पेंचीदी है। परन्तु पहले के समान नहीं।*

---

* दो पद्धतियां और बतलाई जा सकती हैं। (१) मर्यादित संख्यक वोट। जितने सदस्य चुने जानेवाले हैं, उस संख्या से कम वोट इस पद्धति के अनुसार निर्वाचक दे सकता है। (२) एकत्रित वोट। जितने सदस्य चुनना है, उतने वोट का अधिकार प्रत्येक सदस्य को रहता है। साथ ही यह भी स्वतन्त्रता रहती है कि उनमें से चाहे जितने वह एक ही उम्मेदवार को दे सकता है। ये पद्धतियाँ भी किसी प्रकार परिपूर्ण नहीं हैं। ऊपर जो दूसरी पद्धति बतलाई है, उसके नज़दीक ये पद्धतियाँ कभी ही कभी पहुँचती हैं।

८. विभाग करने की उपरिलिखित किसी भी पद्धति का अवलम्बन भले ही किया जाय, यह तो सब पर स्पष्ट ही है कि मनुष्य-संख्या के परिवर्तन के कारण इन विभागों में थोड़ा बहुत परिवर्तन समय समय पर करना ही पड़ेगा। परन्तु हमारी समझ में जहाँ कहीं दलबन्दी बहुत बढ़ी-चढ़ी हो वहाँ यह परिवर्तन क़ायदा बनाकर करने की अपेक्षा एक स्थायी कमीशन के द्वारा किया जाय। मर्दुमशुमारी के साथ ही यह करना अच्छा होगा। नहीं तो निर्वाचन-विभागों की ऐसी कुछ योजना की जा सकती है कि सबल पक्ष अपने को सदा सबल ही बनाये रहे। अनेक प्रतिकूल स्थानों को एक विभाग में भर दिया और जहाँ आधे लोग प्रतिकूल आधे अनुकूल हैं, उसमें थोड़ा सा अनुकूल हिस्सा जोड़ दिया तो निज के पक्ष के अधिक लोग चुन लिये जा सकते हैं। परन्तु जहाँ अल्पसंख्यक लोगों को भी अपना एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार रहता है, वहाँ इस दोष का डर कम हो जाता है।

९. यदि इस प्रकार के विभागों की कोई पद्धति उपयोग में लाई गई तो उसके साथ ही एक प्रश्न उपस्थित होता है। कितने काल तक एक मनुष्य एक ही विभाग में बस चुका रहे कि उसके बाद वोट देने का उसे अधिकार मिल सके? उत्तर में यह कहना होगा कि वह इतने काल तक एक ही विभाग में बस चुका रहे कि वह वहाँ की आवश्यकताओं से परिचय पा सके और अनजान लोग वहाँ कुछ ही समय पहले आकर अपने वोटों से किसी प्रकार अपने पक्ष का ज़ोर न बढ़ाने पावें। परन्तु यह मर्यादा इतनी लम्बी न हो कि जिससे वास्तविक अच्छे नागरिक अपने वोट न दे सकें।

१०. अब तक निर्वाचक के अधिकार के विषय में विचार करते रहे। अब विचार करना चाहिए कि कौन लोग चुने जा सकें। बहुत सी बातें तो दोनों को सम समान लागू होंगी। बड़े भारी अपराधी, किसी तरह का अनुचित व्यापार करनेवाले, जो आर्थिकदृष्ट्या स्वावलम्बी नहीं हैं वे, अत्यन्त दरिद्री और अज्ञान लोग, जब निर्वाचक नहीं हो सकते, तब

निर्वाच्य कैसे हो सकते हैं, ये लोग सदस्य कैसे बनाये जा सकते हैं ? परन्तु अपराधियों के विषय में हमने पहले जो कुछ कहा है, वह यहाँ भी भली भाँति लागू होता है । वयोमान की मर्यादा यदि निर्वाचक को लागू होती है, तो उससे अधिक निर्वाच्य को लागू होनी चाहिए । सदस्य को तो अधिक ज़िम्मेदारी का काम करना होता है । इसलिए उसके वय की मर्यादा कुछ अधिक ही होनी चाहिए । सरकारी नौकरों को भी चुने जाने का अधिकार न रहे । उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध में कुछ मंत्रियों को अपवाद रूप से छोड़ देना चाहिए । परन्तु उन्हें भी दुबारा चुनाव कर लेने को बाध्य करना आवश्यक है । इन बातों के सिवा इस सम्बन्ध में एक बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित होता है । क्या सदस्य होने-वाला अच्छी आमदनी का पुरुष होना चाहिए ? क्या वह अच्छा ख़ूब पढ़ा लिखा हो ? यह स्वीकृत है कि क़ायदे बनाने का काम सरल नहीं हैं । सब इस कला में प्रवीण नहीं हो सकते । जिनका मानसिक विकास अच्छा हुआ है, वे ही यह काम कर सकते हैं । जिनकी कुछ स्वतन्त्र आमदनी है वे ही ऐसे कामों के लिए समय निकाल सकते हैं और लगा सकते हैं । परन्तु इस पर यह उत्तर दिया जा सकता है कि क़ानून बनाने की कला अभी इतनी बढ़ी-चढ़ी नहीं है कि उसमें विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धतियों का बहुत काम पड़े । रोज़ के राजकीय काम करने के लिए जो ज्ञान और जो बौद्धिक विकास चाहिए वह शाला और कालेजों और पुस्तकों से नहीं प्राप्त होता । इतना ज्ञान तो शारीरिक श्रम करने-वाला अच्छा बुद्धिमान् पुरुष कहीं भी प्राप्त कर ले सकता है । फिर, यदि थोड़े धनवान् पुरुष ही चुने जा सकें तो प्रातिनिधिक राज्य-पद्धति के उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकते । प्रातिनिधिक राज्य-पद्धति का मुख्य गुण यह है कि उसमें सब लोगों की आवश्यकताओं का उचित विचार किया जाता है और रोज़ के अनुभव का उपयोग हो सकता है । केवल धनी लोग चुने जायँ तो ये बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं । इसलिए प्रत्येक पुरुष अपना ही प्रतिनिधि चुनने को यथासम्भव स्वतन्त्र रहे । यदि धनी और शिक्षित

लोगों को ही चुनने का नियम रखा जाय तो परिणाम यह होगा कि ग़रीब लोग सदस्यों के चुनने में भाग न लेंगे और न चुने हुए सदस्यों में उनका कुछ विश्वास ही रहेगा।

इसलिए आमदनी या शिक्षा की योग्यता का प्रतिबन्ध रखना उचित नहीं जान पड़ता। परन्तु यदि सब वर्गों के प्रतिनिधि के चुने जाने की योजना हो सके, और फिर यदि धनी और शिक्षित पुरुष चुने जायँ तो किसी को कुछ कहने का मौक़ा नहीं मिलेगा। और यह बड़ी सरलता से सिद्ध हो सकता है। सदस्य को कोई वेतन न दिया तो उद्देश पूरा हो जावेगा। प्रत्येक वर्ग अपना अपना प्रतिनिधि अपने में से ही तब भी चुन सकेंगे। यदि इन लोगों की कोई स्वतन्त्र आमदनी न रही तो उनके निर्वाचक लोग चन्दा इकट्ठा कर उसका उदर-पोषण आदि करेंगे। इसलिए जब तक कोई बड़ा भारी कारण न हो तब तक लोग बिलकुल ग़रीब को चुनेंगे ही नहीं। यदि वे समझें कि अमुक ग़रीब मनुष्य सदस्य बनाने लायक़ ही है तो उसके निर्वाह के लिए सब आवश्यक प्रबन्ध भी वे करेंगे*।

११. सदस्य का निर्वाचन दो तरह से हो सकता है। एक तो निर्वाचकसंघ के द्वारा सदस्य प्रत्यक्ष चुने जायँ। दूसरे—पहल सबसे

---

* कोई इस पर यह आक्षेप कर सकता है कि धनी लोग यदि बिना चन्दा आदि के अपने प्रतिनिधि भेज सकें, तो पहले ही जो ग़रीब हैं उनको क्यों अप्रत्यक्ष बाध्य किया जाय कि यदि वे अपना प्रतिनिधि चुनना चाहें तो अपने पर चन्दे का कर भी लाद लें? परन्तु स्मरण रहे कि आज-कल के बड़े बड़े समाज में यह 'कर' बहुत भारी न होगा। यह जो द्रव्य सदस्य को दिया जावेगा वह इतना अधिक न रहे कि वह ऐश-आराम से रहने लग जावे और अपने हीन मनोरथ-पूर्ण कर सके। वह चन्दा इतना ही रहे कि सदस्य के काम करने में उसकी जो नुक़सानी होती है, उसकी पूर्त्ति हो सके और नवीन पद के लिए जो नितान्त आवश्यक ख़र्च हो वह भी चला सके।

नीचे के निर्वाचक मध्यस्थ निर्वाचक चुनें और ये फिर सदस्य चुनें। पहली तरह की रीति में एक ही कड़ी है, निर्वाचक-सदस्य। यह पिछली तरह की जो रीति है उसमें दो कड़ियाँ हैं, एक निर्वाचक—मध्यस्थ निर्वाचक और दूसरी मध्यस्थ निर्वाचक-सदस्य। इन कड़ियों के बीच में और भी कड़ियाँ डाल सकते हैं। पर जहाँ कहीं यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन की रीति प्रचलित है, उनमें से बहुत से स्थानों में यह दो ही कड़ी-वाली पद्धति है। इस अप्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि मूल निर्वाचक और सदस्य में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रह जाता और इस कारण निर्वाचकों का सदस्य में विश्वास भी नहीं रह सकता। और ज़हाँ दलबन्दी का ज़ोर बहुत बढ़ गया है, वहाँ यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन केवल औपचारिक रहता है। मध्यस्थ निर्वाचक इसी स्पष्ट शर्त पर चुने जाते हैं कि ये दलवाले जिन्हें बतलावें उन्हें ही वे चुनें। यदि बहुत काल के लिए ये मध्यस्थ-निर्वाचक चुने गये तो शायद यह दोष कम हो जावे, परन्तु इस अवस्था में मूल निर्वाचकों को व्यवस्थापक-सभा की बातों में कोई अभिरुचि नहीं रह जाती, इनमें वे बिलकुल मन नहीं लगाते। परन्तु, हाँ, इस अप्रत्यक्ष चुनाव से एक बड़ा भारी लाभ यह होता है कि जो सदस्य इस तरह चुने जाते हैं, वे अच्छे दर्जे के होते हैं। यह निर्वाचन केवल औपचारिक रहा तो बात अलग है। सब काम स्वतन्त्रता और सच्चे मन से हो, तब ही यह लाभ हो सकता है। यदि व्यवस्थापक-सभा के दो भाग हों, एक लोकप्रतिनिधि सभा और दूसरी कुलीन सभा, तो दूसरी सभा के लिए यह अप्रत्यक्ष यानी दो कड़ीवाला निर्वाचन अच्छा होता है। लोक-प्रतिनिधि सभा के लिए एक कड़ीवाला यानी प्रत्यक्ष निर्वाचन ही अच्छा है।

१२. निर्वाचन के अधिकार के विषय में हमने पाँच बातों का विचार किया। पहले तो हमने यह दिखलाया कि यह अधिकार सारे ही मनुष्यों को नहीं दिया जा सकता। नितान्त अकिञ्चन, अज्ञान,

पागल, बच्चे इत्यादि इस अधिकार से कोई लाभ नहीं उठा सकते। फिर हमने यह प्रतिपादित किया कि निर्वाचन-सङ्घ के लिए देशविभाजन की पद्धति ही विशेष अच्छी है। पर यह विभाजन सब जगह बिलकुल बराबर नहीं हो सकता। तत्पश्चात् यह भी दर्शाया कि जहाँ कहीं किसी कारण कुछ लोग अल्प संख्या में हैं और अपना प्रतिनिधि नहीं चुन सकते, वहाँ उनके प्रतिनिधि के चुने जाने की योजना किसी उचित रीति से करनी चाहिए। चौथे, यह बतलाया कि चुने जानेवाले लोगों की योग्यता के विषय में कुछ नियम रहें, फिर वे नियम बाक़ायदा हों अथवा व्यावहारिक। अन्त में यह बतलाया कि लोक-प्रतिनिधि-सभा के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन ही लाभकारी है। दूसरे भवन यानी कुलीन सभा के लिए दो कड़ीवाली या अप्रत्यक्ष पद्धति भले ही उपयोग में लाई जाय। संक्षेप में निर्वाचन के ये ही मुख्य तत्त्व हैं।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

व्यवस्थापक-सभा के द्वितीय भवन के सदस्यों का निर्वाचन

१. लोक-प्रतिनिधि-सभा अथवा प्रथम मन्दिर के सदस्यों के निर्वाचन का विचार हम कर चुके और इस परिणाम पर पहुँचे कि वे सब साधारण लोगों द्वारा चुने जावें। पर प्रश्न हो सकता है कि क्या दूसरे या कुलीन भवन के सदस्यों का भी निर्वाचन इसी प्रकार से हो? फिर दोनों में भेद कौन सा रहा? इन प्रश्नों का विचार करने के लिए हम कुलीन लोगों के दो भेद करेंगे। (१) वंश-परम्परा के धनी लोग, और (२) शिक्षा और राजकीय विचारों में श्रेष्ठता पाये लोग। कुछ अंश में ये दो गुण एक ही स्थान में मिल सकते हैं। परन्तु यह भी देखा गया है कि कुछ काल के बाद धन के कारण शिक्षा आदि गुणों में इनकी अधोगति हो जाती है। धन के कारण इन गुणों की प्राप्ति कठिन बात नहीं, तथापि धन के कारण अधोगति भी उतनी ही सरलता से होती है। इसलिए इनके दो वर्ग मानना ही उचित है। और इसी कारण से यह भी मानना होगा कि सिर्फ धनी लोगों की सभा या भवन रहना किसी फ़ायदे का नहीं। इसलिए शिक्षा, संस्कृति आदि में श्रेष्ठता पाये लोग भी दूसरे भवन में बैठें—दूसरे भवन में बैठने का अधिकार शिक्षा आदि गुणों पर भी अवलम्बित रहे।

२. इन सदस्यों के निर्वाचन की पद्धति का विचार करने के पहले यह जान लेना चाहिए कि इस भवन का प्रथम यानी लोक-प्रतिनिधि-भवन से क्या सम्बन्ध होना चाहिए? इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध

कैसा रहे ? क्योंकि इस सम्बन्ध पर निर्वाचन-पद्धति बहुत-कुछ अवलम्बित है।

बड़ी स्पष्ट और सरल योजना यह है कि इन दो भवनों का पद समान रहे, दोनों के समान अधिकार रहें। कोई भी क़ायदा बनने के लिए दोनों की अनुमति समान ही आवश्यक रहे। यदि किसी एक ने किसी मसविदे को अपनी सम्मति न दी तो वह क़ायदा न बन सके। यदि किसी विषय के क़ायदे की आवश्यकता दोनों को प्रतीत हो, पर क़ायदे के स्वरूप के विषय में एक मत न हो सके तो बड़ी कठिन समस्या नहीं उपस्थित होगी। चाहे तो निर्वाचक-सङ्घ का मत लेकर आवश्यक क़ायदा बनाया जा सके, अथवा दोनों भवनों की एक संयुक्त सभा बैठे जहाँ वे अपने मत परस्पर को बतला सकें। परन्तु अर्थ-सम्बन्धी क़ायदों के विषय में यह बात उचित नहीं होगी। आज-कल के राज्यों में ख़र्च की योजना थोड़े ही काल के लिए की जाती है। इसलिए इन क़ायदों को बहुत काल तक नहीं टाल सकते। इससे तो सारा कार्य ही रुक जावेगा। इसके लिए ये तीन उपाय सुझाये जा सकते हैं। (१) व्यवस्थापक-सभा के द्वैत का रूप ही दूर कर दिया जावे। (२) दोनों भवनों के समान अधिकार न रहें। (३) या व्यवस्थापक-सभा के सदस्यों को अर्थ-सम्बन्धी अधिकार बहुत न रहें। (१) जब कभी अर्थ-सम्बन्धी बातों में मत भिन्न हो तो दोनों का संयुक्त अधिवेशन हुआ करे और बहुमत को जो बात ठीक जँचे, वह की जावे। परन्तु इससे एक बड़ा परिणाम यह देख पड़ता है कि फिर दो भवनों की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि आख़िर को उन्हें एक ही बना डालते हैं। जब कभी लोक-प्रतिनिधि-सभा में क़रीब क़रीब सब लोगों का एक ही मत हो जावेगा, तब तब दूसरे भवन के सदस्यों के मत की कोई क़ीमत न रह जावेगी—प्रथम भवन के सदस्य अपने मत के अनुसार चाहे जो कर सकेंगे। ऐसा होने से दूसरा भवन लोगों के अर्थ का संरक्षक न रह जावेगा। परन्तु कोई भी स्वीकार करेगा कि कर देनेवालों की भलाई पर नज़र रखते यह नितान्त

आवश्यक है कि दूसरा भवन भी लोगों के अर्थ की रक्षा करे। (२) अर्थ-सम्बन्धी दोनों के समान अधिकार न रह कर (जैसा कि इँगलेंड में है) लोक-प्रतिनिधि-भवन को ही इस विषय के पूरे अधिकार रहें, दूसरा भवन इनको किसी प्रकार न बदल सके तो प्रथम भवन को ही सारा महत्त्व मिल जाता है। (३) यदि अर्थ-सम्बन्धी बातों में व्यवस्थापक-सभा का अधिकार, उसका नियन्त्रण कम रहा, यदि मामूली आय-व्यय की योजना सदा के लिए कर दी गई तो इन दो भवनों की मतभिन्नता के कारण द्रव्याभाव की कठिनाई न आ पड़ेगी। परन्तु अर्थ-सम्बन्धी सारा प्रश्न तब तक नहीं हल हो सकता जब तक शासन-विभाग को आवश्यकतानुसार अधिक कर बैठाने का भी अधिकार न रहे। क्योंकि समय समय पर अधिक द्रव्य की आवश्यकता आ पड़ती है। परन्तु शासन-विभाग के हाथ में ऐसे अधिकार रहना लोगों की दृष्टि से हानिकारक और भयप्रद है।

इसलिए क़ानून सभा के ये दो अङ्ग बिलकुल समान पद के नहीं हो सकते। लोक-प्रतिनिधि-सभा को कुछ अधिक अधिकार रहना आवश्यक है—फिर ये अधिकार क़ायदे से मिले रहें अथवा व्यवहार से। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इन अधिक अधिकारों की सीमा निश्चित करना कठिन है। भरपूर तो हों, पर अधिक न हों, इस समस्या को सरलता से नहीं हल कर सकते। इँग्लेंड में १९११ में जो पार्लिमेंट ऐक्ट बना उसके अनुसार ऐसी योजना हुई है कि हाउस आव् कामंस में अर्थ-सम्बन्धी क़ायदा पास होने पर यदि हाउस आव् लार्ड्स एक महीने के भीतर उसको अपनी अनुमति न दे तो राजा के हस्ताक्षर से वह क़ायदा बनाया जा सकता है। शेष सर्व-साधारण क़ायदे हाउस आव् कामंस में लगातार तीन अधिवेशनों में पास हुए तो हाउस आव् लार्ड्स की अनुमति के बिना वे क़ायदे हो सकते हैं। देश-काल और इतिहास की ओर उचित दृष्टि देकर प्रत्येक देश में कुछ ऐसी ही योजना होनी चाहिए। क्योंकि लोक-प्रतिनिधि-सभा का महत्त्व सदैव अधिक ही रहता है।

तथापि कुलीन भवन का महत्त्व इतना कम न हो जावे कि उसका रहना या न रहना एक-सा जान पड़े।

३. अब यदि यह आवश्यकता हम मानते हैं कि दूसरे भवन का भी अधिकार थोड़ा बहुत अवश्य चल सके, तो सोचना चाहिए कि उसके सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार किया जावे? यदि लोक-प्रतिनिधि-सभा के सदस्य साधारण लोगों के द्वारा खुले तौर से निर्वाचित किये जावें तो यह भी आवश्यक है कि कुलीन भवन के सदस्य भी निर्वाचित किये ही रहें। नहीं तो लोक-मत में उनका महत्त्व बहुत कम हो जावेगा। एक ऐसी भी योजना हो सकती है कि शासन-विभाग के अधिकारी जीवन भर के लिए ऐसे लोगों को दूसरे भवन के सदस्य बना डालें कि जो बड़ी प्रसिद्धि पाये हैं, अथवा शासन-विभाग या न्याय-विभाग के वर्तमान या भूतपूर्व अधिकारी दूसरे भवन के सदस्य हो सकें। हाँ, इससे यह ज़रूर होगा कि उनके कहने को लोगों में बहुत मान मिलेगा। और शायद वे लोकमत की तरङ्गों को रोक भी सकेंगे। परन्तु मान लो कि लोग उनसे सहमत नहीं हो सके, तब क्या? तब तो इन मुट्ठी भर पुरुषों को अपना विरोध करते देख लोग बड़े बिगड़ उठेंगे और राज्य-प्रबन्ध बड़े संकट में पड़ जावेगा। इसलिए यदि यह आवश्यक है कि ये दो भवन क़रीब क़रीब समपद के रहें तो यह भी आवश्यक है कि पहले भवन के सदस्यों के समान दूसरे भवन के सदस्य भी निर्वाचित ही किये रहें।

परन्तु ऐसी निर्वाचन-विधि ढूँढ़ना भी कठिन कार्य है कि जिससे दूसरे भवन के अस्तित्व की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। नार्वे में लोक-प्रतिनिधि-सभा के सदस्य ही अपने में से दूसरे मन्दिर के सदस्यों को चुनते हैं। यह निर्वाचन विज्ञ लोगों के द्वारा अवश्य होता है, पर उन दो सभाओं में भिन्नता का कारण ही नहीं रह जाता और यदि भिन्नता कभी भी न रही, तो दूसरे भवन से लाभ ही क्या? फिर, जिस बात के लिए दूसरे भवन का निर्माण करते हैं, उसकी पूर्ति होती

ही नहीं। यदि कुछ शिक्षित समुदाय दूसरे भवन के सदस्यों को चुने तो यह लाभ होगा कि ये अच्छी राजकीय शिक्षा पाये लोग रहेंगे। पर मत-भिन्नता के अवसर पर उनको प्रथम भवन यह कह सकेगा कि तुम सारे लोगों के प्रतिनिधि नहीं हो, तुम अपने लाभ के लिए राष्ट्रीय लाभों को नष्ट करते हो। एक ऐसी भी योजना हो सकती है कि पहले सर्वसाधारण लोग इन सदस्यों के निर्वाचकों को चुनें और फिर ये निर्वाचक उन सदस्यों को चुनें। इसमें एक बड़ा भारी दोष यह है कि ये मध्यस्थ निर्वाचक केवल कठपुतली की नाईं अपना काम करेंगे। जहाँ कहीं दलबन्दी बहुत बढ़ी चढ़ी रहती है, वहाँ इसकी बहुत आशङ्का रहती है। परन्तु इस दोष को अनेक उपायों से कम भी कर सकते हैं। कहीं कहीं दूसरे मन्दिर के सदस्यों को प्रान्तीय अथवा उपराज्य अथवा उनकी व्यवस्थापक सभायें चुनती हैं। इसमें यह दोष होता है कि प्रान्तीय अथवा उपराज्यों की सभा के सदस्यों को चुनते समय स्थानीय ही नहीं किन्तु राष्ट्रीय प्रश्न भी उपस्थित हो जाते हैं। क्योंकि दोनों की एक कड़ी सी बँध जाती है।

इस विवेचन से यही देख पड़ता है कि यदि दलबन्दी के परिणामों को रोक सकें तो मध्यस्थ निर्वाचकों की पद्धति ही अच्छी है। ये निर्वाचक अपने काम के लिए कुछ ही काल पहले चुने जाएँ। परन्तु प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि ऐसा करने से दोनों भवनों में भेद क्या रह जावेगा। इसके लिए ऐसा किया जा सकता है कि (१) उनकी संख्या थोड़ी हो, उनके निर्वाचक-सङ्घ बड़े बड़े हों और सदस्यों की योग्यता का प्रमाण अधिक हो, (२) उनकी वय अधिक रहे, (३) वे अधिक काल तक बने रहें और (४) उनमें से थोड़े थोड़े नियत काल में बदले जायँ। राष्ट्र की बहिर्देशीय यानी अन्तर्राष्ट्रीय नीति एकदम न बदल जावे इसके लिए ऊपर लिखी चार शर्तों में से अंतिम दो शर्तें बहुत आवश्यक हैं। दूसरे भवन के सदस्य बहुत काल तक बने रहने के कारण पुरानी बातें अच्छी तरह जानते रहेंगे और उन पुरानी बातों का विचार-प्रवाह

बहता ही रहेगा। कभी कभी निर्वाचन की इन अनेक पद्धतियों का सम्मेल भी करना आवश्यक है। दूसरे भवन के थोड़े थोड़े सदस्य इन सब रीतियों से निर्वाचित किये जायँ। इससे बहुत से दोष दूर हो जावेंगे।

दूसरे भवन के सदस्य एक प्रकार के और हो सकते हैं। इँग्लैंड में हाउस आफ़ लार्ड्स में क़रीब क़रीब सारे लार्ड * वंश-परम्परा से बैठते आये हैं। यह भी एक पद्धति हो सकती है। पर आज-कल के काल में इस पद्धति के अवलम्बन होने की सम्भावना बहुत कम है। इँग्लैंड में इस पद्धति के अवसान की सूचना मिल चुकी है। यहाँ भी कुछ काल बाद इस वंश-परम्परा की पद्धति के बदले निर्वाचन-पद्धति का उपयोग हुए सिवा न रहेगा।

४. सारांश, वंशपरम्परा, लोक-प्रतिनिधि-सभा-द्वारा, अथवा वे अन्य निर्वाचन-पद्धतियाँ बेकाम हैं कि जिससे दूसरे भवन का महत्त्व बहुत कम हो जावे। ऐसी पद्धतियाँ स्वीकार्य हैं कि (१) जिनसे इन सदस्यों का व्यक्तिगत महत्त्व बढ़े, या (२) जिनसे इनका प्रातिनिधिक महत्त्व अधिक हो। योग्यता के कारण शासन-विभाग के अधिकारी उन्हें नियुक्त करें तो सिद्धान्त-दृष्ट्या अनुचित नहीं, पर व्यवहार में यह नियुक्ति आक्षेपार्ह हो जाती है। इसी प्रकार, केवल वर्तमान अथवा भूत-पूर्व पदाधिकारियों को सदस्य बनने का अधिकार रहना लोगों की भलाई की दृष्टि से आक्षेपार्ह है। इसलिए किसी न किसी तरह की निर्वाचन-पद्धति का ही उपयोग करना आवश्यक है ताकि ये सदस्य सारे लोगों के प्रतिनिधियों का पद पा लें। ऐसा करने के सिवा दूसरे भवन का महत्त्व उचित न बना रहेगा और उसके अस्तित्व की आवश्यकता न रह जावेगी।

---

* आज-कल चार ला-लार्डों को छोड़ कर।

सोलहवाँ परिच्छेद

शासन-विभाग

गत तीन परिच्छेदों में राज्य-प्रबन्ध के तीन अङ्गों में से क़ानून-विभाग का विचार किया। अब क्रमशः शेष दो अङ्गों का विचार करेंगे।

१. शासन-विभाग राज्य-प्रबन्ध का एक भाग है। परन्तु लोगों की दृष्टि में शासन-विभाग ही पूरी सरकार है। ऐसी समझ के अनेक कारण हैं। एक तो शासन के अधिकार इतने महत्त्व-पूर्ण रहते हैं, लोगों की जान और माल से उनका इतना प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है कि लोग उससे स्वाभाविक ही डरते रहते हैं। न्याय-विभाग से भी लोगों के जीवन का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, परन्तु शासन-विभाग से कम। दूसरी बात यह है कि सब देशों में शासन-विभाग के अधिकारी प्रारम्भ में सब ही अधिकारों के अधिकारी थे। धीरे धीरे जब कार्यों का यानी अधिकारों का विभाजन होता गया, तब प्रत्यक्ष में न्याय-विभाग और क़ानून-विभाग उसके मातहत देख पड़े। न्याय-विभाग के अधिकारियों की नियुक्ति और क़ानून-विभाग के सदस्यों का चुनाव इत्यादि शासन-विभाग के अधिकारियों-द्वारा ही होता आया और होता है। इस कारण लोग ऐसा समझते हैं कि शासन-विभाग ही असली सरकार है। फिर, अब तक सब देशों में शासन-विभाग के श्रेष्ठ अधिकारियों के हाथ में थोड़े-बहुत न्याय का और थोड़े-बहुत क़ानून का अधिकार बना ही है। अपराध की क्षमा, समय-समय पर नियम, अल्पकालीन क़ायदे, नाना तरह की लेखी और मौखिक मुनादियाँ, क़ानून-विभाग से क़ायदे का मसौदा स्वीकृत होने पर उसे स्वीकृत या अस्वीकृत करने का

अधिकार, इत्यादि इत्यादि बातें अब तक शासन-विभाग ही के हाथ में हैं। सारांश, लोगों की दृष्टि में, और कुछ अंश तक वास्तव में, राज्य-प्रबन्ध के बहुत से अधिकार शासन-विभाग के हाथ में हैं। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि लोग शासन-विभाग को ही पूरी पूरी सरकार समझें, उससे डरें और सदा उसके आगे सिर झुकाते रहें।

२. शासन-विभाग का इतना महत्त्व होने के कारण, उसकी योजना के मुख्य तत्त्व जान लेना बहुत आवश्यक है।

शासन-विभाग का विस्तृत अर्थ देखा जाय तो इसमें वे सारे अधिकारी समाविष्ट होते हैं कि जिनका कार्य क़ायदे को अमल में लाने का है। परन्तु इतने से उनके कार्यों का पूरा पूरा पता नहीं लगता। वास्तव में ऐसा करना चाहिए कि जो व्यवस्थापक-विभाग अथवा न्याय-विभाग में समाविष्ट नहीं होते, वे सब शासन-विभाग में गिने जाते हैं। पोस्ट, तार, रेल का अन्तिम प्रबन्ध, अनेक प्रकार के कर, सब तरह की फ़ौज, पुलिस, इत्यादि मुहकमों के अधिकारी तथा लोगों के सुभीते की योजना करनेवाले सरकारी अधिकारी और शासन-सम्बन्धी कार्यों की देख-रेख करनेवाले भी इसी विभाग में शामिल हैं। इसीलिए शासन-विभाग की कल्पना केवल ऐसी उलटी रीति से हो सकती है, प्रत्यक्ष नहीं।

कोई इस पर पूछ सकता है कि इतने अनेक प्रकार के कार्य एक ही विभाग के द्वारा कैसे चल सकते हैं? परन्तु यह बात सत्य है कि वे चलते हैं। और इसका एक बड़ा भारी सीधा कारण भी है। छोटे छोटे अधिकारी दूसरे बड़े अधिकारियों के नीचे रहते हैं, ये दूसरों के नीचे और वे तीसरे के नीचे। इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिकारी ऊँचे ऊँचे होते जाते हैं, और अंत में सबके ऊपर बहुधा एक अधिकारी रहता है। शासन-विभाग में सभा के द्वारा कार्य करने की रीति बहुधा नहीं रहती। इसका कारण यह है कि शासन-सम्बन्धी कार्य जल्दी से करने पड़ते हैं। उनमें यदि देरी हुई तो काम बिगड़ जाने का डर रहता है। वाद-विवाद

का काम किसी क़ायदे या नीति के निर्णय में उपयुक्त हो सकता है। न्याय के लिए भी थोड़ा-बहुत इस रीति का उपयोग हो सकता है। परन्तु अमल के काम में इसका बहुत ही कम काम है। वाद-विवाद में और मतभिन्नता में ही सब समय नष्ट हो जावेगा और सारा काम बिगड़ जावेगा। इसलिए बहुधा शासन-विभाग का काम एक एक पुरुष के हाथ में रहता है। और अन्तिम अधिकारी भी एक ही रहता है। कभी कभी इसी अन्तिम अधिकारी को ही शासन-विभाग का अभिधान लागू किया है। हिन्दुस्तान का गवर्नर-जनरल, अमरीका* या फ्रांस का प्रेसीडेंट, इँग्लेंड का राजा, इत्यादि शासन-विभाग के सर्व-श्रेष्ठ अधिकारी हैं। अमल की आख़िरी ज़िम्मेदारी, फिर वास्तविक हो या नाम-मात्र की हो, इन्हीं पर है। इतिहास में इस बात के उदाहरण अवश्य हैं कि अमल के अन्तिम अधिकार कहीं कहीं दो अथवा अधिक पुरुषों के हाथ में थे। परन्तु यह देखने में आया है कि आवश्यकता के समय ये अधिकार एक अथवा बहुत थोड़े पुरुषों के हाथ में सङ्कलित हुए हैं। आज-कल इसका एक ही अपवाद है। स्विट्ज़रलेंड में वहाँ की

---

* अमरीका शब्द के तीन अर्थ होते हैं। एक तो अमरीका का पूरा स्थल-विभाग। इसमें उत्तर अमरीका का महाद्वीप और दक्षिण अमरीका का महाद्वीप दोनों आजाते हैं। कभी कभी इस शब्द से केवल उत्तरी अमरीका का महाद्वीप जाना जाता है। और कभी कभी इस शब्द से उत्तर-अमरीका के उस स्थल-विभाग का बोध होता है कि जिसे यूनाइटेड् स्टेट्स आव् अमरीका यानी **अमरीका का संयुक्त-राज्य** कहते हैं। हमने इस वाक्य में अमरीका शब्द का इसी अन्तिम अर्थ में उपयोग किया है। कहीं हमने इस देश का पूरा नाम लिखा है और कहीं केवल (बड़े अक्षरों में छपा) **संयुक्त-राज्य** ही कहा है। इस देश के नाम के स्पष्टीकरण के लिए 'संयुक्त-शासन-प्रणाली' नामक परिच्छेद का एक नोट देखिए। उपयोग के स्थल से भी अर्थ जाना जा सकता है।

व्यवस्थापक-सभा के दोनों अङ्ग मिल कर सात पुरुष चुनते हैं। इन सातों की बण्डस्त्रैथ (यानी संयुक्त राज्य की कौन्सिल) नाम की एक समिति होती है और इसके हाथ में वहाँ के संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध के अमल का अधिकार होता है। इतना अवश्य है कि इन सातों में से एक पुरुष अध्यक्ष चुना जाता है और यही इस राज्य का अध्यक्ष होता है, परन्तु वह केवल नामधारी रहता है। वास्तव में उसका ओहदा बाक़ी छः लोगों से किसी प्रकार ऊँचा नहीं है। ये सात लोग राज्य-शासन के भिन्न भिन्न मुहक़मों के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी रहते हैं। परन्तु यह बात केवल सुभीते की दृष्टि से की जाती है, राज्य-सङ्गठन के क़ायदे में ऐसी कोई बात लिखी नहीं है। वे सब मिल कर ही राज्य-शासन का सब काम करते हैं। और यह देखा गया है कि यह पद्धति अच्छी तरह से काम कर रही है। इस समिति के वे ही सदस्य कई बार चुने जाते हैं और बहुधा वे हमेशा बने रहते हैं। यह एक आश्चर्यकारक बात जान पड़ती है। परन्तु इसके कुछ कारण हैं। एक तो राजकीय दृष्टि से स्विटज़रलेंड पर बाहरी आपत्तियों का डर कम है, दूसरे, मुख्य नीति का निश्चय व्यवस्थापक-सभा में ही हो जाता है। यह समिति केवल उसे अमल में लाती है। यदि बार बार बाहरी आक्रमणों का डर रहे तो यह पद्धति काम न पड़ेगी और वहाँ भी एक अन्तिम अधिकारी नियत करना ही होगा। इस एक अपवाद को छोड़ कर शेष अन्य देशों में शासन-विभाग का एक सर्वोच्च अधिकारी अवश्य रहता है।

२. अब यह देखें कि इस सर्व-श्रेष्ठ शासक की नियुक्ति कैसे होती है। 'नियुक्ति' सुन कर कुछ लोग चकरा जावेंगे। वे कहेंगे 'इस शासक की नियुक्ति का प्रश्न ही कहाँ है? वह तो बहुधा वंश-परम्परा का राजा होता है, उसे कोई नियुक्त नहीं करता। परन्तु इस विषय की एक-दो बातें ख़याल में रखनी चाहिए। एक तो यह कि वह आनुवंशिक राजा रहा तो भी उसकी राज्य-प्राप्ति को 'नियुक्ति'

कह सकते हैं। लोग उसे राजा मानते हैं, यही उसकी 'नियुक्ति' है। फिर प्राचीन से प्राचीन काल में राजपदप्राप्ति का कुछ संस्कार, जैसे अभिषेक वगैरह, हुआ करता है। यह कुछ अंश में नियुक्ति का ही चिह्न है। तीसरे, आज-कल के आनुवंशिक राजा बहुत कुछ नियुक्त किये से ही रहते हैं। उनके राज-पद की प्राप्ति के नियम वगैरह भी बन गये हैं। इस दृष्टि से राजा की राज-पद-प्राप्ति को भी नियुक्ति कह सकते हैं। फिर, सब ही जगह सर्वश्रेष्ठ शासक राजा नहीं होता—बहुत स्थानों में वह लोगों-द्वारा चुना हुआ पुरुष होता है और थोड़े ही काल तक अमल करता है। उसके विषय में नियुक्ति शब्द सर्वथा यथार्थ है। इन शासकों के विषय में और एक लक्षण ख़याल में रखना चाहिए। ये शासक (फिर वे आनुवंशिक अधिकारी हों या चुने हुए हों) कहीं वास्तव में शासक होते हैं, तो कहीं वे केवल नामधारी ही होते हैं।

आनुवंशिक शासक अपने जीवन भर शासक रहता ही है, परन्तु उसका अधिकार वंश-परम्परा से उसके वंश में चला जाता है। आज-कल लोग ऐसे शासकों के पक्ष में कम हैं। और युक्ति की दृष्टि से भी उसका समर्थन करना कठिन है। जिस प्रकार गणितज्ञ का पुत्र गणितज्ञ अथवा कवि का पुत्र कवि नहीं होता, उसी प्रकार कौन कह सकता है कि राजा का पुत्र राजगुणविशिष्ट ही होगा। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात सत्य है कि पृथ्वी पर सब काल में आनुवंशिक राजा रहे हैं और लोगों ने उन्हें बहुधा राजा माना भी है। प्रत्येक पुरुष की जिस प्रकार इच्छा रहती है कि अपनी कमाई जायदाद अपने पुत्र-पुत्रियों को मिले, उसी प्रकार राज-पद भी वंशानुवंश चलता आया है। जायदाद के सब लक्षणों के कारण ही राजपद को भी लोग आनुवंशिक मानते आये हैं और मानते हैं। जिस प्रकार लोग यह मानते हैं कि 'च' की जायदाद उसके पुत्र 'भ' को मिले, उसी प्रकार लोग मानते हैं कि ब का राजपद उसके पुत्र फ को मिले। इसमें लोगों को कुछ भी

अस्वाभाविकता नहीं दीखती। इसके अलावे, राजपद को आनुवंशिक चलाने की इच्छा के और भी कारण हैं। राजपद की सत्ता बड़ी भारी होने के कारण उसका डर मन में होता है, उसके प्रति आदर मालूम होता है और जानमाल की सुरक्षितता के लिए उसकी आवश्यकता भी स्पष्ट है। तथापि जैसा ऊपर कह चुके हैं, लोग अब राज्य-सत्ता राजा के हाथ में बहुधा देना नहीं चाहते। अब आनुवंशिक शासक बहुत कम है। अमरीका में तो 'राजा' की कल्पना नितान्त अग्राह्य है। योरप में भी जहाँ कहीं अब ऐसे आनुवंशिक शासक यानी राजा वगैरः बच गये हैं, वे केवल नामधारी हैं। उनके नाम से चलनेवाले अधिकार बहुत हैं। पर उनका उपयोग बहुधा मन्त्री किया करता है और यह मन्त्री लोकनियुक्त प्रातिनिधिक सभा के प्रति अपने कार्यों के लिए जिम्मेदार रहता है। इँग्लेंड, इटली, बेल्जियम इत्यादि स्थानों में यही बात है। सब काम राजा के नाम से चलते अवश्य हैं, पर ऊपर बतलाई रीति से लोगों की उन कार्यों पर देख-रेख बनी रहती है और इस दृष्टि से यह संस्था निरुपयोगी नहीं है। राजा के रहने से राज्य में निश्चिन्तता, स्थिरता, सुसङ्गतता इत्यादि बातें बनी रहती हैं। बार बार अध्यक्ष चुनने से, बार बार अधिकारी के बदलने से, राज्य-नीति में, कार्यों में, शासन में, बहुत परिवर्तन होते रहते हैं। जहाँ जहाँ अध्यक्ष की रीति है वहाँ के इतिहास से यह बात स्पष्ट है। सिवा इसके, राजपद के विषय में लोगों के मन में आदर रहता है, राजा स्वाभाविक ही लोगों के आदर का भाजन बना रहता है। इस कारण शासन-कार्य बहुत कुछ सरल हो जाते हैं। उसके मन्त्रियों को भी वही आदर प्राप्त होता है और वे राजा के नाम से बहुत से कार्य कर सकते हैं। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भी उसका बहुत उपयोग होता है। इँग्लेंड के इतिहास से यह बात बड़ी स्पष्ट होती है। लोगों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण वह कभी कभी सामाजिक नेता के समान काम कर सकता है और लोग उसका कहा मानते भी

हैं। जिस प्रकार एक राज्य के लोगों के मन पर उसका प्रभाव बना रहता है, उसी पर उसके नाम से अनेक स्वातन्त्र्योपभोगी राज्य एक ही सूत्र में गूँथे जा सकते हैं। ब्रिटिश-साम्राज्य इसका उदाहरण है। अँगरेज़ी राज्यविज्ञानी ऐसे अनेक लाभ बतलाया करते हैं और वे बहुतांश में सत्य भी हैं। नामधारी राजा भी अनेक प्रकार से उपयोगी हो सकता है, इस बात का पूरा पूरा साक्षी इँग्लेंड का इतिहास है।

परन्तु अमरीकन ग्रन्थकारों का कहना है कि अँगरेज़ लोग इन लाभों को बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया करते हैं। कौन कह सकता है कि नामधारी राजा हमेशा वैसा बने रहने के लिए तैयार ही रहे। वह जो नामधारी बना है, वह केवल रूढ़ि के कारण है, क़ायदे के कारण नहीं। राजा राजा के बीच जो बर्ताव हुआ करता है वह बड़ा नाज़ुक मामला रहता है। और उसके लिए बहुत शान दिखलानी पड़ती है। और ये बातें राजा के स्वभाव पर अवलम्बित हैं। राजा अच्छा रहा तो अच्छा, बुरा रहा तो सब बातें बिलकुल बिगड़ जाती हैं। इस प्रकार, नामधारी राजा डर का भी कारण हो सकता है।

गत योरपीय महायुद्ध के पहले प्रशिया और रूस में भी राजा (जो बादशाह कहलाते थे) थे और वे नामधारी न थे। परन्तु इस युद्ध ने इनका खग्रास कर डाला और बढ़ते लोक-मत का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखा दिया। इन दिनों में ऐसे राजा किसी देश में नहीं रह सकते।

४. इन आनुवंशिक शासकों के अलावे, कुछ ऐसे भी शासक होते हैं जो या तो चुने जाते हैं या कोई सर्वश्रेष्ठ अधिकारी उन्हें वास्तव में नियुक्त करता है। अमरीका अथवा फ़्रांस के प्रेसीडेंट पहले प्रकार के उदाहरण हैं, और हिन्दुस्तान, दक्षिण अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया या कनाडा के गवर्नर-जनरल दूसरे प्रकार के। इन दोनों प्रकार के अधिकारियों में भी नामधारी अथवा वास्तविक शासक होते हैं। हिन्दुस्तान का गवर्नर-जनरल वास्तविक शासक है तो कनाडा का गवर्नर-जनरल है नामधारी शासक। अमरीका

का प्रेसिडेंट वास्तविक शासक है तो फ्रांस का है नामधारी। ये प्रेसिडेंट भिन्न भिन्न तरह से चुने जाते हैं। फ्रांस का प्रेसिडेंट वहाँ की व्यवस्थापक-सभा की 'नैशनल असेम्बली' (राष्ट्रीय सभा) नामक संयुक्त बैठक में चुना जाता है। अमरीका के लोग पहले प्रेसिडेंट चुननेवाले लोगों को चुनते हैं, फिर ये उसे चुनते हैं। परन्तु देखा गया है कि यह अप्रत्यक्ष रीति विशेष लाभदायक नहीं होती। दक्षिण अमरीका के पेरू, ब्राजिल, बोलिविया जैसे प्रजातन्त्र राज्यों में प्रेसिडेंट को लोग प्रत्यक्ष ही चुनते हैं, वहां कोई बिचली कड़ी नहीं है।

यह अध्यक्ष फिर से चुना जावे या नहीं, यह राज्य-विज्ञान में महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। बहुधा लोग इसके विरुद्ध हैं। उन्हें डर बना रहता है कि उस पद पर अधिक काल रहने से शायद वह पुरुष सिरजोर न बन बैठे। अमरीकन प्रजातन्त्रों में अध्यक्ष का कार्य-काल चार से छः वर्ष तक होता है। और बहुधा वह फिर से नहीं चुना जा सकता। **अमरीका के संयुक्त-राज्य** में इस विषय का कोई निश्चित क़ायदा नहीं है। परन्तु प्रथम अध्यक्ष वाशिंगटन ने एक बार जो रीति चलाई, तीसरी बार चुने जाने से उसने इनकार किया, वह रीति अब भी चली जा रही है। इस महापुरुष ने मौक़ा पाकर अध्यक्ष का 'नैपोलियन बोनापार्ट'* बन जाने की सम्भावना को, राजा के शासन की इच्छा को, रोकना चाहा। इस रीति से किसी अध्यक्ष का राजा बन जाने का डर तो जाता रहा, परन्तु एक प्रश्न हो सकता है कि क्या यह रीति सर्वथा निर्दोष है। जिस पुरुष को अच्छा अनुभव प्राप्त हो चुका है, जो राज्य का काम अच्छी तरह चला चुका है, उसे यदि राज्य के कठिन समय में शासन से दूर होना पड़े तो क्या बुराइयां या हानियां न पैदा होंगी? इँग्लेंड के मन्त्री चाहे जितनी बार नियत किये जा सकते हैं, फ्रांस का प्रेसिडेंट चाहे

---

* नैपोलियन पहले चुना हुआ अधिकारी था पर जल्द ही उसने अपने आपको बादशाह बना लिया।

तो फिर से चुना जा सकता है, परन्तु रूढ़ि के अनुसार अमरीका में वही पुरुष प्रेसिडेंट दो बार से अधिक नहीं हो सकता। कठिनाइयों के समय में तो यह राष्ट्रीय आपत्ति ही होगी।

५. ऊपर कह चुके हैं कि कहीं का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी नामधारी होता है, तो कहीं का वास्तविक। इसका कारण कुछ कुछ पहले बतला ही चुके हैं। इसी का यहाँ हम स्पष्टीकरण करते हैं। कहीं कहीं इस अधिकारी के मन्त्री क़ानून-सभा के सदस्य हैं, कहीं नहीं हैं। जहाँ वे सदस्य हैं वहाँ उनका मन्त्री पद पर बना रहना बहुत कुछ व्यवस्थापक सभा की अनुकूलता पर अवलम्बित है। यदि व्यवस्थापक-सभा प्रतिकूल हुई, तो उन्हें अपने पद पर बने रहना कठिन होता है। सबसे पहले यह रीति इँग्लेंड की पार्लिमेंट में प्रचलित हुई और इस रीति का वह बड़ा भारी उदाहरण है। इस कारण इस रीति को पार्लियामेंटीय शासन कहते हैं। वहाँ के मन्त्री पार्लिमेंट की मर्ज़ी के अनुसार बहुधा कार्य करते हैं और अपनी स्थिति के लिए वे उसी पर अवलम्बित रहते हैं। इसके विपरीत, अमरीका में मंत्री लोग वहाँ की व्यवस्थापक-सभा यानी कांग्रेस के सदस्य नहीं हैं। इस कारण उनकी स्थिति कांग्रेस की मर्ज़ी पर अवलम्बित नहीं, वे अपने प्रधान यानी प्रेसिडेंट की मर्ज़ी पर अवलम्बित रहते हैं। इस पद्धति को प्रेसिडेंशियल पद्धति कहते हैं। प्रेसिडेंशियल शब्द वास्तव में उचित शब्द नहीं। जैसा ऊपर दिखला चुके हैं, यह भी सम्भव है कि कहीं वास्तविक राजा राज्य करते हों और उसके मन्त्री किसी प्रकार व्यवस्थापक-सभा को प्रत्यक्ष जवाबदार न हों। लड़ाई के पहले प्रशिया में यह रीति थी। तो कहीं, जैसे अमरीका में, सर्वश्रेष्ठ अधिकारी आनुवंशिक न होकर लोगों का चुना हुआ पुरुष हो और तब भी उसके मन्त्री व्यवस्थापक-सभा की मर्ज़ी पर अवलम्बित न हों। इसलिए प्रेसिडेंशियल शब्द ग़लत है। यह अमरीका के प्रेसिडेंट के पद और स्थिति को देख कर बनाया गया, परन्तु बनानेवालों ने दूसरे देशों की ओर अधिक ध्यान न दिया।

इस कारण यह ग़लत शब्द प्रचार में आगया। यदि अमरीका की पद्धति को देख कर कोई शब्द प्रचार में लाने के लायक था तो वह 'कांग्रेसीय' है। जिस प्रकार इँग्लेंड की पार्लिमेंट को देखकर 'पार्लिमेंटीय' शब्द बना, उसी प्रकार 'कांग्रेस' को देख कर 'कांग्रेसीय' शब्द बन सकता है। 'पार्लिमेंटीय मंत्रि-मण्डल' कहने से तुरन्त यह बोध हो सकता है कि इस मंत्रि-मण्डल के लोग व्यवस्थापक-सभा के सदस्य हैं और इस कारण उसे प्रत्यक्ष जवाबदार हैं। उसी प्रकार 'कांग्रेसीय मंत्रिमण्डल' कहने से यह बोध हो सकता है कि ये मन्त्री व्यवस्थापक-सभा के सदस्य नहीं हैं और उसे वे प्रत्यक्ष जवाबदार भी नहीं हैं। ये दोनों शब्द ख़याल में रखने के लायक़ हैं और इनका हम आगे उपयोग करेंगे।

इँग्लेंड की पार्लिमेंटीय पद्धति इस प्रकार चलती है। वहाँ क़रीब ५४-५५ मन्त्री हैं, उनमें से पन्द्रह-बीस मुख्य हैं। सब मन्त्री बहुधा पार्लिमेंट के सदस्य होते हैं। परन्तु ये पन्द्रह बीस मुख्य मंत्री ही बहुधा राज्य की बड़ी बड़ी बातों का निर्णय किया करते हैं। इन्हीं पन्द्रह-बीस की सभा को कैबिनेट कहते हैं। इनमें बहुधा एक मन्त्री इनका नेता होता है जिसे लौकिक रीति से प्रधान मंत्री कहते हैं। परन्तु क़ायदे की दृष्टि से इँग्लेंड में न तो कोई प्रधान मन्त्री है और न कैबिनेट नामक सभा है। ये दोनों संस्थायें केवल इतिहास की यानी रूढ़ि की सृष्टि हैं, क़ायदे की नहीं। जब तक मंत्रिमंडल के पक्ष में पार्लिमेंट का बहुमत बना रहता है, तब तक वे अपना काम कर सकते हैं और अपने पद पर बने रहते हैं। परन्तु जब कभी बहुमत प्रतिकूल हो जाता है, तो उन्हें पदत्याग करना पड़ता है। पदत्याग करने का नियम भी क़ायदे में नहीं है, यह भी रूढ़ि है। यदि मंत्रि-मंडल पद त्याग न करे तो पार्लिमेंट के पास शस्त्र भी बड़ा ज़ोरदार है। वह बजट यानी आय-व्यय का लेखा अस्वीकृत कर देती है और इस तरह शासन-विभाग के पास राज्य-प्रबन्ध के लिए

द्रव्य नहीं रहता। क्योंकि पार्लिमेंट के स्वीकृत किये बिना एक कौड़ी भी वसूल नहीं हो सकती। मंत्रि-मण्डल यदि ऐसा करे तो उसे अदालत में लोग खींच ले जाकर उन पर मुक़द्दमा चला सकते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल पार्लिमेंट की मर्ज़ी पर अवलम्बित है। जो लोग एकबारगी मन्त्री बनते हैं, वे बहुधा एक ही पक्ष के लोग होते हैं, वे लोग सब मुख्य बातें मिल-जुल कर किया करते हैं। यदि पार्लिमेंट प्रतिकूल हो जाय, तो वे सब बहुधा एक साथ पदत्याग किया करते हैं। वे अपने अपने मुहकमे के कामों के लिए व्यक्तिशः जवाबदार हैं ही, पर वे समष्टि-रूप से भी जवाबदार हैं। परन्तु स्मरण रहे कि यह सब रूढ़ि है, क़ायदे में प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है। राजा बहुधा सबसे मुख्य मंत्री को यानी पार्लिमेंट का जिस पक्ष में बहुमत हो, उस पक्ष के मुख्य नेता को पहले मन्त्री बनाता है। यही बहुधा प्रधान मन्त्री होता है। शेष मन्त्री उसके कहने के अनुसार नियत किये जाते हैं। इस प्रकार यह पार्लिमेंटीय रीति चलती है। पाठक देख चुके होंगे कि इस रीति के बहुत से नियम रूढ़ि ही हैं, बाक़ायदा नियम नहीं। दूसरे देशों में इस रीति की नक़ल हुई है और ख़ूब नक़ल हुई है। तथापि इतिहास, प्राचीन रूढ़ि, लोक-मत और समझने के हेरफेर के कारण, यह रीति बिलकुल ज्यों की त्यों दूसरे देशों में नहीं प्रचलित हुई। रूढ़ि के नियम कई देशों में क़ायदे के नियम बन गये हैं। यथा, फ़्रांस में यह क़ायदे का नियम है (केवल रूढ़ि का नहीं) कि मंत्रिमंडल व्यक्तिशः ही नहीं किन्तु समष्टि-रूप से भी जवाबदार है—वे सब मिल कर व्यवस्थापक-सभा को उत्तरदायी हैं। यानी यदि वहाँ की व्यवस्थापक-सभा प्रतिकूल हो जाय तो क़ायदा उन्हें बतलाता है कि तुम सब अब अपना पद-त्याग कर दो। राज्य-विज्ञान की दृष्टि से ऐसा नियम क़ायदे में रखना ठीक नहीं। सम्भव है कि देश की जनता ही व्यवस्थापक-सभा के विरुद्ध हो और एक व्यवस्थापक-सभा का विसर्जन करके दूसरी का चुनाव करने पर उन्हें अनु-कूल मत मिल जाय। यह भी सम्भव है कि किसी कारण व्यवस्थापक-सभा

किसी खास व्यक्ति के विरुद्ध हो और इस नियम के कारण व्यर्थ ही उस समस्त मंत्रिमंडल को पद-त्याग करना पड़े। इँग्लेंड में ऐसा बिलकुल अनिवार्य नियम रूढ़ि का भी नहीं है कि सब मन्त्री व्यवस्थापक-सभा के सदस्य अवश्यमेव रहें। बहुधा वे सब व्यवस्थापक-सभा के सदस्य हुआ करते हैं। परन्तु ऐसे भी उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं कि कभी कभी कोई मन्त्री किसी कारण व्यवस्थापक-सभा का सदस्य न चुना जा सका और वह अपने पद पर बना ही रहा। एक के लिए सारे मंत्रिमंडल को पदत्याग करने के लिए बाक़ायदा बाध्य करना ठीक नहीं। रूढ़ि के नियम रूढ़ि के ही नियम बने रहें, उन्हें क़ायदे का स्वरूप देने से थोड़ी-बहुत हानि होने की सम्भावना है। आवश्यकतानुसार रूढ़ि तोड़ी जा सकती है, परन्तु क़ायदा नहीं। इस कारण, ऐसे नियमों को क़ायदे का रूप देकर राज्यसङ्गठन को दृढ़तर बना देना ठीक नहीं। इँग्लेंड के इतिहास को देखने से यही ठीक जान पड़ता है कि ऐसे नियम इच्छाविधेय ही रहें तो अच्छा है। बहुत भारी आवश्यकता पड़ने पर उनका उल्लङ्घन संभाव्य होना चाहिए। पार्लिमेंटीय पद्धति के अनुकरण का एक उदाहरण फ्रांस का बतला ही चुके हैं। इटली, आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, स्पेन, पोर्चगाल, इत्यादि अनेक देशों में भी पार्लिमेंटीय पद्धति का अनुकरण हुआ है। इटली, आस्ट्रेलिया, जैसे कुछ देशों में इँग्लेंड के रूढ़ि के कुछ नियम क़ायदे के नियमों में स्थान पा चुके हैं।

अब इससे **अमरीकन संयुक्त-राज्य** की पद्धति की तुलना करें। वहाँ शासन-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी प्रेसिडेंट होता है। उसके चुनाव से वहाँ की व्यवस्थापक-सभा यानी कांग्रेस का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसके पदकाल की नियति राज्यसंगठन के क़ायदे में ही रखी है और हमेशा की व्यवस्थापक-सभा क़ानून बनाकर उसे कम वा अधिक नहीं कर सकती। बीच में ही दूर करने का एक ही उपाय

है। व्यवस्थापक-सभा चाहे तो उसे किसी भारी दोष के लिए दोषी ठहरा सकती है और इस प्रकार चार वर्ष बीतने के पूर्व ही उसे दूर कर सकती है। परन्तु यह उपाय असामान्य है। वह न तो हमेशा उपयोग में लाया जा सकता है, न सदा कामयाब ही हो सकता है। व्यवस्थापक-सभा शासन की अथवा राजकीय नीति निश्चित करके तदनुरूप कार्य करने के लिए प्रेसिडेंट को बाध्य नहीं कर सकती। हाँ, अधिकारियों की नियुक्तियों को और सन्धियों को सीनेट (वहाँ की व्यवस्थापक-सभा का एक भवन) अस्वीकृत कर सकती है। तथापि प्रेसिडेंट अपना मन्त्रि-मंडल आपही स्वयं चुन लेता है, इसके लिए व्यवस्थापक-सभा से सलाह लेने की आवश्यकता नहीं। और न व्यवस्थापक-सभा को मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को दूर करने का अधिकार ही है। हाँ, इसके लिए उसके पास एक उपाय है। जिस उपाय से प्रेसिडेंट बीच ही में दूर कर दिया जा सकता है, उसी उपाय से उसके मन्त्री भी हटाये जा सकते हैं। परन्तु उस रीति के विषय में हम ऊपर जो कह चुके हैं, वह यहाँ भी ख़याल में रखना चाहिए। प्रेसिडेंट चाहे तो उन्हें दूर भी कर सकता है। यानी राजा के समान यहाँ शासन-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के बहुतेरे अधिकार हैं और वह और उसके मन्त्री व्यवस्था-सभा के दबाव के परे हैं।

संक्षेप में इन दो पद्धतियों की समालोचना करना कठिन है। पहले तो यह स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ कहीं राजा को दूर न करते राज्यसत्ता पर लोगों का अधिकार हो सका है, वहाँ राजा की सत्ता बनी रही। ऊपर बतला ही चुके हैं कि इँग्लेंड की नक़ल कई देशों में हुई। यह नक़ल और बातों में तो हुई ही, पर राजा को बनाये रखकर राज्यसत्ता पर लोगों का अधिकार व्यवस्थापित करने में भी हुई। इटली इसका उदाहरण है। जहाँ कहीं दो मुख्य दल हैं, वहाँ यह रीति अच्छी तरह चलती है। वे एक के बाद एक राज्य का काम किया करते हैं और परस्पर आँख बनाये रहते हैं। परन्तु जहाँ

कई दल हैं, वहाँ केवल अधिकार पाने के लिए वे झगड़ते रहते हैं और इस कारण नीति और सिद्धान्तों को वे पैर-तले कुचलते रहते हैं। परन्तु अमरीका की पद्धति में भी कुछ कम दोष नहीं हैं। पहला और सबसे भारी दोष यह है कि वहाँ शासन-विभाग पर व्यवस्थापक-सभा का कोई प्रत्यक्ष दबाव नहीं है। जो कुछ है वह अप्रत्यक्ष है और थोड़ा है। इस कारण दोनों में प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। कभी कभी उनके बीच विरोध उत्पन्न हो सकता है और राज्यशासन के लिए ऐसी स्थिति संकट का कारण हो सकती है। दूसरा दोष यह है कि सर्वोच्च अधिकारी बार बार बदला जाता है। इस कारण नीति में भी बार बार परिवर्तन होता रहता है। देश की भलाई की दृष्टि से यह रीति अच्छी नहीं। यथाशक्य देश की नीति बहुत जल्द न बदलनी चाहिए। परन्तु बहुधा ऐसा देखा गया है कि सर्वोच्च अधिकारी के बार बार बदले जाने से ऐसा होना अवश्य है। तीसरी बात यह है कि प्रेसिडेंट के चुनाव के समय तमाम देश में बड़ा कोलाहल मच जाता है, खूब अशान्तता फैल जाती है, यहाँ तक कि व्यापार वगैरः भी स्थगित हो जाते हैं। सारांश, दोष दोनों पद्धतियों में है। कौन सी रीति कहाँ लागू हो सकती है, यह वहाँ के इतिहास, लोगों की शिक्षा, सामाजिक विकास इत्यादि अनेक बातों पर अवलम्बित है।

६. शासन-विभाग से कभी उसके सर्वोच्च अधिकारी का तो कभी सर्वोच्च अधिकारी और उसके मंत्रियों का, तो कभी इस विभाग में अमल का काम करनेवाले छोटे-बड़े सब ही अधिकारियों का बोध होता है। इसलिए शासन-विभाग के अन्य भागों का भी विचार करना होगा।

बहुधा सब देशों में शासन-विभाग के अधिकारियों को उनके मुख्य अधिकारी नियुक्त किया करते हैं। और वे बहुधा यथेष्ट समय तक बने रहते हैं। परन्तु कुछ देशों में इन अधिकारियों को लोग चुनते हैं और वे कुछ थोड़े निश्चित काल तक ही अपने पद पर रहते

हैं। अमरीका में जो छोटे छोटे बहुत से प्रजातन्त्र हैं, वहाँ यह रीति प्रचलित है। हाँ, इतना अवश्य है कि यहाँ भी मुख्याधिकारियों को अपने मातहतों पर देख-रेख रखने का और कभी कभी बरख़ास्त करने का अधिकार रहता है।

सर्वोच्च राज्य-प्रबन्ध के मातहत जो राज्य-प्रबन्ध रहते हैं, वहाँ शासन-विभाग के अधिकारियों को चुनने की रीति अच्छी तरह चल सकती है। विशेषकर, जहाँ राज्यसङ्गठन पूरा पूरा लिखा हुआ है, रूढ़ि के नियम बहुत कम हैं, कार्यों के विभाग और सीमा निश्चित हैं, अपने मन के उपयोग का मौक़ा कम आता है, वहाँ इस रीति से कोई विशेष बाधा नहीं होती। परन्तु जहाँ ऐसी बातें नहीं हैं, वहाँ मुख्याधिकारी के द्वारा नियुक्ति की पद्धति श्रेयस्कर है। राष्ट्र पर यदि संकट आपड़े तो यह आवश्यक होता है कि सब लोग एक मत से काम करें। परन्तु भिन्न भिन्न समय समय पर चुने हुए लोग एकमत से काम करेंगे ऐसी सम्भावना कम रहती है। क्योंकि इसमें मातहती कम हो जाती है। और इस कारण सब ही अपनी अपनी खिचड़ी पकाने का विचार कर सकते हैं।

अमल का काम अनेक भागों में बँटा रहता है। एक सर्वोच्च अधिकारी के नीचे इस प्रकार अनेक मुहकमे रहते हैं। आन्तर्देशीय कार्य, बहिर्देशीय कार्य, ख़ज़ाना, आय-व्यय, युद्ध, व्यापार, न्याय और क़ानून, जहाज़, डाक और तार, कृषि, शिक्षा इत्यादि अमल के भिन्न भिन्न भाग हैं। देश-काल के अनुसार कुछ और भी भाग होते हैं। उदाहरणार्थ, उपनिवेश, वायुयान, धर्म आदि। कार्य की लघुता अथवा बाहुल्य के अनुसार मुख्याधिकारियों की संख्या निश्चित होती है। कहीं वे दस ही रहें, कहीं पाँच रहें, और कहीं पंद्रह रहें। मंत्रियों की संख्या अधिक रही तो बहुधा एक एक ही मुहकमा एक एक के हाथ में रहता है। परन्तु कम रही तो कार्य के अनुसार दो तीन मुहकमे एक ही हाथ में रहते हैं। कहीं तो कुछ ऐसे भी

अधिकारी रहते हैं कि जिनके हाथ में किसी मुहकमे का काम नहीं रहता है, नाम तो उन्हें कहीं कहीं कुछ दे दिया जाता है, कहीं नहीं भी दिया जाता। परन्तु राजकीय शासन की सर्वसामान्य देख-रेख करनी होती है। इँग्लैंड का प्रधान मन्त्री ख़ज़ाने का मुख्य प्रधान रहता है, परन्तु वास्तव में उसे इस नाते कुछ भी काम नहीं करना पड़ता।

इन मुख्याधिकारियों के नीचे दोयम दर्जे के अमलदार होते हैं। इँग्लैंड में ऐसे क़रीब ८०,००० अधिकारी हैं। राजा के गेहिक प्रबन्ध के अधिकारी, आन्तर्देशीय, बहिर्देशीय और औपनिवेशिक कार्य, जहाज़, ख़ज़ाना इत्यादि के अधिकारी, इस संख्या में शामिल हैं। वे बहुधा सदा के लिए नियत किये जाते हैं। मन्त्रियों की फेर-बदल से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मुख्याधिकारी के नीचे उसी के समान और उसी के साथ राजकीय कारणों से बदलनेवाला दोयम मन्त्री होता है। परन्तु मुख्याधिकारी के नीचे एक ऐसा भी सहायक दोयम मन्त्री रहता है, जो मन्त्रियों के बदलने पर भी नहीं बदलता। मुहकमे का रोज़ के ढर्रे का काम इसी क़ायम मन्त्री के द्वारा चला करता है। परिवर्तनशील मन्त्री राजकीय नीति के अनुसार अपने मुहकमे के कार्यों की नीति निश्चित करते हैं, परन्तु उसे वास्तविक अमल में लाने का काम यह क़ायम मन्त्री ही किया करता है। इन क़ायम के अधिकारियों को भी उनके पदों से दूर कर सकते हैं, परन्तु जब वे योग्य न हों, तथा अपने कार्यों में असावधानी करें या चाल-चलन ठीक न हो तब ही उन्हें दूर करने के अधिकार का उपयोग होता है। सिर्फ़ राजकीय कारणों से, उदाहरणार्थ, उनके मत मुख्या-धिकारियों से नहीं मिलते इसलिए, या मुख्याधिकारी के किसी मित्र या रिश्तेदार को नौकरी चाहिए इसलिए, उन्हें दूर नहीं करते। और नियुक्ति भी केवल मुख्याधिकारियों की मर्ज़ी पर अवलम्बित नहीं रहती। बहुधा प्रत्येक मुहकमे के लिए परीक्षायें रहती हैं और उनके

सर्वसामान्य नियम बने रहते हैं। परीक्षाओं में जो योग्य ठहरें, उन्हीं की नियुक्ति होती है।

अमरीकन संयुक्त-राज्य में बहुत से अधिकारी केवल चार चार साल के लिए नियुक्त होते हैं, वे नौकरी में पचीस या तीस साल या आजीवन नहीं बने रहते। परन्तु उनको क़ायम बनाये रखने की आवश्यकता बिलकुल स्पष्ट है। बार बार बदलना ठीक नहीं, कार्य करते करते जो योग्यता प्राप्त होती है उसका अधिक उपयोग नहीं होता। ढर्रे के कामों से और राजकीय मत से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। राजकीय मत कुछ भी रहें, ये काम ठीक रीति से चल सकते हैं। इसके उलटा, यह कह सकते हैं कि अधिकारी क़ायम बने रहने से असावधानी करने लगें और वह किसी प्रकार काम निपटाता रहे। परन्तु यदि मुख्याधिकारी अच्छी देख रेख करते रहें, कार्य की उत्तमता के अनुसार वेतन और पद में बढ़ती होती रही, तो इस रीति के दोष बहुत कुछ दूर हो सकते हैं। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि क़ायम अधिकारियों की रीति ही अच्छी है। बार बार अधिकारी बदलना, मुख्याधिकारियों के मित्रों और रिश्तेदारों के लिए पदों का ख़ाली किया जाना और नौकरी में कार्य करते करते पाई हुई योग्यता का वृथा होना देश की दृष्टि से हानिकारक है।

सतरहवाँ परिच्छेद

न्याय-विभाग

१. राज्य का तीसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग न्याय-विभाग है। इसका विवेचन इस परिच्छेद में होगा।

योरपीय देशों में प्राचीन काल में न्याय का काम सरकार के हाथ में पूरा पूरा न था। बहुधा लोग मेल कर लेते थे, या बदला ले लेते थे और इस प्रकार झगड़ों का निपटारा हुआ करता था। न्याय के काम में सरकार ने धीरे धीरे ही हस्तक्षेप किया। पहले सरकार ने रिवाज-रस्मों का निश्चय करना शुरू किया, फिर वह झगड़ों का तसफीया करने लगी, फिर वह क़ायदा बनाने लगी, और अन्त में अपराधों के लिए सज़ा देने का और अपराधियों को पकड़ने का काम उसने अपने हाथ में लिया। हिन्दुस्तान में प्राचीन से प्राचीन काल में भी ऐसा देख पड़ता है कि न्याय का काम सरकार का कर्तव्य माना जाता था। राजा के इस कर्तव्य पर स्मृतिकारों ने बड़ा ज़ोर दिया है। और बहुधा न्याय-विभाग एक स्वतन्त्र विभाग रहता था। तथापि यह बात सत्य है कि शासन-विभाग से उनका बिलकुल ही वियोग नहीं हो गया था, अमल और न्याय बिलकुल ही भिन्न नहीं होगये थे। इसके उलटा, योरप में ये सब कार्य बिलकुल एक ही प्रकार के पुरुषों के हाथ में थे। प्रारम्भ में क़ायदे बनाने का, उनके अनुसार निर्णय करने का, और इन निर्णयों को अमल में लाने का काम उन्हीं पुरुषों के अधीन था। वास्तव में तो पहले क़ायदा केवल रूढ़ियाँ ही था। नये क़ायदे बहुत कम बनते थे। जब वहाँ न्याय-कार्य राज्य-शासन का काम हो चला, तब इन्हीं रूढ़ियों के अनुसार निर्णय किया

करते थे और उनका अमल भी तुरन्त हो जाया करता था। ज्यों ज्यों राज्य-शासन का काम बढ़ने लगा और बहुविध हो चला, व्यक्तिगत अधिकार बढ़ने लगे, त्यों त्यों न्याय के कामों के लिए अलग कर्मचारी नियुक्त होने लगे, और त्यों त्यों न्याय-विभाग दूसरे न्याय-विभागों से स्वतन्त्र हो चला। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह विकास बहुत धीरे धीरे ही हुआ। योरपीय देशों में शासन-विभाग और व्यवस्थापक-विभाग पहले अलग हुए, उसके बाद न्याय-विभाग अलग हुआ। इस कारण, वहाँ के शासन-विभाग और व्यवस्थापक-विभाग के हाथ में आज तक न्याय का थोड़ा-बहुत काम बना ही है। क्षमा का अधिकार बहुधा शासन-विभाग के श्रेष्ठ अधिकारी के हाथ में रहता है, और व्यवस्थापक-विभाग भी मन्त्रियों या कुछ विशिष्ट लोगों पर दोषारोपण कर सज़ा दे सकता है।

आज-कल न्याय-विभाग का सङ्गठन बड़ा पेचीदा है। बहुधा दीवानी और फ़ौजदारी का काम अलग अलग रहता है और दोनों तरह की क्रमबद्ध अदालतें बनी रहती हैं। ग्रामपञ्चायत से लगा कर अन्तिम न्यायालय तक अनेक अदालतें होती हैं, उनके अधिकार और कार्य भी थोड़े-बहुत अंश में भिन्न हुआ करते हैं। बड़ी अदालतों में बहुधा बड़े मुक़द्दमे और अपीलें हुआ करती हैं। अदालतें भी भिन्न भिन्न प्रकार की हुआ करती हैं, फ़ौजी अदालतें, धार्मिक अदालतें, जहाज़ों के कर्मचारियों के लिए अदालतें, राजदूतों की अदालतें, इस प्रकार आवश्यकता के अनुसार उनके कई वर्ग हो सकते हैं। कुछ देशों में तो सरकारी कर्मचारियों के सरकारी कर्मचारी की हैसियत में किये अपराधों के लिए अलग अदालतें होती हैं। छोटी अदालतों का कार्य-क्षेत्र भी छोटा हुआ करता है, बड़ी अदालतों का बड़ा। संयुक्तराज्य-प्रणाली* में एक और पेंचीदा बात होती है। वहाँ उपराज्यों की

* इसके लिए संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध नामक परिच्छेद देखिए।

अदालतें अलग और मुख्य, संयुक्त-राज्य की अदालतें अलग। इस प्रकार, आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार की अदालतें पाई जाती हैं।

न्याय-कार्य की पद्धति भी बड़ी पेचीदा हो गई है। पहले तड़ाक-फड़ाक काम हो जाया करता था। न्याय के लिए बहुत ख़र्च, बहुत श्रम, और बहुत काल की आवश्यकता नहीं रहती थी। पर अब सब बातें बदल गई हैं। अब बहुधा एक सा क़ायदा सबको लागू होता है, निर्णय की पद्धति भी बहुधा निश्चित है, और अपराधी या वादी-प्रतिवादी को अपनी बातें सबूत करने के लिए यथेष्ट समय दिया जाता है। इस कारण काल, श्रम और ख़र्च सब ही बहुत अधिक लगते हैं। और कई बार अपराधी सज़ा से बच जाता है, और किसी के साथ अन्याय भी हो जाता है। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि तड़ाक-फड़ाक न्याय के समय अन्याय कुछ कम न होता था। हाँ, समय, ख़र्च और श्रम की उस समय अवश्य बचत होती थी।

प्राचीन काल में सबके लिए एक ही क़ायदा नहीं रहता था, और न वही क़ायदा छोटे-बड़े सबको सम समान लागू होता था। हिन्दुस्तान में उसी बात के लिए ब्राह्मणों के लिए एक नियम, तो क्षत्रियों के लिए दूसरा, वैश्यों के लिए तीसरा और शूद्रों के लिए चौथा नियम रहता था। योरप के भिन्न भिन्न देशों में ग़ुलामी की प्रथा थी और इन ग़ुलामों को कोई अधिकार न रहते थे—वे तो मामूली वस्तुओं की नाईं बेंचे बदले जा सकते थे। स्त्रियाँ पूर्ण तरह अपने पति की और लड़के-बच्चे अपने पिता की मर्ज़ी पर अवलम्बित रहते थे। उन्हें कोई निजी अधिकार न थे। हिन्दुस्तान में यह स्थिति न थी। यहाँ स्त्रियों को और लड़कों-बच्चों को बहुत से निजी अधिकार थे। धीरे धीरे योरप में, और अब हिन्दुस्तान में भी, इस कल्पना का विकास हुआ कि सब लोग क़ायदे के सामने बराबर हैं, उसके सामने न कोई ऊँचा है न कोई नीचा; न कोई बड़ा है न कोई छोटा। परन्तु प्राचीन

कल्पनाओं का अवशेष अब भी बना हुआ है। किसी ख़ास तरह के लोगों को क़ायदा लागू करते देरी हो जाती है, उनकी स्थिति को देखकर न्यायाधीश रहम कर देता है या वे अन्य तरह से बच जाते हैं या कम सज़ा पाते हैं। कभी कभी ग़रीबों के लिए एक तो धनियों के लिए दूसरा क़ायदा भी पाया जाता है। तथापि दिनोंदिन ये बातें कम हो रही हैं।

योरप में पहले-पहल न्याय की पद्धति भी बड़ी विचित्र रहती थी। वहाँ तो सब जगह दिव्य की प्रथा प्रचलित थी ही, पर थोड़े बहुत प्रमाण में हिन्दुस्तान में भी थी। अब भी कहीं कहीं चावल वग़ैरह खिलाने की रीति यहाँ पर प्रचलित है। योरप में पानी और अग्नि का इसके लिए बहुत अधिक उपयोग होता था। गरम पानी में हाथ डलवाना, या लाल गर्म लोहे पर पैर रखवाना और फिर देखना कि दो तीन दिन में अभियुक्त को आराम हुआ या नहीं। आराम हो गया तो वह निरपराधी समझा जाता था। आराम न हुआ तो उसे जुर्माना वग़ैरह के रूप में सज़ा मिलती थी। कभी कभी अभियुक्त को सौगन्ध लेकर सच बातें कहनी पड़ती थीं, और वह सत्य और नेकचाल है, इस बात की दूसरों को सौगन्ध लेनी पड़ती थी। इस प्रथा को काम्पर्गेशन (दोष से दूर करना) और उन पुरुषों को काम्पर्गेटर (अपराध से दूर करनेवाले) कहते थे। कभी कभी बदला ले लेते या द्वन्द्वयुद्ध हो जाता, और जिसकी जीत होती, उसकी न्याय में विजय हो जाती थी। अब बदले की कल्पना क़रीब क़रीब दूर हो चुकी है, न अब सब समय अपराध होने तक सरकार चुपचाप बैठी रहती है। जहाँ मालूम हुआ कि लोग कहीं गुनाह करनेवाले हैं, तो सरकार अपने अफ़सरों को भेजकर या अन्य किसी तरह से उस अपराध को होने से रोकती है, समाज को बचाती है और गुनाहगार को सुधारने का प्रयत्न करती है। परन्तु अब भी प्राचीन दण्ड-पद्धति के अवशेष बने हुए हैं। मृत्यु की सज़ा में बदले का भाग अवश्य

रखा है। गुनाह के अनुसार कम अधिक जुर्माना होता है। क़ैद से गुनाह तो रोका जाता ही है, परन्तु सज़ा भी होती है। परन्तु अब इन सब बातों में सुधार होता जा रहा है।

अब न्याय का काम बहुत महत्त्व का होगया है। भिन्न भिन्न मुक़दमों में कौन सा क़ायदा लागू होता है, इस बात का निर्णय करना न्यायविभाग का काम है। इसलिए न्यायाधीश को क़ायदे का परिपूर्ण ज्ञान होना अत्यावश्यक है। सारांश, न्यायाधीश को अपने विषय का विशेष ज्ञान होना चाहिए। क़ायदा उचित हो या अनुचित, अन्याय-पूर्ण हो या न्याय्य हो, न्यायाधीश का काम है कि क़ायदा जैसा कुछ हो, उसी प्रकार निर्णय करे। क़ायदा ऐसा चाहिए था या ऐसा न होना चाहिए, इस बात से उसे कुछ भी वास्ता नहीं। अन्यायपूर्ण क़ायदे के अनुसार निर्णय करके यदि किसी व्यक्ति-विशेष के साथ अन्याय किया तो एक बार चल जावेगा। परन्तु क़ायदा अन्यायपूर्ण है इसलिए उसके अनुसार निर्णय करने को यदि वह नाहीं करे, तो क़ायदे का सब ज़ोर ही जाता रहेगा। फिर कोई भी मनुष्य कोई भी क़ायदा न मानेगा। 'अन्यायपूर्ण' कहकर कोई भी किसी भी क़ायदे का उल्लङ्घन कर सकेगा।

परन्तु वास्तव में न्यायकार्य करते समय न्यायाधीश क़ायदे के अनुसार केवल निर्णय ही नहीं करता। इससे उसे कुछ अधिक काम करना होता है। किसी भी देश के क़ायदे कभी भी इतने परिपूर्ण नहीं हो सकते कि उनमें सब ही मामलों का स्पष्टतया समावेश हो जावे। क़ायदा कितना भी स्पष्ट रहा, तो भी थोड़ा बहुत वह अस्पष्ट रहता ही है। फिर शब्दों का सदा एक ही अर्थ नहीं होता। कुछ वाक्य या शब्द सन्दिग्ध होते ही हैं। समूचे क़ायदे को देखकर न्यायाधीश को निर्णय करना होता है कि इन शब्दों या वाक्यों का क्या अर्थ होना चाहिए। या कभी ऐसा भी होता है कि कोई कोई बातें क़ायदे में रखने से छूट जाती हैं क्योंकि मनुष्य की बुद्धि आख़िर को

परिमित ही है। सब काल और अवस्था की सब ही बातें मनुष्य नहीं सोच सकता। परन्तु क़ायदा 'चुपचाप' है, इसलिए न्यायाधीश चुपचाप नहीं रह सकता—उसे तो निर्णय करना ही पड़ता है। क़ायदे का उद्देश्य, उसके भीतर की बातें नीति और रूढ़ि को देख कर क़ायदे के शब्दों की खींच-तान कर वह निर्णय करता ही है और ऐसी अवस्था में क़रीब क़रीब नया क़ायदा बन जाता है। इसे न्यायाधीशकृत क़ायदा कहते हैं। इँग्लेंड, अमरीका जैसे देशों में इस तत्त्व का बहुत उपयोग होता है। व्यवस्थापक-सभा के बनाये क़ायदे का जितना महत्त्व है, उतना ही क़रीब क़रीब न्यायाधीश के निर्णय से बने क़ायदे का भी महत्त्व है। इँग्लेंड के अनुकरण से हिन्दुस्तान में भी बहुत कुछ यही अवस्था है। हाँ, यह सब जानते हैं कि व्यवस्थापक-सभा के बनाये क़ायदे की पूरी पूरी बराबरी न्यायाधीशकृत क़ायदा नहीं कर सकता। तथापि अदालत और लोगों में बहुधा यही समझ रहती है कि इन निर्णयों का भी यथेष्ट महत्त्व है। यदि फिर से वही स्थिति प्राप्त हुई तो उसी नियम का उपयोग किया जावेगा और तदनुसार निर्णय होगा। ऐसे नियमों की संख्या कुछ कम नहीं होती। किसी भी क़ानूनदाँ के यहाँ ऐसे निर्णयों के संग्रह की पुस्तकों को देखने से उनकी महती संख्या का पता लग जावेगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि न्यायाधीश यथासम्भव बिलकुल पक्षपात न करे। अपने निर्णयों के कारण उन्हें कुछ भी नुक़सान न उठाना पड़े। इतना ही नहीं किन्तु राजकीय झगड़ों से वे सदा दूर रहें, उनका इनसे कुछ भी वास्ता न रहे। इसलिए अच्छे राज्य-सङ्गठन में यह अवश्य निश्चित रहता है कि न्याय-विभाग के कर्मचारियों को यथेष्ट वेतन मिले, उसमें उनके निर्णयों के कारण कुछ भी घटती-बढ़ती न हो, वे जब तक नेकचाल रहें तब तक उन्हें कोई दूसरा उनके पद से दूर न कर सके, और दूसरे विभागों के बुरे भले से किसी प्रकार उनका वास्ता न रहे। ऐसी अवस्था अमरीका के संयुक्त-राज्य,

इँग्लैंड, फ़्रान्स इत्यादि अनेक देशों में है। नेकचाल रहते तक वे अपने पद से दूर नहीं किये जा सकते। परन्तु यह व्यवस्था सब ही जगह नहीं है। अमरीका के उपराज्यों में लोकसत्ता का कुछ विचित्र ख़याल पैदा होगया है। इनमें से कई संस्थानों में न्यायाधीश लोगों द्वारा कुछ काल के लिए चुने जाते हैं। यह बहुत हानिकारक प्रथा है। यदि न्यायाधीश चुने गये तो चुननेवालों की इच्छा के अनुसार उनके निर्णय भी हुआ करेंगे। पक्षपात का और क़ायदे की खींचातानी का कुछ ठीकठिकाना न रह जावेगा और उनके निर्णय बिलकुल ऊटपटाङ्ग हुआ करेंगे। उनके मत, उनकी चाल-चलन इत्यादि का कुछ भी पता न रहेगा।

३. अब संक्षेप में यह देखना चाहिए कि न्याय-विभाग का दूसरे विभागों से क्या सम्बन्ध है। पहले कई बार बतला चुके हैं कि व्यवस्थापक-विभाग के क़ानून से ही क़ानून बनाने का सब काम पूरा नहीं होता। न्याय-विभाग भी अर्थ-निर्णय करते करते बहुत सा नया क़ानून बना डालता है। न्याय-विभाग का ख़र्च वग़ैरः व्यवस्थापक-विभाग की सम्मति से ही मिलता है। इस दृष्टि से पहला दूसरे पर अवलम्बित है। अमरीका को यदि छोड़ दें, तो बहुधा शेष देशों में न्याय-विभाग का निर्माण और उसकी तमाम रचना व्यवस्थापक-विभाग के द्वारा ही होती है। और उसमें चाहे जो परिवर्तन भी व्यवस्थापक-विभाग के द्वारा किये जा सकते हैं, यहां तक कि उसका नामोनिशान भी वह उड़ा दे सकता है। अमरीका के संयुक्त-राज्य में संयुक्त-सरकार के न्याय-विभाग का वेतन और कार्य-काल राज्य-सङ्गठन से ही निश्चित हुए हैं। तथापि यहां भी उसका बहुत सा सङ्गठन कांग्रेस (वहां की व्यवस्थापक-सभा) ने ही किया है। और उसे अधिकार है कि प्रत्येक न्यायाधीश का नियति-काल समाप्त होने पर वह पद नष्ट कर दे और इस प्रकार न्याय-विभाग को धीरे धीरे नष्ट कर डाले। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक न्यायाधीश को दोषारोपण (impeahment)

की रीति से नियति-काल के पहले ही कांग्रेस दूर कर सकती है। फिर वह पद नष्ट कर दिया जाय तो बहुत शीघ्र न्याय-विभाग का नाश हो सकता है।

बहुत से देशों में व्यवस्थापक-विभाग के द्वितीय भवन के हाथ में न्याय का थोड़ा-बहुत काम अब तक बना हुआ है। यह अधिकार केवल ऐतिहासिक अवशेष है। परन्तु उनके पास न्याय मांगने कौन लोग जा सकते हैं, कौन से विषय पर उनका दख़ल है, किस तरह की सज़ा वे दे सकते हैं, इत्यादि बातें प्रत्येक देश में अलग अलग हैं, उनमें समानता बहुत कम है। इँग्लेंड में पार्लिमेंट की प्रधान सभा (हाऊस आव् लार्ड्स) अपील की अन्तिम अदालत है। व्यवहार में ऐसा होता है कि वहां का लार्ड चान्सलर [जो शायद प्रधान यानी सरदार (लार्ड) न भी हो,] और अपील के चार क़ानून पंडित लार्ड ही यह सब काम किया करते हैं। पहले कामन्स सभा लार्ड्स सभा के सामने किसी पर दोष सिद्ध करके सज़ा दिलवा सकती थी। इतिहास में इसका अच्छा उपयोग हुआ-सा देख पड़ता है। वह अधिकार अब भी बना ही है। तथापि उसका उपयोग बहुत काल से नहीं हुआ है और शायद न भी हो, क्योंकि मन्त्रिमंडल कामन्स सभा को यानी लोगों को पूरी तरह जवाबदार है। पहले ही बतला चुके हैं कि अधिकार-विभाजन-तत्त्व के **अमरीका के संयुक्त-राज्य** के सङ्गठन पर बहुत परिणाम हुए। इसी तत्त्व के कारण यह भी परिणाम हुआ कि वहाँ की सिनेट-सभा के न्याय-सम्बन्धी अधिकार बहुत परिमित कर दिये गये। वह सभा केवल कुछ अपराधों का निर्णय कर सकती है और भारी से भारी सज़ा यही दे सकती है कि सरकारी नौकर बरख़ास्त कर दिया जाय और फिर से सरकारी नौकरी न कर सके। फ़्रान्स की सिनेट को दोषारोपण के भारी अधिकार हैं। केवल सरकारी नौकर ही नहीं, किन्तु राज्य की दृष्टि से किसी भी भयङ्कर पुरुष पर वह मामला चला सकती है और चाहे जो सज़ा दे सकती है। परन्तु इन भारी

अधिकारों का उपयोग बहुत होता है। वहाँ के प्रेसिडेन्ट और मन्त्री लोक-नियुक्त सभा यानी चैम्बर आव् डेप्युटीज़ को जवाबदार हैं। और दूसरे गुनाहगारों पर अदालतों में अभियोग चलाया जा सकता है।

इन सबसे अमरीका के न्याय-विभाग का महत्त्व एक दृष्टि से बहुत अधिक है। हम पहले एक बार यह बतला चुके हैं कि अमरीका में उपराज्य और संयुक्त-सरकार दोनों के अधिकार परिमित हैं। इसलिए यह आवश्यकता पैदा होती है कि कोई ऐसी शक्ति रहे जो इस बात की देख-रेख करे कि दोनों सरकारें अपनी अपनी सीमा के भीतर कार्य करती हैं या नहीं। इस बात की आवश्यकता तो है ही कि वे एक दूसरे के अधिकारों में हस्तक्षेप न करें, परन्तु इस बात की भी आवश्यकता है कि वे मनमाने अधिकार न हस्तगत कर लें। यह काम वहां का संयुक्त-न्याय-विभाग करता है। कांग्रेस या उपराज्यों की व्यवस्थापक-सभा के बनाये क़ायदों में यदि अधिकारातिक्रमण हुआ तो वे क़ायदे न्याय-विभाग लागू नहीं करता और इस कारण उन क़ायदों के बनने से सरकार को कोई लाभ नहीं। अदालत केवल इतना ही कह देती है कि अमुक क़ानून बाक़ायदा क़ानून नहीं है। परन्तु इतना कह देने से ही उस क़ायदे का सब ज़ोर जाता रहता है और वह क़ानून न रहे के बराबर ही होता है। कनाडा, आस्ट्रेलिया इत्यादि देशों में न्याय-विभाग को ऐसे ही अधिकार हैं। वास्तव में देखा जाय तो जहाँ कहीं राज्य-सङ्गठन किसी दूसरी सर्वोच्च सत्ता के द्वारा हुआ होता है, वहां न्याय-विभाग को ऐसे अधिकार देने की आवश्यकता होती है। केवल सर्वोच्च व्यवस्थापक-विभाग के अधिकारों में न्याय-विभाग किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं कर सकता। परन्तु इसके कुछ अपवाद भी हैं। स्विट्ज़रलैंड की फीडरल असेम्बली के बनाये क़ायदों के विषय में कोई कुछ भी प्रश्न नहीं उठा सकता। वह चाहे जो क़ायदे बनावे, अदालत का काम होगा कि उन क़ायदों के अनुसार चुपचाप न्याय करे। अमरीका के बारे में यह स्मरण रखना चाहिए कि वहाँ का न्याय-विभाग किसी

क़ानून को तब ही बे-क़ायदा कहेगा कि जब उसके सामने कोई उस सम्बन्ध का मामला पेश हो। कोई आश्चर्य नहीं कि जो न्याय-विभाग लोगों के अधिकारों की ऐसी रक्षा करता है, उसके प्रति लोगों के दिलों में ख़ूब सम्मान बना रहे। और इस कारण शासन-विभाग और क़ानून-विभाग को उससे दबना ही पड़े।

४. शासन-विभाग से न्याय-विभाग का बड़ा घनिष्ठ है। इसका विवेचन, अधिकार-विभाजन-तत्त्व, संयुक्त-शासन-प्रणाली और उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध नामक परिच्छेदों में भरपूर आ चुका है। इसलिए यहाँ उसके स्वतन्त्र विवेचन की आवश्यकता नहीं।

अठारहवाँ परिच्छेद

उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध

१. अधिकार-विभाजन की मीमांसा करते समय, 'उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध' का उल्लेख करना पड़ा था। इस परिच्छेद में हम इसी का विवेचन करेंगे।

"**उत्तरदायी राज्यप्रबन्ध**" के अर्थ में दो मुख्य तत्त्व सम्मिलित हैं। एक तो यह राज्य-प्रबन्ध प्रातिनिधिक हो—उसका नियन्त्रण लोगों के प्रतिनिधियों के द्वारा हो और दूसरा जो क़ायदा-क़ानून हो वह छोटे बड़े सबको समान रीति से लागू हो। इन दोनों तत्त्वों का उदाहरण-सहित स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

जहाँ का राज्यशासन लोगों के प्रतिनिधियों के द्वारा होता है वहाँ निम्न-लिखित चार बातें दृग्गोचर होती हैं:—

(१) क़ानून बनाने में उन प्रतिनिधियों की सम्मति ली जाती है।

(२) उनकी सम्मति के बिना कर के रूप में एक पाई भी न वसूल की जाती और न ख़र्च ही की जाती है।

(३) राज्यप्रबन्ध के मन्त्री उन्हीं प्रतिनिधियों में से चुने जाते हैं, और (४) वे प्रतिनिधि समय समय पर सरकार के कार्यों की आलोचना करते हैं।

अब हम इन्हीं बातों पर क्रमशः विचार करेंगे।

२. (१) क़ायदा-क़ानून सदैव बहुमत से बनता है। कह ही चुके हैं कि किसी देश का सर्वोच्च शासक दो प्रकार का हो सकता है—(अ) आनुवंशिक अधिकारों के द्वारा राजगद्दी पानेवाला राजा, और

(आ) प्रति चार छः वर्ष में निर्वाचित होनेवाला प्रेसिडेंट । परन्तु यह बात अधिक महत्त्व की नहीं है । महत्त्व इस बात का है कि वह राजा अथवा प्रेसिडेंट अपने इच्छानुसार मनमाना क़ायदा न बना सके । सर्वोच्च शासक का नाम और पद कुछ भी हो, पर लोगों के प्रतिनिधियों की सम्मति के बिना वह कोई भी क़ायदा न बना सके । आजकल सभ्य कहलानेवाले सभी देशों में यही नियम पाया जाता है । सर्वोच्च शासक चाहे राजा हो या प्रेसिडेंट; परन्तु इस नियम में कोई अन्तर नहीं होता । जहां के सर्वोच्च शासक को अपने इच्छानुसार क़ायदा बनाने का अधिकार रहता है वहाँ सच्चा प्रातिनिधिक राज्यप्रबन्ध नहीं हो सकता । इसके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जो सभा क़ायदा बना सकती है उसके सब सदस्य लोक-निर्वाचित हों—सरकार के नियुक्त किये एक भी न हों । जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि सच्चा प्रातिनिधिक राज्यतन्त्र स्थापित नहीं हुआ है । सारांश यह है कि ये दोनों नियम अवश्य पाले जावें । किसी विशेष परिस्थिति में कभी कभी इनमें से पहले नियम को कुछ कार्यों के लिए कुछ समय तक उठा देते हैं । इसका अर्थ यही है कि उस अवधि के लिए प्रातिनिधिक राज्यतन्त्र उठा दिया गया; पर सर्वसाधारण के हित की दृष्टि से यह बड़े धोखे की बात है । इस तरह सरकार जो अधिकार प्राप्त कर लेती हैं उनके दुरुपयोग होने की आशङ्का रहती है । इसलिए इस नियम का सदैव पाला जाना ही विशेष आवश्यक है ।

३. (२) दूसरी बड़े महत्त्व की बात यह है कि राज्य के ख़ज़ाने पर लोक-प्रतिनिधि-सभा का पूरा अधिकार रहे । न तो उसकी सम्मति के बिना किसी तरह का कर वसूल किया जावे, और न एक पाई ख़र्च की जावे । इसके लिए इतिहास की ओर दृष्टि डालने से यही ठीक जँचता है कि कर लगाने तथा व्यय करने की स्वीकृति क़ानून बनानेवाली सभा एक वर्ष के लिए दे । फल यह होगा कि

उस देश की सरकार को इन दो कार्यों के लिए दूसरे साल उस सभा की स्वीकृति अवश्य लेनी होगी, अर्थात् सभा भरवानी ही होगी। उस समय सरकार के कार्यों की समालोचना हुए बिना न रहेगी। उस सरकार ने जैसा कार्य किया हो, वह जैसा कार्य करने का वचन देती हो और द्रव्य का जैसा उपयोग किया हो उसे देख समझ कर लोक-प्रतिनिधि दूसरे साल के लिए द्रव्य का प्रबन्ध करेंगे। वास्तव में, इँग्लेंड के इतिहास से देख पड़ता है कि इस पद्धति से सरकार प्रतिनिधियों से दबी रहेगी—वह उनके समक्ष अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी रहेगी। सरकार को दबाये रखने का यह बड़ा भारी साधन है। जिस देश के लोक-प्रतिनिधियों के हाथ में यह साधन नहीं, वहां प्रातिनिधिक राज्यप्रबन्ध का अस्तित्व नहीं पाया जा सकता—वहाँ का राज्यप्रबन्ध उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं है।

४. (३) प्रातिनिधिक राज्यप्रबन्ध में यह भी एक आवश्यक बात है कि वहाँ के मन्त्री उन्हीं प्रतिनिधियों में से चुने हुए हों। मन्त्रीगण क़ानून बनानेवाली सभा के सदस्यों में से ही चुने जावें और इस बात का हो सकना सहज में सम्भव है। क़ानून बनानेवाली सभा उन्हीं मन्त्रियों की सहायक होगी जो उसके कहने के अनुसार कार्य करेंगे। यदि वे उस सभा के सदस्यों में से हो सकें, तो स्पष्टतया वे ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें उस सभा का बहुमत सहायक होगा, अर्थात् वे उस सभा के बहुत से प्रतिनिधियों के विश्वास-पात्र होंगे। जब कभी बहुमत उनकी ओर न होगा, तब उन्हें अपना पदत्याग करना पड़ेगा। इस तरह मन्त्रियों पर लोक-प्रतिनिधियों का दबाव बना रहेगा। सारांश यह है कि वे उत्तर-दायी बने रहेंगे—स्वेच्छाचारी न हो सकेंगे।

अमेरिका आदि देशों में यह नियम नहीं है। वहाँ लोक-प्रतिनिधि-सभा के सदस्य मन्त्री नहीं हो सकते। इस समय वहाँ के मन्त्रियों को उत्तरदायी बनाने की योजना अनेक दूसरे मार्गों का

अवलम्बन करके की गई है; परन्तु इनसे विशेष लाभ नहीं होता। प्रत्यक्ष बातचीत में और चिट्ठी-पत्री लिखकर पूछपाछ करने में जो भेद दिखाई पड़ता है ठीक वही इन दो तरह की योजनाओं में है। वास्तव में मन्त्री लोक-प्रतिनिधि-सभा के समक्ष बहुत कम उत्तरदाता हैं और उन पर नियन्त्रण रखने का मार्ग भी बहुत टेढ़ा है। निरर्थक कार्य करने के लिए उन पर एक तरह का मुक़दमा चल सकता है; परन्तु प्रत्येक छोटे कार्य के लिए न वे जवाबदार हैं और न बनाये ही जा सकते हैं। इसलिए अनुभव से यही उचित मालूम होता है कि मन्त्रियों पर जवाबदेही रहे। यह तभी सम्भव हो सकेगा जब प्रतिनिधि-सभा के सदस्य मन्त्री बनाये जावें अथवा कम से कम उन्हें मन्त्री बन सकने का अधिकार रहे। यदि किसी राज्यप्रबन्ध में उपर्युक्त तत्त्वों का समावेश रहेगा और व्यवस्थापक-सभा के सदस्य मन्त्री बनाये जा सकेंगे तो उन्हें अपने उत्तरदायित्व का भार अच्छी तरह से सँभालने की चिन्ता रहेगी और इस तरह उन पर उसका यथाशक्ति अच्छा दबाव पड़ा करेगा।

५. (४) व्यवस्थापक-सभा को टीका-टिप्पणी करने का अधिकार ऊपर लिखे तत्त्वों के साथ आप ही प्राप्त हो जाता है। इसके अलग लिखने का कारण केवल इतना ही है कि किसी किसी शासन-प्रणाली में यह अधिकार बहुत परिमित कर दिया गया है और कहीं कहीं वह सरकार की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। इस अधिकार के अभाव में उपर्युक्त सिद्धान्तों के जारी रहने पर भी मन्त्रियों के निरन्तर पदत्याग की सीमा न रहेगी और फलतः मन्त्री कोई निश्चित कार्य न कर सकेंगे। मन्त्रियों से ठीक उत्तर न मिलने पर निराश और असन्तुष्ट लोक-प्रतिनिधि अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने का प्रयत्न करेंगे अथवा लोक-प्रतिनिधियों के डर से मन्त्री किसी निश्चित कार्य-दिशा का अवलम्बन न कर "जैसी चले बयार पीठ पुनि तैसी" किया करेंगे; और टीका-टिप्पणी के अभाव में एक दूसरे का मत जानना कठिन हो

जावेगा। इस तत्त्व के स्वतन्त्र विवेचन करने की आवश्यकता केवल इसी लिए थी—अन्यथा, ऊपर की तीन बातें ही प्रातिनिधिक व्यवस्थापक-सभा के मुख्य तत्त्व समझी जाती हैं।

६. इस तरह जनता को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल सकती है और सरकार राजनैतिक दृष्टि से उत्तरदायी बनाई जा सकती है। फिर इस बात से कुछ भी भेद न होगा कि सर्वोच्च अधिकारी आनुवंशिक राजा है अथवा सर्वसाधारण के द्वारा कुछ काल के लिए निर्वाचित किया हुआ कोई अन्य व्यक्ति है। इँग्लैंड, फ्रांस अथवा अमेरिका की ओर देखने से यह स्पष्ट हो जावेगा। इँग्लैंड में सर्वोच्च अधिकारी राजा है। उसके बड़े बड़े अधिकार हैं। तो भी वहाँ का राज्यशासन जितना उत्तरदायी है, उतना फ्रांस अथवा अमेरिका के प्रेसिडेंटवाले राज्यशासन नहीं हैं। यदि किसी की यह धारणा हो कि राजा के रहने से अत्याचार होने का डर रहता है, तो यही कहना पड़ेगा कि उसे संसार की राज्यपद्धतियों के गुण-दोषों का ज्ञान नहीं है। राजा हो अवश्य, परन्तु साथ ही यदि उस पर दबाव डालनेवाला उक्त सिद्धान्तों से पूर्ण राज्यप्रबन्ध भी हो, तो वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकेगा। अस्तु; स्मरण रहे कि सच्चे उत्तरदायी राज्य-प्रबन्ध का अन्त यहीं नहीं हो जाता—इसके लिए कुछ अधिक बातों की आवश्यकता है।

७. अभी तक यही बतलाया गया है कि लोगों को राजकीय स्वतन्त्रता देने से सरकार शासन-दृष्टि से जवाबदार बनाई जा सकती है। इतना होने पर भी यह सम्भव है कि किसी देश के राज्य-प्रबन्ध में विशेष सुख, विशेष आराम और विशेष व्यक्तिगत स्वतन्त्रता न हो। यह दिखला चुके हैं कि राजकीय स्वतन्त्रता अलग बात है, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अलग। दोनों में स्वाभाविक मेल होना सभी परिस्थितियों में आवश्यक नहीं है। लोक-प्रतिनिधियों के बनाये

हुए कायदों से ही किसी देश में अत्याचार किया जा सकता है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो सकती है।

इस अत्याचार से बचने के लिए बड़ी आवश्यक बात यह है कि क़ानून की दृष्टि में ग़रीब और अमीर, भिखारी और राजकर्मचारी, उच्च और नीच, सभी मनुष्य बराबर समझे जावें। क़ायदे की दृष्टि से उनमें कोई भेद-भाव न किया जावे। एक कार्य में एक मनुष्य के लिए जो क़ायदा लागू हो वही क़ायदा उस कार्य के लिए, निष्पक्षता के साथ, सबको लागू हो। क़ायदा ही सर्वोच्च शासक रहे, क़ायदे के परे कोई न हो। इसकी सिद्धि के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है :—

(१) मामूली अदालतों में मामूली रीति से जब तक किसी पर कोई अपराध पूर्णतया प्रमाणित न हो, तब तक उसे किसी प्रकार का शारीरिक अथवा आर्थिक दंड न दिया जावे।

(२) कोई भी मनुष्य क़ायदे के परे कभी न हो। इतना ही नहीं, बल्कि अपने अधिकारों का अतिक्रमण करने पर वह मामूली अदालतों में, मामूली क़ायदों के अनुसार, जवाबदार बनाया जा सके। यह बड़े महत्त्व की बात है।

(३) मामूली अदालतें व्यक्तिगत अधिकारों की पूरी पूरी रक्षा करें। इसके लिए राज्य-सङ्गठन में योजना करने की आवश्यकता न रहे।

व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, अर्थात् क़ायदों की सर्वोच्चता के इन तीन तत्त्वों का कुछ विशेष विवेचन आवश्यक है।

८. उपरोक्त पहली बात में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार स्पष्ट रीति से सम्मिलित है; क्योंकि जब तक कोई अपराध पूर्णतया प्रमाणित नहीं होता, तब तक कोई दण्डनीय भी नहीं हो सकता। दण्डपात्र होने के लिए क़ायदे का उल्लंघन किया जाना प्रमाणित होना चाहिए और वह भी उस देश की मामूली अदालतों में और मामूली रीति से। केवल सन्देहवश कोई दण्डनीय न समझा जावे, कोई ख़ास अदालतें

स्थापित न की जावें और न अपराध प्रमाणित करने के लिए किसी विशेष रीति का अवलम्बन किया जावे। अनेक देशों में केवल सन्देह के कारण ही मनुष्य दंडनीय बना दिया जाता है—शङ्का के कारण किसी की भी स्वतन्त्रता हरण की जाती है। शासकों के हाथों में ऐसा अधिकार रखने से उसका दुरुपयोग अनेक बार हुआ करता है।

६. फिर शासकों अथवा सरकारी कर्मचारियों के लिए एक क़ायदा और प्रजावर्ग के लिए दूसरा क़ायदा बना कर दुरङ्गी दुनिया का दूषित दृश्य कभी न दिखलाना चाहिए। राज्य-विज्ञान के सम्बन्ध में अँगरेज़ी में यह एक महत्त्वपूर्ण कहावत है कि जहाँ क़ायदा नहीं है वहाँ स्वतन्त्रता भी नहीं है। इस कहावत का यथार्थ में यही अर्थ है जिसे हम अभी बतला रहे हैं। भिन्न भिन्न लोगों के लिए एकही अपराध के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न क़ायदे रहना क़ायदे न रहने के बराबर ही है। जहाँ कायदा-क़ानून नहीं है, यानी जहाँ सबके लिए एक ही क़ायदा लागू नहीं होता वहाँ सरकारी कर्मचारी मनमाना अत्याचार कर सकते हैं। इँग्लेंड और फ्रांस की राज्य-प्रणाली में यही भेद है। इँग्लेंड में मन्त्री से लगा कर वस्त्रहीन भिखारी तक सब पर क़ायदे-क़ानून की समदृष्टि पाई जाती है और सब एक ही अदालत में दण्डनीय होते हैं। अपराध सिद्ध करने के लिए वहाँ किसी भिन्न रीति का अवलम्बन भी नहीं किया जाता। परन्तु फ्रांस में ये बातें नहीं हैं। वहाँ सरकारी कर्मचारियों के लिए भिन्न भिन्न अदालतें और भिन्न भिन्न क़ायदे हैं। मान लीजिए कि इँग्लेंड के किसी सरकारी कर्मचारी ने आपका मार्ग रोक दिया और उससे आपको हानि उठानी पड़ी। इस दशा में आप मामूली अदालत में उस पर क्षति-पूर्त्ति का दावा कर सकते हैं, और मामूली क़ायदों के अनुसार उसका फ़ैसला किया जावेगा। न तो किसी अज्ञात आकाश से न्यायाधीश लाने की आवश्यकता होगी और न किसी विदेश से पार्सल के द्वारा न्याय के नये नियम बुलवाने की ही। अब यदि यही घटना फ्रांस में हो जावे, तो आपको ख़ास अदालतों की

शरण लेनी होगी और खास क़ायदों के अनुसार उसका निपटारा होगा। वहाँ की शक्कर अमीरों के लिए मीठी और ग़रीबों के लिए कड़ुवी होती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की स्वतन्त्रता बहुत कम हो जाती है और सरकार के उत्तर-दायित्व-हीन हो जाने की अत्यन्त अधिक सम्भावना रहती है। उसके कर्मचारी न्याय को सार्वजनिक अधिकार की वस्तु न समझ कर शासकों की दया-जनित वस्तु समझने लगते हैं। मेटलेंड नामक एक इतिहासकार ने कहा है कि "वास्तव में इँग्लेंड के मन्त्री पार्लिमेंट के सम्मुख जवाबदार नहीं हैं। यह सभा किसी मन्त्री को किसी नियम के अनुसार पदच्युत नहीं कर सकती। परन्तु ये मन्त्री मामूली अदालतों में अपने कार्यों के लिए प्रतिक्षण जवाबदार हैं। फिर इस बात को कोई नहीं पूछता कि उनके पुराने कार्य कितने महत्त्व के और उत्तम थे। नये अनुचित कार्यों के लिए उन पर मुक़द्दमा चलाया जाता है और वह भी ऐसी मामूली अदालतों में जहाँ दूसरे साधारण मनुष्य अभियुक्त किये जाते हैं।" इँग्लेंड की सरकार की असली जवाबदारी यही है। अब पाठक समझ चुके होंगे कि राजा के सर्वोच्च शासक होने पर भी इँग्लेंड का राज्यप्रबन्ध जितना उत्तरदायी है उतना प्रेसिडेंटवाले फ्रांस देश का नहीं है—इँग्लेंड में राजा अपने कार्यों के लिए जवाबदार नहीं है, उनके लिए उसके मन्त्री जवाबदार हैं। इस कारण जब तक वे पद पर रहेंगे तब तक राजा को कोई ऐसा कार्य न करने देंगे जिससे उन पर अभियोग चलाया जा सके। जब उनसे यह न बन पड़ेगा तब वे अपने पद को छोड़ कर अलग हो जावेंगे। बार बार मन्त्री बदलना सरल और अच्छा कार्य नहीं है, अतएव राजा भी अपने मन्त्रियों की सलाह से चलेगा। इस प्रकार वे एक दूसरे से दबे रहते हैं और समस्त राज्य-प्रबन्ध अपने कार्यों के लिए जवाबदार बना रहता है।

तीसरी बात की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है और ऊपर की मीमांसा में इसका समावेश हो चुका है।

सारांश यह है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सरकार के उत्तर-दायित्व दोनों को स्थिर बनाये रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अपराध प्रमाणित हुए बिना किसी को किसी प्रकार का दंड न दिया जावे। दंड उसी अवस्था में दिया जावे जब मामूली अदालतों में, मामूली क़ायदों के अनुसार, मामूली रीति से प्रमाण मिल सके। प्रत्येक मनुष्य के लिए, किसी प्रकार का भेद न होते हुए, एक ही क़ायदा, एक ही अदालत, और एक ही न्याय-पद्धति हो। भेद करने से समानता के तत्त्व भ्रष्ट हो जाते हैं जिससे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सरकार का उत्तर-दायित्व दोनों एक ही साथ नष्ट हो जाते हैं।

१०. अब पाठक देख चुके होंगे कि लोगों को केवल राजकीय स्वतन्त्रता मिलने से किसी देश की सरकार पूर्णतया उत्तरदायी नहीं हो सकती। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि किसी देश में पूर्णतया प्रातिनिधिक राज्य-प्रबन्ध होने पर भी वहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम हो सकती है और सरकार पूर्ण उत्तरदायित्व के आवश्यक बन्धन से मुक्त रह सकती है। जिस देश में लोगों की स्वतन्त्रता केवल सन्देह के कारण छीनी जाती है अथवा जहाँ शङ्का के कारण, ख़ास अदालतों में, ख़ास क़ायदों के अनुसार, ख़ास ढङ्ग से अभियोग चला कर लोग दोषी ठहराये जाते हैं वहाँ सैकड़ों राजकीय अधिकारों के मिलने पर भी लोगों का सुख से रहना कदापि सम्भव नहीं है, और न वह सरकार "उत्तरदायी" कही जा सकती है।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध

१. जिस देश का विस्तार बहुत बड़ा नहीं है वहाँ के लोगों की आवश्यकतायें, रहन-सहन आदि सब बहुत कुछ समसमान होते हैं। इस कारण एक केन्द्र से ऐसे देश का शासन भली भाँति चल सकता है। पर पृथ्वी पर कुछ देश ऐसे भी हैं जिनका विस्तार बड़ा है। ऐसे देश में कुछ तो भौगोलिक विभाजन के कारण और कुछ भौगोलिक अन्तर के कारण लोगों की आवश्यकताओं में, रहन-सहन में, बहुत कुछ भिन्नता पाई जा सकती है। ऐसे देश का कार्य एक सत्ता के द्वारा अच्छी तरह नहीं चल सकता। क्योंकि भिन्न भिन्न विभाग की भिन्न भिन्न आवश्यकताओं और रहन-सहन पर यथेष्ट ध्यान देना उसके लिए सम्भव नहीं। परन्तु यह कठिनाई यहीं नहीं समाप्त होती। विस्तार के साथ जन-संख्या भी बढ़ जाती है। जन-संख्या की बड़ी संख्या के कारण भिन्न भिन्न विभागों के लिए कार्यों का ढेर का ढेर इकट्ठा हो सकता है। और इस कारण यह संभव नहीं कि वह विभाग अथवा उसका अधिकारी उन कार्यों को अच्छी तरह सम्पादित कर सके। इन दोनों कठिनाइयों को दूर करने के लिए आज-कल राज्य-शासन-प्रबन्ध की एक बहुत अच्छी रीति चल निकली है। यह है संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध। हम भारतवासियों को इस प्रकार के प्रबन्ध से लाभ होने की सम्भावना है। इसलिए हम इस प्रकार की शासन-पद्धति का इस परिच्छेद में विवेचन करेंगे।

२. इसके लिए हमें कोई प्रत्यक्ष उदाहरण लेना ठीक होगा। **अमेरिका का संयुक्त-राज्य*** इसका अच्छा उदाहरण है। वहाँ पहले एक सर्वोच्च सरकार है जिसका अधिकार सब ही बातों में नहीं चल सकता। उसके अधिकार परिमित हैं। फिर अनेक छोटे छोटे राज्य हैं जिन्हें भी कुछ स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त हैं। वे अधिकार सर्वोच्च सरकार के दिये हुए नहीं हैं—वे उन राज्यों के ही अधिकार हैं अर्थात् उन बातों में वे छोटे छोटे राज्य स्वतन्त्र हैं। सन् १७७६ ईसवी के पहले अमेरिका में इँग्लेंड की अधीनता में कई भिन्न राज्य थे। परन्तु इँग्लेंड की सरकार उनकी सम्मति के बिना ही उन पर कई तरह के कर लादना चाहती थी। फलतः उन भिन्न राज्यों ने एकता करके इँग्लेंड के विरुद्ध युद्ध किया और सन् १७८३ में वे स्वतन्त्र बन बैठे। उनकी एकता स्थिर ही न रही, बल्कि बढ़ती भी गई। उनका वह मेल एक दिन संयुक्त-राज्य के रूप में परिणत होगया। क़ानून बनाने के लिए वहाँ दो भवनोंवाली कांग्रेस नाम की एक लोक-निर्वाचित सभा है। शासन का काम प्रेसिडेंट करता है और उसके कई मन्त्री रहते हैं। एक सर्वोच्च न्याय-सभा भी है। कांग्रेस के अधिकार परिमित और विशिष्ट कर दिये गये हैं। उपराज्यों में जो सरकारें हैं उन्हें बाक़ी

---

* जो शब्द बड़े अक्षरों में छपे हैं वे **"अमेरिका का संयुक्त राज्य"** के वाचक हैं। जहाँ "संयुक्त राज्य" मामूली अक्षरों में छपा है वहाँ वह जातिवाचक नाम है, विशेष नाम नहीं। जहाँ **अमेरिका के संयुक्त-राज्य** का उल्लेख है वहाँ बहुधा यह पूरा पद उपयोग में लाया गया है जिसमें हमारा अर्थ स्पष्ट हो जावे। जहाँ पूरा पद नहीं आया वहाँ प्रसंग से अर्थ स्पष्ट हो सकता है। इसी कारण "अमेरिका का" यह पद छोड़ दिया गया है। पाठकगण इन अर्थों को कृपापूर्वक ध्यान में रखें।

क़ानून के सम्बन्ध में स्वतन्त्र अधिकार हैं। संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध का यह केवल एक उदाहरण है। राज्य-प्रबन्ध के जो अनेक अंग और अधिकार होते हैं वे अनेक देशों में अनेक तरह से बने और बँटे रहते हैं। इस कारण सभी संयुक्त-राज्य एक ही समान नहीं होते। परन्तु उनमें कुछ साधारण बातें एक समान ही रहती हैं। **अमेरिका के संयुक्त-राज्य** की कांग्रेस को निम्न-लिखित अधिकार हैं :—

लोगों पर कर, लगान इत्यादि लगाना और वसूल करना; ऋण पटाना और **संयुक्त-राज्य** की रक्षा का प्रबन्ध करना। (इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि सारे राज्य में कर, लगान आदि बराबर ही लगाये जावें)।

संयुक्त-राज्य के लिए ऋण लेना।

विदेशीय और उपराज्यों के बीच तथा मूलनिवासियों के साथ होने-वाले व्यापार का नियन्त्रण करना।

नागरिकता के समान नियम स्थापित करना; सारे देश के लिए दिवालियापन के समान क़ायदे बनाना।

सिक्के बनाना; उनकी और विदेशी सिक्कों की क़ीमत निश्चित करना; तौल और माप के परिमाण निश्चित करना।

संयुक्त-राज्य के सिक्कों को जालसाज़ी के साथ बनानेवालों के लिए दंड का प्रबन्ध करना।

डाक और उसके मार्गों का प्रबन्ध करना।

लेख और आविष्कारों के पूर्ण अधिकार कुछ समय के लिए उनके कर्ताओं को देकर कला और विज्ञान की वृद्धि करना।

यदि समुद्र में कोई चोरी अथवा राजद्रोह का अपराध करे अथवा राष्ट्रों के नियमों का उल्लंघन करे, तो उसके दंड इत्यादि का प्रबन्ध करना।

युद्ध करना; गिरफ़्तारी का अधिकार देना और ज़मीन तथा समुद्र पर गिरफ़्तारी के नियम बनाना।

सेना रखना और उसका पालन-पोषण करना; परन्तु इस कार्य के लिए दो साल से अधिक समय तक के लिए एक ही बार में धन का विनियोग न करना।

जहाज़ों का बेड़ा रखना और उसका ख़र्च चलाना।

स्थल और जल-सेना के नियन्त्रण और प्रबन्ध के नियम बनाना।

संयुक्त-राज्य के क़ायदों का पालन करवाने के लिए, ग़दर को नष्ट करने के लिए और आक्रमणों का सामना करने के लिए आवश्यकतानुसार सेना के उपयोग का प्रबंध करना।

सेना की व्यवस्था, शस्त्रीकरण और क़वायदें सिखलाने का प्रबन्ध करना और **संयुक्त-राज्य** के काम में लगी हुई सेना के नियन्त्रण का प्रबन्ध करना; उपराज्यों को सेना के अफ़सरों की नियुक्ति का और सेना को क़वायद सिखलाने का अधिकार देना।

उपराज्यों के देने पर (१०० वर्ग मील से अधिक न हो ऐसी) जो ज़मीन मिले और जिसे कांग्रेस स्वीकृत कर ले वह ज़मीन **संयुक्त सरकार** की राजधानी होगी। वहां के लिए सब तरह के क़ानून बनाना; उपराज्य की क़ानून बनानेवाली सभा की सम्मति से उन राज्यों में से ली हुई ज़मीन पर क़िले, बारूद-गोले के गोदाम, नावों के घाट, और इतर आवश्यक इमारतें बनाना।

ऊपर लिखे अधिकारों को अमल में लाने के लिए अथवा **संयुक्त-सरकार** को, उसके किसी विभाग को, या किसी अफ़सर को दिये हुए अन्य अधिकारों को अमल में लाने के लिए सब आवश्यक क़ायदे बनाना।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि शेष सब अधिकार उपराज्यों के हाथ में हैं। **संयुक्त-सरकार** को जिन बातों का अधिकार नहीं, उनमें वह हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

३. अब प्रश्न कर सकते हैं कि संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध कहते किसे हैं? संयुक्त-राज्य प्रबन्ध वह राज्य-प्रबन्ध है जहाँ उपराज्यों के स्वातन्त्र्य के कारण अखिल देश पर राज्य चलानेवाली सरकार के अधिकार राज्य-प्रबन्ध-निर्माण के समय ही परिमित कर दिये गये हों। परन्तु इतना ही कहने से काम न चलेगा। इसके साथ साथ इन बातों पर भी ध्यान देना होगा—(१) उपराज्यों का यह स्वातन्त्र्य पूर्ण होना चाहिए, नहीं तो उस राज्य को संयुक्त कहना व्यर्थ होगा; (२) जब इस संयुक्तता का पूरा पूरा प्रमाण होगा तो उसका रूप सर्वोच्च सरकार की रचना में किसी न किसी प्रकार अवश्य देख पड़ेगा; और (३) यदि इस रचना के चिरस्थायी होने की आवश्यकता हो तो सर्वोच्च सरकार और उपसरकारों की रचना और अधिकार में परिवर्तन करने की कोई नियम-बद्ध रीति का भी होना आवश्यक है।

परन्तु इतने विवेचन से यह भेद स्पष्ट न होगा। इसका अधिक विवेचन करना आवश्यक है। पहले तो उन राज्य-भागों का विचार करना चाहिए जहाँ के लोग संयुक्त-राज्य के अफ़सर बनने में अथवा सभा-समितियों के निर्वाचन में कुछ भी भाग नहीं लेते। क्या ये राज्य-भाग संयुक्त-राज्य के उप-राज्य कहला सकते हैं? जब वहाँ के लोगों को संयुक्त-राज्य के शासन में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष कुछ भी अधिकार नहीं रहता तब उन्हें उपराज्य कहना कदापि उचित नहीं। बहुधा सर्वोच्च सरकार उनके शासन को अपने अधिकार में रखती है; इसलिए उन्हें उसके परतन्त्र राज्य (Subject state or dependency) ही कहना ठीक है। वे उपराज्य नहीं कहे जा सकते। दूसरी बात यह है कि उपराज्यों में बहुधा समानता का रहना आवश्यक है। एक के कम अधिकार और दूसरे के अधिक रहने से उनमें ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न होंगे और सारा राज्य-सङ्गठन अस्थिर हो जावेगा तथा बहुत काल तक न टिक सकेगा। इसलिए यथाशक्ति सबके अधिकार समान रहना ही आवश्यक है। स्थिरता के लिए सर्वोच्च सरकार और

उपराज्यों की सरकारों के अधिकारों के विभागों का समतौल रहना भी आवश्यक है। यह लक्षण इतिहास में सदैव प्रारम्भ से ही नहीं दिखाई पड़ता। इसका विकास पीछे धीरे धीरे होता है; तथापि यह संयुक्त-राज्यों का आवश्यक लक्षण है।

४. अब यहाँ उन अधिकारों का उल्लेख किया जाता है जिनका संयुक्त सरकार के हाथ में रहना उपर्युक्त समतौल को बनाये रखने की दृष्टि से आवश्यक है:—

एक तो संयुक्त-राज्यों का निर्माण बहुधा बाहरी आक्रमणों अथवा दबाव के कारण हुआ करता है; इसलिए उसके हाथ में सबसे पहले फ़ौज, जहाज़ और विदेशी राष्ट्रों के सम्बन्ध के नियन्त्रण करने का अधिकार होना आवश्यक है। ये कार्य बिना द्रव्य के हो नहीं सकते; अतएव व्यक्ति की दृष्टि से उसे लोगों से कर वसूल करने का अधिकार भी होना आवश्यक है। यहाँ शङ्का की जा सकती है कि व्यक्ति की दृष्टि से लोगों से कर लेने की क्या आवश्यकता है? उप-राज्यों से निश्चित परिमाण में द्रव्य लेने से क्या काम न चलेगा? इसका उत्तर यही है कि यदि किसी कारण इन उप-राज्यों ने द्रव्य देना मंजूर न किया तो राज्य का काम स्थगित हो जावेगा। उन्हें द्रव्य देने को बाध्य करने के लिए फ़ौज का उपयोग करना होगा और इस कार्य में धन लगेगा ही। धन के बिना सरकार का काम चल ही न सकेगा।

दूसरे प्रकार के अधिकार जो संयुक्त-सरकार के पास रहें वे ऐसे हों जिनमें समानता और सामान्यता की आवश्यकता है; जैसे सिक्कों का बनाना, पेटेन्ट और कापीराइट का नियन्त्रण तथा डाक-विभाग का प्रबन्ध।

तीसरे वर्ग के कार्य वे हैं जिनमें समानता की विशेष आवश्यकता नहीं रहती, तथापि उनसे राष्ट्रीय उन्नति का द्वार मुक्त हो जाता है। इनमें रेल की सड़कों, नहरों, तार, बैंक की पद्धति आदि के नियन्त्रण का उल्लेख किया जा सकता है। आयात और निर्यात

माल भी कभी कभी इसी वर्ग में सम्मिलित कर लिये जाते हैं; परन्तु यह बड़ा विवादग्रस्त विषय है। इस पर कर का लगाना या वसूल करना वास्तव में सर्वोच्च सरकार का कार्य नहीं है; परन्तु है वह बड़े महत्त्व की बात। यह कर बहुधा व्यापारिक दृष्टि की अपेक्षा आमदनी की दृष्टि से ही लगाया जाता है।

चौथे वर्ग की बातों में बहुत कुछ मतभेद भी हो सकता है। इन अधिकारों का बँटवारा करना विशेष परिस्थितियों पर ही अवलम्बित रहता है। उदाहरण के लिए विवाह-पद्धति, तलाक़, शिक्षा आदि विषय इस वर्ग में आते हैं।

पाँचवें वर्ग में वे बातें आती हैं जिन पर यथार्थ में उपराज्यों का ही अधिकार रहना चाहिए; परन्तु इनमें भी मतभेद हो सकता है। इस वर्ग में स्थानीय उपयोग के सार्वजनिक कार्य, सार्वजनिक दान, आबकारी इत्यादि शामिल हैं।

अमेरिका की कांग्रेस के जो अधिकार ऊपर बतलाये गये हैं वे प्रायः इन पांच वर्गों में बँट सकते हैं। यह वर्गीकरण प्रत्येक वर्ग के महत्त्व के क्रम से किया गया है। देखने से मालूम हो सकता है कि पहले तीन वर्गों के अधिकार विशेष महत्त्व के हैं। संयुक्त-सरकार के पास इन तीनों का रहना विशेष आवश्यक है—उसकी स्थिरता अनेक अंशों में इन्हीं पर अवलम्बित रहती है।

बहुधा देखा जाता है कि संयुक्त सरकार के अधिकार परिमित और निश्चित कर दिये जाते हैं। अमेरिका में ऐसा ही किया गया है। शेष अधिकार उपराज्यों की अधीनता में रहते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि यह नियम सब स्थानों के लिए लागू नहीं है।

४. ऊपर संयुक्त-राज्य-प्रणाली की सामान्य परिभाषा बतलाई जा चुकी है और उसके तीन विशिष्ट लक्षण भी बतलाये गये हैं। अभी तक केवल पहले लक्षण का स्पष्टीकरण हुआ है। अब अन्य दो लक्षणों का संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। दूसरा लक्षण यह

बतलाया गया है कि "जब इस संयुक्तता का पूरा पूरा प्रमाण होगा तो उसका (उपराज्य का) रूप सर्वोच्च सरकार की रचना में किसी न किसी प्रकार अवश्य देख पड़ेगा।" यह कई तरह से किया जा सकता है; जैसे—(अ) यदि ये उपराज्य स्वतन्त्र हों तो अन्तर्राष्ट्रीय हकों में वे समान माने जावें और उन्हें सर्वोच्च राज्य-प्रबन्ध के किसी अङ्ग के निर्वाचन में बराबर अधिकार दे दिये जावें। इससे यह परिणाम निकलता है कि इस निर्वाचित सभा का बहुमत उपराज्यों के बहुमत के समान ही होता है। अमेरिका में प्रत्येक उपराज्य से दो प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हैं। इस सभा का नाम सीनेट है। परन्तु इन उपराज्यों का विस्तार समान न होने पर निर्वाचन का समान अधिकार देना अनुचित है; (आ) ऐसी स्थिति में प्रत्येक उपराज्य का अलग मत—वोट—लिया जाता है। युद्ध के पहले के शासन-प्रबन्ध में जर्मनी में इसी प्रकार की सभा थी। प्रत्येक उपराज्य के वोट की संख्या भिन्न थी और एक राज्य के प्रतिनिधि एक ही प्रकार के वोट दे सकते थे। वे आपस में भले ही मतभेद रखते हों; परन्तु उनमें जिस बात पर बहुमत पाया जाता था वही उस सारे राज्य का मत समझा जाता था और इस कारण वोट के अनुसार उस बहुमत-वाले उस राज्य के वोट समझ लिये जाते थे; (इ) कभी कभी यह बात अनिवार्य होती है कि उपराज्यों के प्रतिनिधि अपनी अपनी सरकार की आज्ञा अवश्य मानें—वे अपना व्यक्तिगत मत न दें। परन्तु ऐसा करने से फिर वह सभा सर्वोच्च सरकार का अङ्ग नहीं रह जाती; वह केवल उपराज्यों की सभा बन जाती है; फलतः उसमें एक स्वतन्त्र सभा का लक्षण नहीं पाया जाता।

६ तीसरा विशिष्ट लक्षण बतलाया गया है कि "यदि इसकी (अर्थात् सर्वोच्च सरकार की) रचना के संयुक्त स्वरूप के चिरस्थायी होने की आवश्यकता हो तो सर्वोच्च और उपसरकारों के नियमित अधिकारों में परिवर्तन करने की कोई नियमबद्ध रीति का होना भी

आवश्यक है।" एकरूप राज्य में यह परिवर्तन सर्वोच्च राज्य की इच्छा पर ही अवलम्बित रहता है। अपने द्वारा दिये गये अधिकारों को वह जब चाहे तब वापस ले सकती है। पर बहुधा ऐसा होता है कि संयुक्त-राज्य की क़ानून बनानेवाली मामूली सभा मामूली रीति से इन अधिकारों में परिवर्तन नहीं कर सकती। राज्य-सङ्गठन करते समय आरम्भ में जो अधिकार-सीमा निश्चित कर दी जाती है उसका साधारण तौर से बदलना ठीक नहीं समझा जाता। उचित तो यही होता है कि सङ्गठन इस तरह से किया जावे कि उसमें किसी तरह का परिवर्तन करने की आवश्यकता और स्थान न रहे। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। समाज की अनेक बातें ज्यों ज्यों परिवर्तित होती जाती हैं त्यों त्यों इन अधिकारों में भी परिवर्तन होना आवश्यक प्रतीत होता है। पर यह सदैव आवश्यक नहीं होता कि यह कार्य क़ानून बनानेवाली मामूली सभा से बिलकुल भिन्न सभा के द्वारा ही किया जावे। साधारण कार्यों के लिए बहुमत काफ़ी होता है। ऐसे कार्यों के लिए दो-तृतीयांश अथवा तीन-चतुर्थांश मत आवश्यक समझा जावे। क़ानून बनानेवाली सभा का एक अङ्ग उपराज्यों के प्रतिनिधियों से बना रहता है। अधिक स्थिरता रखने के लिए इन राज्यों की क़ानून बनानेवाली सभाओं के भी अलग अलग मत ले लिये जावें और नियमबद्ध परिवर्तन के लिए उनके दो तृतीयांश अथवा तीन चतुर्थांश मत की आवश्यकता रख दी जावे। अमेरिका के संयुक्त-राज्य के पूर्व-निश्चित अधिकारों में परिवर्तन करना हो तो कांग्रेस के दो तृतीयांश और उपराज्यों के तीन चतुर्थांश मतों की आवश्यकता बहुधा होती है। इसका अधिक खुलासा पहले एक अध्याय में हो चुका है।

७. अधिकारों के विभाग और उपराज्यों की रचना की विशिष्टता के अनुसार संयुक्त-राज्य कई तरह के हो सकते हैं। परन्तु संयुक्त-राज्य कुछ राज्यों का केवल संघ (league) नहीं है और न वह राज्यों का

संयोग (confederation) ही है। राज्य-संघ तो बहुधा निश्चित कार्यों के लिए और निश्चित अवधि के लिए स्थापित किया जाता है। ऐसे संघ मामूली सन्धियों के द्वारा निर्मित हो सकते हैं। इतिहास में इसके सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। इस प्रणाली से कोई नया राज्य नहीं बन जाता। सन्धि करनेवाले नितान्त स्वतन्त्र राज्य ज्यों के त्यों स्वतन्त्र बने रहते हैं। बहुत आवश्यक होने पर सब मिलकर छोटी मोटी तात्कालिक सभा स्थापित कर लेते हैं जो केवल विशिष्ट कार्य किया करती है। परन्तु राज्यों का संयोग (confedoration) अनेक राज्यों का अधिक स्थायी संयोग होता है। इस संयोग के होने में भी कोई विशिष्ट हेतु अवश्य रहता है; पर वह दीर्घ काल के लिए होता है, अतएव उसका स्वरूप अधिक स्थायी रहता है। बहुधा ऐसे संयोग का निर्माण बाहरी आक्रमणों के डर से होता है। ऐसे राज्य-संयोगों को द्रव्य, फौज़ और न्याय के भी अधिकार थोड़े बहुत अवश्य रहते हैं।

परन्तु संयुक्त-राज्य (Federal government) में और राज्य-संयोगों (confederations) में कुछ स्पष्ट भेद रहा करते हैं; जैसे (अ) राज्य-संयोग के राज्य बहुधा स्वतन्त्र रहते हैं; और संयोग से किसी भी समय अपनी इच्छानुसार अलग हो जाने का उनको अधिकार रहता है। परन्तु संयुक्त-राज्य के उपराज्यों को अलग हो जाने का अधिकार नहीं रह जाता; (आ) राज्य-संयोगों के सदस्य-राज्य पर-राष्ट्रसम्बन्ध के अपने सब अधिकारों का त्याग नहीं करते; परन्तु संयुक्त-राज्य के उपराज्यों को बहुधा ऐसी स्वतन्त्रता नहीं रहती; (इ) संयुक्त-राज्य में संयुक्त-सरकार का लोगों से थोड़ा बहुत व्यक्तिशः सम्बन्ध अवश्य रहता है—लोगों को व्यक्ति की दृष्टि से उस सरकार के क़ायदे मानने पड़ते हैं। परन्तु राज्य-संयोगों में सर्वोच्च सरकार का लोगों से बिलकुल अप्रत्यक्ष अर्थात् सदस्य-राज्यों के द्वारा सम्बन्ध रहता है। वास्तव में इन दोनों प्रकार के राज्यों में यह भेद बहुत

महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संयुक्त-राज्य में सर्वसाधारण को दो सरकारों की—सर्वोच्च और उपराज्य की—आज्ञा माननी पड़ती है; परन्तु राज्य-संयोगों में सर्वोच्च सरकार सर्व-साधारण पर प्रत्यक्ष रीति से बालाबाला हुकूमत नहीं कर सकती।

एकरूप (unitary) राज्य और संयुक्त राज्य के एक भेद का विचार यहां तक हो चुका। इसी तरह अधिकारों के न्यूनाधिक होने से, राज्याङ्गों की भिन्न भिन्न रचना से और उनकी अनेक प्रकार की विशिष्टता से भी अनेक भेद हो सकते हैं। इतिहास में इस तरह के मिश्रित (composite) राज्यों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं।

८. जब कभी लोगों पर दो सरकारों की आज्ञा मानने के लिए बाध्य होने का प्रसङ्ग आ पड़ता है तब बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो जाने का डर रहता है। इनमें से यदि किसी सरकार ने अपने अधिकारों का अतिक्रमण किया तो क्या किया जावे? इस तरह का झगड़ा उपस्थित हुआ तो उसका निपटारा किस प्रकार किया जावे? एकरूप राज्य में ऐसे समय में सीधे अदालत की शरण लेने से काम चल जाता है। परन्तु संयुक्त-राज्य में जो अदालत यह कार्य करेगी उसे दोनों सरकारों से और दोनों की व्यवस्थापक-सभाओं से जब तक स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी अर्थात् जब तक वह उनके दबाव से मुक्त नहीं होगी, तब तक वह अपनी बड़ी जवाबदारी के कार्य को उचित रूप से न कर सकेगी; क्योंकि उस दशा में किसी सरकार के द्वारा होनेवाले अधिकार-अतिक्रमण पर निर्णय कर सकना और उसे नियम-विरुद्ध बतलाना कठिन हो जावेगा। फलतः संयुक्त-राज्य में संयुक्त-सरकार और उपराज्य सरकार के प्रभाव से मुक्त एक स्वतन्त्र न्यायालय होना भी आवश्यक है।

९. संयुक्त-राज्य के लक्षण संक्षेप में अनेक तुलनाओं और उदाहरणों के द्वारा बतलाये जा चुके हैं। अब इस बात का विचार करना है कि वे किस परिस्थिति में निर्मित होते हैं।

(अ) पहले कारण का उल्लेख हो चुका है। छोटे छोटे राज्यों पर कई ज़बरदस्त राज्यों की सतृष्ण दृष्टि रहती है। फिर जब बड़े राज्यों में कभी झगड़े उपस्थित होते हैं, तो छोटे राज्यों को थोड़ा-बहुत नुक़सान सहना ही पड़ता है; अतएव छोटे राज्यों को अपनी अपनी स्वार्थरक्षा के लिए संयुक्त होना पड़ता है। संयुक्त होने से शक्ति बढ़ जाती है और दर्जा भी बढ़ जाता है।

(आ) यदि बहुत से छोटे छोटे राज्य आसपास रहते हैं और यदि उनके आचार-विचार, रहन-सहन आदि में अधिक भिन्नता नहीं रहती तो संयुक्त हो जाने पर परस्पर उन्हें अनेक लाभ होते हैं।

(इ) बहुत समय तक अलग अलग रहने के कारण अथवा अनेक बातों में थोड़ा-बहुत भेद होने के कारण यदि उन छोटे छोटे पड़ोसी राज्यों को पूर्ण एकरूप हो जाना अच्छा न मालूम हो, परन्तु मेल की आवश्यकता भी हो, तो संयुक्त बन जाने का उपाय बहुत लाभदायक होता है।

(ई) कभी कभी व्यापार में उन्नति करने की दृष्टि से भी संयुक्त हो जाने में लाभ होता है। बलाढ्य राष्ट्रों के सामने न टिक सकने के कारण छोटे राज्यों के व्यापार के नष्ट होने का डर रहता है। संयुक्त हो जाने पर उन्हें व्यापार के लिए अच्छा बड़ा क्षेत्र मिल जाता है।

(उ) यदि किसी देश का विस्तार बहुत बड़ा हुआ तो उसके भिन्न भिन्न भागों में अनेक तरह के भेद देख पड़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में संयुक्त हो जाने पर अनेक कठिनाइयों का नाश हो जाता है और विस्तीर्ण देश का शासन अच्छी तरह होने लगता है।

अमेरिका का संयुक्त-राज्य, स्विटज़रलेंड, जर्मनी, मेक्सिको, ब्रैज़िल, कनेडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटिश दक्षिण अफ़्रीका इत्यादि के संयुक्त राज्य इन्हीं भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न हुए हैं।

१०. जिन कारणों से संयुक्त-राज्यों का निर्माण होता है वे ही उसके गुण हैं। उन परिस्थितियों में किसी दूसरे तरह की शासन-प्रणाली टिक नहीं सकती—सभी दृष्टियों से केवल संयुक्त-शासन-प्रणाली ही लाभकारी सिद्ध होती है। परन्तु इस शासन-प्रणाली में भी नीचे लिखे दोष पाये जाते हैं :—

(अ) राज्यों के संयुक्त होने से राष्ट्रीयता का प्रमाण विशिष्ट सीमा तक ही विकसित हो सकता है। राष्ट्रीयता की बाढ़ को यह कल्पना रोकती है कि हम स्वतन्त्र राज्य के नागरिक हैं। एकरूप राज्य में राष्ट्रीयता चरम-सीमा तक पहुँच सकती है। हाँ, यह सच है कि छोटे छोटे राज्यों के संयुक्त-राज्य बन जाने पर पहले की अपेक्षा राष्ट्रीयता की सीमा कुछ अधिक उच्च-कोटि की हो सकेगी। जो राज्य पहले से ही एकरूप हो उसे संयुक्त-राज्य बनाने पर यह पद्धति दोष-पूर्ण परिणाम उत्पन्न करती है।

(आ) संयुक्त-राज्य में आन्तरिक समानता हो जाती है; परन्तु एकरूप राज्य में वह बहुत बढ़ सकती है।

(इ) यह शासन-प्रणाली एकरूप राज्य के सदृश चिरस्थायी नहीं रहती। भीतरी झगड़ों के पैदा होने का बड़ा डर रहता है।

११. आज-कल बड़े बड़े राज्यों का युग आया है। छोटे छोटे राज्यों का टिकना बड़ा कठिन हो रहा है। इसलिए जहाँ ऊपर लिखी हुई परिस्थिति अथवा कारण हों वहाँ संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध स्थापित करने से अनेक लाभ हो सकते हैं, और संसार के अनेक बड़े बड़े प्रश्न हल हो सकते हैं। बड़े राज्यों की द्वेषाग्नि से बचने के लिए छोटे राज्यों को यह उपाय बड़ा लाभकारी सिद्ध होगा। विस्तीर्ण देशों के राज्यप्रबन्ध का प्रश्न इसी प्रणाली से सरल हो सकता है। बहुधा राज्य-संयोगों का भी संयुक्त-राज्य में ही रूपान्तर हुआ करता है।

सर्वोच्च सरकार के अधिकार दिन दिन अधिकाधिक बढ़ते जा रहे हैं। जिन कारणों से राज्य-संयोग निर्माण होते हैं उन्हीं कारणों से सर्वोच्च सरकारों को अपने अपने अधिकार बढ़ाना पड़ते हैं। अब संयुक्त-राज्य-प्रबन्ध का युग आ रहा है और सम्भवतः इसी से वर्तमान नूतन परिस्थिति के अनेक कठिन प्रश्न हल होंगे।

बीसवाँ परिच्छेद

उपनिवेश और परतन्त्र देशों का शासन

कई देशों ने व्यापार के कारण, तो कभी लोगों के देश छोड़कर अन्यत्र बसने से, तो कभी राजकीय कारणों से दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। एक देश के लोग जिस देश में जाकर बसे हैं, वह राजकीय दृष्टि से बहुधा मूल देश के अधीन होता है। ऐसे विजित देश को उपनिवेश कहते हैं। जो देश व्यापार के कारण अथवा राजकीय कारणों से जीते गये हैं, परन्तु जहां जेता लोग बस्ती बनाकर नहीं रहते, वे परतन्त्र देश होते हैं। हिन्दुस्तान के उपनिवेश या उसके तन्त्र से चलनेवाले देश क़रीब क़रीब नहीं हैं। वह स्वयं दूसरों के तन्त्र से चलता है। तथापि पृथ्वी में बहुत से, विशेष करके योरपीय देश, ऐसे हैं कि जिनके उपनिवेश हैं या जिनके तन्त्र से कुछ देश चलते हैं। उनके राज्यप्रबन्ध से कौन कौन सी समस्यायें उपस्थित होती हैं, वे कैसे हल हुई हैं इत्यादि बातों का विवेचन इस परिच्छेद में होगा।

१. पहले हम उपनिवेशों के आधुनिक महत्त्व का विचार करेंगे। गत शताब्दि में बहुत से देशों के जीवन में बड़ा परिवर्तन हुआ। जो राष्ट्र अपनी सीमा के भीतर ही अधिकार चलाते थे, वे धीरे धीरे दूसरे देशों पर अधिकार जमाने लगे। राष्ट्रीय राज्य बढ़ते बढ़ते राष्ट्रीय साम्राज्य होने लगे। इस विचार की कल्पना ने भी ज़ोर पकड़ा कि राष्ट्र के उपनिवेश भी होने चाहिए। राष्ट्रीय भाव और भी जागृत हुए। क्योंकि उनसे भूमि-विषयक और व्यापार-विषयक ईर्ष्या और भी बढ़ने लगी। राष्ट्र का जीवन निजजाति के लोग और स्वाभाविक

सीमाओं को लाँघकर पृथ्वी भर व्यापने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में ईर्ष्या को भरपूर स्थान मिला। और राष्ट्रों राष्ट्रों का समतुलत्व, कोई किसी से शक्तिशाली न होने पावे यह कल्पना, प्रस्थापित होने लगी।

इस कल्पना की वृद्धि के कारण अनेक ऐसी समस्यायें उपस्थित हुई हैं कि जिनकी कल्पना कभी पहले किसी को न थी। असभ्य लोगों को शिक्षा देना और सभ्य बनाना, अनेक धार्मिक मतों का झगड़ा, दूसरे देशों के लोगों को बिना रोक-टोक के आने देना या नहीं, उद्योग और व्यापार के प्रश्न, इत्यादि अनेक प्रश्न हैं। बहुधा व्यापार के लिए प्रत्येक चढ़े-बढ़े देश को कोई नया क्षेत्र चाहिए। इसके कारण राष्ट्रों राष्ट्रों में ख़ूब होड़ लगी रहती है। राष्ट्रों की आन्तरिक रचना पर और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर आर्थिक प्रश्नों का बहुत प्रभाव पड़ा है। और गत शताब्दि की बहुत सी लड़ाइयाँ केवल व्यापारी ईर्ष्या के कारण हुई हैं। इतना ही नहीं बरन इस सदी में भी वही हाल रहेगा ऐसा डर है।

उपनिवेशों के कारण शासन-सम्बन्धी जो अनेक प्रश्न उपस्थित हुए हैं, उनके तीन भेद किये जा सकते हैं:—(१) एक राज्य का दूसरे राज्यों से सम्बन्ध, (२) एक राज्य का उसके उपनिवेशों से सम्बन्ध, और (३) एक राज्य का उसके नागरिकों से सम्बन्ध। राज्य-विज्ञान में उपनिवेश-सम्बन्धी इन्हीं राजकीय प्रश्नों का विचार कर्तव्य है।

(१) एक राज्य का दूसरे राज्यों से सम्बन्ध। उपनिवेशों की सीमा बहुधा निश्चित नहीं रहती। उनकी पराधीनता भी कम अधिक होती है। और कभी कभी उनका दूसरे राज्यों से थोड़ा-बहुत सम्बन्ध उपस्थित हो जाता है। इस कारण, अनेक अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े पैदा होते हैं। अतएव, अन्तर्राष्ट्रीय हिताहितों का और नियमों का परिवर्तन सदा चला रहता है। उत्तरी अमेरिका और हिन्दुस्तान पर

प्रभुत्व स्थापित करने के लिए इँग्लेंड और फ्रांस पूरे सौ वर्ष भिड़ते रहे। कुछ समय पहले रूस और इँग्लेंड एशिया में क़रीब क़रीब भिड़ चुके थे। अब भी नहीं कह सकते कि यह डर बिलकुल दूर हो गया है। अमेरिका के संयुक्त-राज्य को भी डर पैदा हो गया है क्योंकि दक्षिण-अमेरिका में योरपीय देशों ने बहुत से स्थानों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर डाला है। और जापान की उन्नति को देखकर बहुत से अपना सिर खुजलाने लग गये हैं। इतना ही नहीं, उपनिवेशों की वृद्धि होने से लड़ाई की पद्धति में परिवर्तन होने लग गया है। देश की रक्षा के लिए थल-सेना पहले लगती थी, परन्तु अब जल-सेना का और जहाज़ का महत्त्व बढ़ गया है। लड़ाई में बहुधा अब जीवों को नष्ट करने की अपेक्षा, वस्तुओं की ज़ब्ती और जायदाद का नाश विशेष देखे जाते हैं। समुद्र की लड़ाई पर जीत-हार अवलम्बित रहती है।

(२) एक राज्य का उसके उपनिवेशों से सम्बन्ध। इसमें बहुत भिन्नता पाई जाती है। कहीं तो प्रत्यक्ष अधिकार स्थापित है तो कहीं अप्रत्यक्ष रीति से—मूल सत्ताओं से जिन्हें अधिकार प्राप्त हुआ रहता है, वे उपनिवेशों में अधिकार चला रहे हैं। कहीं तो उपनिवेश के लोगों को नाम-मात्र का स्वराज्य नहीं है, और उन्हें कोई राजकीय अधिकार नहीं है, तो कहीं उपनिवेश के लोगों को पूर्ण स्वराज्य प्राप्त हो चुका है और मूल-देशों के लोगों से भी अधिक अधिकारों का उपयोग कर रहे हैं। आन्तरिक रचना में कितनी विभिन्नता है इसका कुछ ठीक ठिकाना नहीं। उपनिवेशों की सरकारों के कामों और शासन-प्रणाली में भी कोई समानता नहीं पाई जाती। आन्तरिक शासन की कुछ समस्यायें ये हैं :—

(क) शिक्षा और समाज की सामान्य उन्नति।

(ख) आय-व्यय, सिक्का, बैंक का काम, और लेन-देन।

(ग) व्यापार और आवागमन।

(४) ज़मीन के विषय की नीति, खेती और उद्योग-धन्धों की उन्नति।

(५) मज़दूरों का प्रश्न।

(६) रक्षा और पुलिस।

इन प्रश्नों में अनेकानेक कठिनाइयां उलझी हुई हैं। वे जिस प्रकार हल होंगी उन पर उपनिवेशों के लोगों का हिताहित अवलम्बित है ही, बरन राष्ट्र की इज्ज़त और कभी कभी, उसका अस्तित्व भी, उन्हीं पर अवलम्बित है।

(३) एक राज्य का उसके नागरिकों से सम्बन्ध। उपनिवेशों के होने से जो प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनका प्रभाव राष्ट्र के आन्तरिक जीवन पर भी होता है। इँग्लेंड के राजकीय क्षेत्र में उपनिवेशों का प्रश्न सदा महत्त्व-पूर्ण रहा है। कनाडा, दक्षिण-आफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलेंड को स्वराज्य प्राप्त हो चुका है। इस कारण, साम्राज्यान्तर्गत संयुक्त-शासन-प्रणाली का प्रश्न उपस्थित हुआ है। यदि इस कल्पना को मूर्तस्वरूप दिया जाय तो इँग्लेंड के शासन में बहुत से परिवर्तन हो जावेंगे। कुछ का तो प्रारम्भ हो भी चुका है। कोई दिन ऐसा आजावे कि ब्रिटिश-पार्लिमेंट के ऊपर भी कोई सत्ता प्रस्थापित हो जाय। नागरिकों का अपने राज्य से आज जो सम्बन्ध है, उसमें तब बहुत परिवर्तन हो जावेगा। इसी तरह, अमरीका के संयुक्तराज्य के आन्तरिक राजकीय जीवन में परिवर्तन हो रहे हैं। शासन-विभाग के अधिकार बढ़ रहे हैं और दलबन्दी कम हो रही है, क्योंकि उपनिवेशों की रक्षा की ओर लोगों की आंखें लग रही हैं।

उपनिवेशों की लोकसंख्या और क्षेत्रफल से ही उनका महत्त्व प्रकट हो जाता है। पृथ्वी की भूमि का दो पंचमांश हिस्सा उपनिवेशों के अन्तर्गत है, और उनकी लोक-संख्या पचास करोड़ से भी अधिक है। इँग्लेंड के ही उपनिवेशों का क्षेत्रफल एक कोटि दस लाख वर्ग-

मील से अधिक है, और उनकी लोक-संख्या पैंतीस कोटि है। फ्रांस के उपनिवेशों का क्षेत्रफल फ्रांस से अठारहगुना है और उनकी लोक-संख्या फ्रांस से ड्यौढ़ी है। उपनिवेशों के कलह-क्षेत्र में अमरीका का संयुक्त-राज्य अभी अभी पड़ा है। परन्तु उसके भी उपनिवेशों का क्षेत्रफल डेढ़ लाख वर्गमील से अधिक है और उनकी आबादी नव्वे लाख है।

२. आधुनिक काल में उपनिवेशों का महत्त्व भारी है ही, परन्तु प्राचीन काल में भी थोड़ा-बहुत अवश्य था। हिन्दुस्थान के लोग भी प्राचीन काल में हिन्दमहासागर के द्वीप-समुदाय में जा बसे थे, इसका अब निश्चयात्मक पता लग चुका है।* परन्तु इनको आधुनिक भाषा के अनुसार उपनिवेश कहना उतना ठीक न होगा। इन पर हिन्दुस्थान का प्रभुत्व था, ऐसा नहीं देख पड़ता। और उपनिवेश की जो आधुनिक कल्पना ऊपर बतला चुके हैं, उसमें मूल-देश के अधिकार का तत्त्व महत्त्वपूर्ण है। बहुत हुआ तो उन्हें हिन्दुओं के उपनिवेश (यानी वह स्थान जहाँ हिन्दू जाकर बसे थे) कह सकते हैं। परन्तु हिन्दुस्थान के उपनिवेश नहीं।

योरप में सबसे पहले एशियाकोचक के दक्षिण-पश्चिम किनारे पर रहनेवाले फोनिशियन लोगों ने उपनिवेश बसाना शुरू किया। ये लोग समुद्र-किनारे पर रहते थे और पूरे पूरे व्यापारी थे। कच्ची चीज़ें प्राप्त करने के लिए और बेचने को नये स्थान दिलाने के लिए नये नये व्यापार-केन्द्र स्थापित करने लगे। इनमें से कार्थेज जल्द ही बहुत प्रख्यात हुआ। खेती और व्यापार दोनों यहाँ चलते थे। इस शहर ने आसपास के द्वीपों पर और स्पेन पर प्रभुत्व स्थापित किया। अन्त में उसे रोम से भिड़ना पड़ा और इसी से उसका नाश हुआ। ग्रीस

---

* जिसे इस विषय में अधिक जानना हो, वह प्रोफ़ेसर राधाकुमुद मुकर्जी-कृत A History of Indian Shipping and Maritime Activity नामक ग्रन्थ पढ़े।

यानी यूनान ने भी बहुत से उपनिवेश भूमध्य-समुद्र में प्रस्थापित किये। फिर रोम की बारी आई और उसने अपने हाथ-पाँव चारों ओर फैलाये। कुछ काल में उसका विस्तार इतना बड़ा होगया कि योरप के इतिहास में रोमीय साम्राज्य का नाम चिरस्मरणीय बना रहेगा।

योरप के मध्यकाल* में इटली के नगरों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये। बाक़ी सब योरप की तोड़-मरोड़ चली थी, परन्तु इस देश के पीसा, फ़्लोरेन्स, और ख़ास करके, जिनोआ और वेनिस उद्योग और व्यापार में लगे थे। योरप के पोप और बादशाह के पंजे से अपना छुटकारा करके ये नगर अपने व्यापार-केन्द्र बढ़ाने में जुटे थे। जब तक तुर्क लोगों ने एशिया-कोचक और मिस्रदेश पर अपना क़ब्ज़ा नहीं कर लिया था और जब तक पोर्चगीज़ और स्पेनिश लोगों के प्रयत्न से अमरीका और हिन्दुस्थान न ढूँढ़े गये थे, तब तक इन शहरों का प्रभुत्व, विस्तार और साथ ही व्यापार ख़ूब बढ़ा-चढ़ा रहा।

परन्तु पन्द्रहवीं सदी में हिन्दुस्थान और अमरीका की नई खोज होने पर उपनिवेशों का नया युग ही प्रारम्भ हुआ। कुछ काल तक तो दुनिया में स्पेन और पोर्चगाल का ही साम्राज्य रहा। परन्तु इन देशों का यह अपरिमित साम्राज्य योरप के कई देशों को सहन न हुआ। इँग्लेंड और हालेंड के लोग इस अखाड़े में कूद पड़े। एक काल ऐसा था कि जब पोर्चगाल की सत्ता स्पेन की सत्ता में विलीन हो चुकी थी। परन्तु स्पेन ने अपनी सत्ता से कोई विशेष लाभ न उठाया। इस देश में यह बड़ी विचित्र कल्पना प्रचलित थी कि देश का असली धन सोना-चाँदी ही है। इस कारण पोर्चगाल के उपनिवेशों से उसने कोई विशेष लाभ न उठाया। उसका सारा प्रयत्न अमरीका

* बहुधा पाँचवीं शताब्दी के लगभग अन्त से पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक योरप का मध्यकाल गिना जाता है।

से सोना-चाँदी प्राप्त करने में ही लगा रहा। इस प्रयत्न में वहां के लोगों ने जो अत्याचार किये, उनका वर्णन बहुत हृदयभेदक है। परन्तु उससे हमें यहां कोई वास्ता नहीं। हालेंड और इँग्लेंड धीरे धीरे बढ़ते ही गये। इन्होंने स्पेन के बहुत से उपनिवेश छीन लिये। और स्पेन की सत्ता सोलहवीं शताब्दी में जीर्ण होगई तब तो ये ख़ूब बलवान् हो बैठे। फिर इँग्लेंड और हालेंड सत्रहवीं शताब्दी में आपस में लड़े। हालेंड की सत्ता फ़्रांस की लड़ाइयों के कारण नष्ट होगई। उसके बाद फ़्रांस मैदान में आया। इँग्लेंड और फ़्रांस अठारहवीं सदी में ख़ूब जुझे। परन्तु इँग्लैंड विजयी ही बना रहा। उत्तरी अमरीका फ़्रांस के हाथ से निकलकर इँग्लेंड के हाथ में आया। परन्तु जल्द ही इस द्वीप का बिचला बड़ा भारी भाग इँग्लेंड से अलग होगया। वही आज **अमरीका का संयुक्त राज्य** कहलाता है। कभी कभी लोग इसी को 'अमरीका' के नाम से पुकारते हैं। इँग्लेंड ने अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में ख़ूब उपनिवेश प्राप्त किये।

गत सदी में तो दुनिया पर योरप के लोग ऐसे टूट पड़े कि अब पृथ्वी का कोई हिस्सा नहीं बचा जो किसी न किसी भारी सत्ता के अधीन न हो। आफ़्रीका पर तो ये लोग ऐसे झपटे कि थोड़े ही काल में सारा महाद्वीप इन्होंने आपस में बाँट लिया। जहाँ कहीं मौक़ा मिला, वहाँ योरपीय लोगों ने अपनी प्रभुता स्थापित कर ही ली है। यहाँ हम इन देशों के उपनिवेशों का तफ़सीलवार वर्णन नहीं करना चाहते। ऊपर एक स्थान पर इँग्लेंड, फ़्रांस, अमरीका के संयुक्त-राज्य के उपनिवेशों का कुछ वर्णन कर ही चुके हैं। इतना कहना पर्याप्त होगा कि बेल्जियम और पोर्चुगाल जैसी छोटी मोटी सत्ताओं के भी उपनिवेश हैं। अब जापान भी इसी लिए चारों ओर देख रहा है।

३. उपनिवेश किन किन कारणों से बढ़े इनका यत्र तत्र उल्लेख हो ही चुका है। किसी देश में लोक-संख्या के बढ़ने से, या निज

देश में झगड़ा हो जाने से लोग दूसरे देशों में जा बसते हैं। जर्मनी के सामने संख्या के बढ़ने का प्रश्न रहा है। कभी लोग धार्मिक या राजकीय झगड़ों के कारण अपने देश को छोड़ दूसरे देशों को चले जाते हैं। क़ैदियों को दूसरे देशों में ले जाकर बसाने से आस्ट्रेलिया जैसा उपनिवेश बन गया है।

धर्म-प्रचारकों के प्रयत्न से कुछ उपनिवेश बन गये हैं। अमरीका में इस रीति का बहुत अवलम्बन किया गया था। कोचीन में फ़्रांस का पैर पादड़ियों के कारण ही पड़ा। कहीं कहीं पादड़ियों के झगड़ों के कारण मूल देशों को बीच में पड़ना पड़ा और उसके बाद उनकी प्रभुता भी प्रस्थापित हुई।

कुछ लोगों ने ढूँढ़-खोज इतनी मचाई कि उन्होंने नये नये देश ढूँढ़ निकाले। सोलहवीं सदी में इस तरह व्यक्तिगत बहुत प्रयत्न हुए। जिन्हें अपने देश में असन्तोष मालूम होता था, वे जहाज़ लेकर निकल पड़ते थे और दुनिया के हिस्से ढूँढ़ा करते थे। अमरीका, आफ़्रीका और हिन्दुस्थान की खोज बहुत-कुछ इस कारण से भी हुई है। अमरीका के द्रव्य ने तो कई एकों को आकर्षित किया था। जिस देश के किसी मनुष्य ने जो हिस्सा ढूँढ़ निकाला, उस पर उस देश का क़ब्ज़ा भी हो जाया करता था।

परन्तु सबसे बड़ा निमित्त व्यापार हुआ है। योरप में प्राचीन काल में कार्थेज, यूनान, वेनिस, जिनोआ आदि इसी कारण उपनिवेश प्रस्थापित करते गये। हिन्दू महासागर के द्वीपों का मसाला योरपीय लोगों को अपने घर से बाहर निकालने का बड़ा भारी कारण हुआ है। हिन्दुस्थान में योरपीय लोग व्यापार-निमित्त ही आये थे। आज योरपीय देश अपनी अपनी चीज़ें बेंचने के लिए दृष्टि फैलाये बैठे हैं। जहाँ कहां मौक़ा मिला, वहाँ टूट ही पड़ते हैं और उस देश पर क़ब्ज़ा करने का प्रयत्न करते हैं। गत सदी में उपनिवेशों के

बढ़ने का बड़ा भारी कारण व्यापार रहा है। इसके लिए आवागमन के सुभीतों की आवश्यकता होती है। हिन्दुस्थान के व्यापार के लिए इँग्लेंड को दक्षिण-आफ़्रीका लेना पड़ा, फिर स्वेज़ की नहर पर कब्ज़ा करना पड़ा, अन्त में भूमध्य-समुद्र और इजिप्ट में भी अपनी प्रभुता स्थापित करनी पड़ी। बन्दरगाह मिलाने के लिए रूस ने कौन कौन से प्रयत्न नहीं किये! पश्चिम में बाल्टिक समुद्र, दक्षिण में काला समुद्र और पूर्व में पैसिफ़िक महासागर तक उसे इसी लिए बढ़ना पड़ा। इँग्लेंड के लिए सिंगापूर और हांगकांग का इसी दृष्टि से भारी महत्त्व है। और फिर इनके लिए कई छोटे निर्जन टापू भी लेने पड़े हैं। इनका कुछ नहीं तो कोयला और पानी लेने के लिए भारी उपयोग होता है।

इसी से मिलता-जुलता एक कारण और है। गत शताब्दी में योरपीय देशों ने बहुत सा द्रव्य सञ्चय कर लिया है। देश के देश में अब वह सब द्रव्य लग नहीं सकता। वहाँ उद्योग-धन्धों का जितना विकास हो सका उतना हो चुका। अब शेष द्रव्य कहाँ लगे। दुनिया में अभी बहुत से देश हैं कि जहाँ बहुत उद्योग-धन्धे नहीं हैं और जहाँ काफ़ी चीज़ें पैदा होती हैं और उनसे बहुत उद्योग-धन्धे किये जा सकते हैं। ऐसे नये देशों में वह बचा द्रव्य लग सकता है और बढ़ सकता है। इस दृष्टि से भी दुनिया के बहुत से हिस्सों पर आक्रमण हुआ है। द्रव्य लगाने के बाद उस नये हिस्से पर द्रव्यवाले देश की प्रभुता की भी आवश्यकता होती है, नहीं तो लगा हुआ द्रव्य व्यर्थ जाने का डर! इसलिए, फिर नई सड़कें, रेल, तार, डाक आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसके कारण कितने झगड़े उपस्थित हुए हैं उनका कुछ पता नहीं। तुर्किस्तान और उसके आसपास के प्रदेश में जर्मनी का बहुत सा द्रव्य लगा था। इस कारण जर्मनी ने तुर्किस्तान को गतयुद्ध में अपनी ओर खींच लिया था और तुर्किस्तान भी खिँच गया था। चीन में बहुत से योरपीय

देशों का द्रव्य लगा हुआ है। इस कारण आगे पीछे कौन से झगड़े उपस्थित होंगे यह कह नहीं सकते।

कोई कोई उपनिवेश किन्हीं किन्हीं राज्यों ने प्रत्यक्ष राजकीय कारणों से प्रस्थापित किये हैं। राष्ट्र की इज़्ज़त बढ़ाने के लिये, किसी भूमि पर दावा किया था उसे लेने के लिए या बढ़ते हुए राष्ट्रों को दबाने के लिए बहुत से प्रयत्न हुए हैं। और इस कारण कई स्थानों में राष्ट्रों को अपनी प्रभुता स्थापित करनी पड़ी है। सत्रहवीं सदी में फ़्रांस ने ऐसे ही प्रयत्न किये। इसी प्रकार, राष्ट्रीय इज़्ज़त का प्रश्न भी अब इतने महत्त्व का होगया है कि नितान्त निरुपयोगी हिस्सों पर भी कई देशों ने क़ब्ज़ा कर लिया है। कोई कोई हिस्से तो ऐसे हैं कि उनसे कुछ भी लाभ नहीं, प्रत्युत, हानि अवश्य है।

४. प्राचीन काल के उपनिवेश केवल व्यापार-केन्द्र थे या लोगों ने वहाँ बस्तियाँ कर ली थीं। और इस कारण मूलदेश से उनका राजकीय सम्बन्ध बहुत कम था। मध्यकाल में योरप के कुछ नगरों ने जो उपनिवेश स्थापित किये थे, वहाँ उन्होंने राज्य प्रस्थापित करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। पोर्चुगाल और स्पेन ने अपने उपनिवेशों से केवल अपना फ़ायदा कर लेना चाहा। वहाँ किसी प्रकार की उन्नति करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने वहाँ सैकड़ों बन्धन बना रखे थे। इस कारण, इन उपनिवेशों की स्थिति बहुत ही ख़राब होगई थी। क़ौमें नष्ट होने लगीं, राज्य-प्रबन्ध बिलकुल बिगड़ गया और अन्त में कई एकों ने बलवा किया और स्वतन्त्रता स्थापित कर ली।

सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में फ़्रांस, हालेंड और इँग्लेंड ने भी अपने उपनिवेशों से बहुत कुछ लाभ उठाया। उन्होंने भी व्यापार-सम्बन्धी सैकड़ों बन्धन रखे थे। परन्तु उनकी कुछ बातें स्पेन और पोर्चुगाल से अच्छी रहीं। इन देशों की सरकारों ने ख़ुद इस झगड़े में पड़ने की अपेक्षा कम्पनियों को व्यापार और शासन आदि के

अधिकार दे रखे थे। और उन्हीं के द्वारा इनके उपनिवेशों का विस्तार हुआ।

हालैंड की डच ईस्ट इंडिया कम्पनी को सन् १६०२ में सनद मिली। उसके अनुसार पूर्वीय महासागर में वह व्यापार और राज्य कर सकती थी। उसने पूर्व में व्यापार बढ़ाने का प्रयत्न किया। उनके उपनिवेश बहुधा द्वीपों में ही थे, वे किसी देश के भीतर घुसना नहीं चाहते थे। कई कारणों से इस कम्पनी का विनाश होगया।

फ्रांस की सरकार ने भी कम्पनी को व्यापार, शासन आदि का अधिकार दे रखा था। परन्तु उपनिवेशों की आवश्यकता उस पर पहले से प्रकट हो चुकी थी। इस कारण वह ख़ुद इस कम्पनी के काम-काज बहुत पहले से देखती रही। तथापि इस देश के उपनिवेशों की बढ़ती न हुई। वहाँ के बहुत कम लोग देश छोड़कर दूसरे स्थानों में गये। फिर, आनेवालों पर धार्मिक बन्धन बहुत से थे। तीसरे, जो बस्तियाँ हुईं वे बहुत बिखरी रहीं। उनका ज़ोर इस कारण बढ़ न सका। और वे लोगों की हमेशा के लिए बस्ती करने की अपेक्षा तात्कालिक लाभ की ओर अधिक ध्यान देते रहे। फ्रांस की सरकार कम्पनी के कुप्रबन्ध पर कभी दुर्लक्ष करती तो कभी उसके लिए ख़ूब रुपया उड़ा देती थी। इस कारण वह कम्पनी अपने पैरों पर कभी खड़ी न हो सकी। फ्रांस ने अपने लाभ के लिए उपनिवेशों के व्यापार पर किसी दूसरे को दख़ल न करने दिया, और सारी नीति निज के ही लाभ के सम्पादन की ओर बनाये रखी। उपनिवेशों के हिताहित का बहुत कम ख़याल था। फ्रांस के आन्तरिक झगड़ों के कारण, समुद्र-सेना के बदले स्थल-सेना पर अधिक ध्यान देने से, और इँग्लेंड के साथ दीर्घ काल तक लड़ने के कारण फ्रांस को अपने बहुत से उपनिवेश खोने पड़े। अब फ्रांस की नीति बिलकुल बदल गई है। उपनिवेशों के प्रतिनिधि यदि किसी देश की प्रतिनिधि-सभा में हैं, तो वह फ्रांस के ही। इस देश के उपनिवेशों के

पीछे बड़ा भारी खर्च होता है, तथापि उपनिवेशों के बढ़ाने में फ़्रांस सबसे अधिक दत्तचित्त है।

इँग्लेंड के प्रारम्भिक उपनिवेश बिना सोचे समझे ही बढ़ते गये। उनकी ओर इस देश का विशेष लक्ष न था। इनके उपनिवेशों में बहुत से लोग धर्म के कारण या राजकीय कारणों से देश छोड़े हुए या स्पेन और फ़्रांस के उपनिवेशों से निकाले गये लोग बसे थे। इस कारण ये बस्तियाँ चिरस्थायी बनीं, और यद्यपि इँग्लेंड ने उनकी ओर विशेष लक्ष न दिया तथापि वे अपने पैरों पर खड़ी हो सकीं। कम्पनियों को या अलग अलग लोगों को सनदें दी गईं, पर उनके परिणामों का कुछ भी अन्दाज़ा न किया गया। जब अमरीका का व्यापार बहुत बढ़ गया और हालेंड और फ़्रांस की ईर्ष्या से जब तक झगड़े न उपस्थित हुए, तब तक इँग्लेंड ने अपने दूरस्थ उपनिवेशों की ओर विशेष ख़याल न किया। फिर कई क़ायदे बने कि जिनसे उसने दूसरे राष्ट्रों को निज के उपनिवेशों में व्यापार करने से रोका। अमरीका के कारख़ानों को बढ़ने से रोकने के कारण और वहाँ बहुत से नये कर स्थापित करने से असन्तोष फैला। परिणाम यह हुआ कि अमरीका का जो देश आज **अमरीकन संयुक्त-राज्य** कहलाता है, वह इँग्लेंड से अलग होगया। इसके बाद बचे हुए उपनिवेशों पर इँग्लेंड ने अपनी सत्ता बढ़ाने का प्रयत्न किया। परन्तु मुक्त व्यापार-नीति के कारण समता के भाव फैलने लगे। प्रजातन्त्र के भाव उपनिवेशों में भी जा घुसे। और धीरे धीरे कुछ लोगों को जँचने लगा कि बचे हुए उपनिवेशों में से बहुत से **अमरीका के संयुक्त-राज्य** के समान जुदा हो जाने का प्रयत्न करेंगे। इससे यही बेहतर होगा कि साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य के लिए वे तैयार किये जायँ और उनकी भी भलाई की ओर दृष्टि दी जाय।

आज-कल इटली और हालेंड के उपनिवेशों को भी स्वराज्य के कुछ अधिकार मिल चुके हैं। जहां के लोग सभ्य नहीं हैं, वहाँ किसी प्रकार की प्रातिनिधिक पद्धति जारी करना कठिन है। इस कारण बहुधा

गवर्नर आदि अधिकारियों द्वारा इनका राज्य-शासन चलता है। जहाँ योरपीय लोगों की संख्या कम है, ऐसे अपने उपनिवेशों का शासन फ़्रान्स अपने नौकरों को या फ़ौजी अधिकारियों को भेजकर चलाती है। कहीं कहीं निर्वाचित कौंसिल है। बहुत से उपनिवेशों के प्रतिनिधि फ़्रांस की सिनेट या प्रतिनिधि-सभा के सदस्य हो सकते हैं। अल्जीरिया तो मानों फ़्रांस का एक भाग ही है और इसी तत्त्व पर वहाँ का राज्य चलता है।

५. इँग्लेंड ने कोई निश्चित औपनिवेशिक नीति नहीं प्रस्थापित की। उसके उपनिवेश, क्षेत्रफल, मनुष्य-संख्या, फ़ौजी या सामुद्रिक महत्त्व, संपत्ति, क़ौम, सभ्यता की दृष्टि से सब भिन्न भिन्न हैं। उनकी प्राप्ति भी कई प्रकार से हुई है। परिणाम यह हुआ है कि उपनिवेशों के मूल राज्य-प्रबन्ध को ही परिस्थिति और अनुभव के अनुसार थोड़ा बहुत हेर-फेर कर उसने जारी रखा। जहां के लोग अधिक सभ्य रहे और योरपीय लोगों की संख्या अधिक रही, उन देशों को साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य भी दे डाला है। उनकी पराधीनता भी एक समान नहीं है—वह भी कम-अधिक अनेक प्रकार की है। ब्रिटिश-औपनिवेशिक विभाग ने उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है।

(१) राज्योपनिवेश—इनमें क़ानून का समस्त काम राजा के अधीन है और शासन पर मूल-सरकार की देख-रेख है। अभी अभी थोड़े बहुत अंश में कहीं कहीं प्रातिनिधिक राज्य-प्रबन्ध प्रस्थापित होने लगा है। 'ब्रिटिश लोगों की उपस्थिति के कारण मूल लोगों के हिताहित पर थोड़ा-बहुत ख़याल किया जाता है। परन्तु जो जल-सेना या थल-सेना के केन्द्रस्थान हैं, वहाँ इन्हीं बातों पर या व्यापार पर विशेष ध्यान दिया जाता है। राजा वहाँ के गवर्नर और उसके हाथ के अधिकारियों को नियुक्त करता है और वे ही राज्य चलाते हैं। कहीं कहीं जहाँ कुछ योरपीय लोग सदा के लिए बस गये हैं, वहाँ किसी प्रकार की कौंसिल भी है और वहाँ ये योरपीय बहुधा सदस्य होते हैं।

मलय प्रायद्वीप, ट्रिनिडाड, होण्डुरस, सिअरालोने, जिब्राल्टर, हॉंगकोंग, सिंगापूर और एडन आदि इसी वर्ग में आते हैं।

हिन्दुस्थान के विषय में लोगों को मालूम ही है। इसलिए स्वतन्त्र लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। (नये सुधारों के अनुसार अब हिन्दुस्थान को दूसरे वर्ग में रखना चाहिए।*)

(२) इस वर्ग में वे उपनिवेश आते हैं कि जहाँ थोड़े-बहुत अंश में प्रातिनिधिक तत्त्व जारी कर दिया है। यहाँ प्रातिनिधिक संस्थायें हैं, पर वहाँ की सरकार लोगों के प्रति उत्तरदायी नहीं। क़ानून को रद करने का अधिकार राज्य को है और सब बड़े अधिकारियों पर इँग्लेंड की सरकार की देख-रेख है। शासन-विभाग के सब अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं, चुने नहीं जाते। परन्तु क़ानून-सभाओं में निर्वाचन का तत्त्व कम-अधिक प्रमाण से जारी कर दिया गया है। इस प्रकार क़ानून का बहुतेरा काम उपनिवेशों के लोगों के हाथ में है। तथापि शासन-कार्य नियुक्त किये अधिकारियों के ही हाथ में है और जैसा ऊपर कह चुके हैं, मूल-सरकार की उन पर देख-रेख है। क़ानून को रद करने का अधिकार गवर्नर को होता है और उसके उपयोग के भी मौक़े आये हैं। इस वर्ग में, जमैका, बहामाज़, बर्मूडा, ब्रिटिश-गायना आदि आते हैं।

(३) तीसरे वर्ग में वे उपनिवेश आते हैं कि जहाँ प्रातिनिधिक संस्थायें और उत्तरदायी राज्य-शासन दोनों प्रचलित हैं। क़ानून को रद करने का अधिकार केवल राजा को है और मुख्य गवर्नर को छोड़-कर अन्य किसी अधिकारी पर इँग्लेंड की सरकार का कोई ज़ोर नहीं है। इँग्लेंड की सरकार की सम्मति के बिना ही वहाँ की कार्यकारी कौंसिलों के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं और प्रातिनिधिक सभा का बहुमत जिनके पक्ष में है, ऐसे लोग शासन के अनेक मुहकमों के अधिकारी होते हैं। यहाँ के राज्य-सङ्गठन की रचना मूल देश के

राज्य-सङ्गठन की बहुत कुछ प्रतिकृति है। इस कारण यहाँ भी अमल के असली अधिकार वहाँ के प्रधान मंत्री और मन्त्रिमण्डल के हाथ में होते हैं। जब तक प्रातिनिधिक कानून-सभा का उनके पक्ष में बहुमत रहता है, तब तक वे अपने पद पर रहते हैं। बहुमत प्रतिकूल होने पर वे पदत्याग कर देते हैं। गवर्नर की नियुक्ति प्रचलित प्रबन्ध में हेर-फेर करने का पार्लिमेंट का अधिकार, और इँग्लेंड की प्रिवी कौंसिल तक आख़िरी अपील का अधिकार, इन तीन बातों को छोड़कर, इन उपनिवेशों को पूरा पूरा स्वराज्य प्राप्त होगया है। जब तक साम्राज्य के बहिर्देशीय हिताहितों से क़ानून का सम्बन्ध नहीं होता या जब तक पार्लिमेंट के बनाये क़ायदों से उपनिवेश के क़ायदे विसङ्गत नहीं होते, तब तक गवर्नर क़ानून को रद नहीं करता। बाहर से आनेवाले माल पर वे कर भी लगाते हैं, तो भी इँग्लेंड के बने माल पर बहुधा कर कम होता है। पार्लिमेंट जब कभी दूसरे देशों से सन्धिपत्र करती है, तब इनका कहना भी सुन लेती है। (गत युद्ध के समय से इनका महत्त्व और भी बढ़ गया है। युद्ध के चलाने में भी उनका बहुत कुछ भाग रहा है। उनसे क़रीब क़रीब बराबरी के नाते कई बार सलाहें की हैं।) इस वर्ग में न्यूफाउंडलेंड, न्यूज़ीलेंड, आस्ट्रेलिया, कनाडा और दक्षिण-आफ्रीका आते हैं।

ऊपर के वर्गीकरण पर दो आक्षेप किये जा सकते हैं। जिन देशों पर इँग्लेंड का प्रभाव है, या जहाँ वह रक्षक बन बैठी है, या जहाँ सनदशुदा कम्पनियाँ कारबार कर रही हैं, उनका इस वर्गीकरण में समावेश नहीं है। दूसरे, यह बतलाना बड़ा कठिन है कि पहले वर्ग और दूसरे वर्ग में सच्चा भेद कहाँ है। क्योंकि दूसरे वर्ग की प्रातिनिधिक संस्थाओं के प्रभाव और अधिकार बहुत कम हैं। इसलिए बहुत से लेखक इनके दो ही वर्ग किया करते हैं। एक तो वे जिनका राज्य इँग्लेंड की मर्ज़ी से चलता है, दूसरे वे जहाँ स्वराज्य स्थापित है।

कुछ काल से एक नई कल्पना मूर्त-स्वरूप पा रही है। स्वराज्य पाये हुए उपनिवेशों के क्षेत्रफल, आबादी, सम्पत्ति आदि के कारण उन्हें बहुत महत्त्व मिल चुका है, और वे इँग्लेंड की ही बराबरी करने लगे हैं। इस कारण अनेक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न उपस्थित होते रहते हैं। अनेक बन्धनों के कारण वे सब एक सूत्र में बँधे से जान पड़ते हैं। इँग्लेंड का बहुत सा द्रव्य इन उपनिवेशों में लगा हुआ है। इँग्लेंड की बनी चीज़ों के बदले ये कच्ची चीज़ें देते हैं। बाहरी आक्रमण से इँग्लेंड ने बचाने का ज़िम्मा लिया है, भाषा, साहित्य, रीति, रिवाज, सभ्यता क़रीब क़रीब वही है; और सबसे भारी बात यह है कि एक भारी साम्राज्य के भाग होने का उन्हें गर्व है। इन सबको एक करना कठिन है क्योंकि वे बिखरे हुए हैं। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि वे अपने हिताहितों को इँग्लेंड की पार्लिमेंट के अधीन छोड़ देने को तैयार नहीं हैं। ऐसी अवस्था में साम्राज्यान्तर्गत संयुक्त शासन-प्रणाली की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ है। अनेक उपाय सुझाये गये हैं। उसमें यह एक है कि सारे साम्राज्य की एक पार्लिमेंट हो और अब की पार्लिमेंट केवल इँग्लेंड-स्काटलेंड* की पार्लिमेंट बनी रहे। इससे अबकी पार्लिमेंट की 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' शक्ति चली जावेगी और वह एक हीन संख्या बन जावेगी। दूसरा उपाय यह हो सकता है कि इसी पार्लिमेंट में इन उपनिवेशों के प्रतिनिधि रहें। तब तो क़ायदे की दृष्टि से ये पूरे पूरे इँग्लेंड के बराबर हो जावेंगे। क्योंकि ये भी इँग्लेंड आदि के शासन के कार्य में भाग ले सकेंगे। तीसरा उपाय यह हो सकता है कि इन सबकी एक अलग संयुक्त कौंसिल हो। युद्ध के समय से इसी अन्तिम उपाय का बहुत कुछ उपयोग हो रहा है। इसका आगे कैसा विकास होगा यह कह नहीं सकते। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि इन उपनिवेशों का इँग्लेंड के राज्य-सङ्गठन और शासन पर भारी परिणाम हुआ है और होगा।

*अब आयर्लैंड इसमें से निकल गया है और इसे पूर्ण स्वराज्य मिल गया है।

६. अमरीकन संयुक्त-राज्य के भौमिक विस्तार का इतिहास तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) सन् १७८२ से १८५३ तक। इस काल में यह राष्ट्र अपनी स्वाभाविक सीमा तक धीरे धीरे बढ़ता रहा। इस संयुक्त-राज्य में पहले-पहल केवल तेरह उपराज्य थे। परन्तु ये धीरे धीरे नये प्रदेश आबाद करते गये, वहाँ के लोगों को धीरे-धीरे राजकीय हक़ देते गये और अन्त में उन्हें उपराज्य बनाते गये। इस रीति से संयुक्त-राज्य का विस्तार हुआ है। कुछ थोड़े ऐसे भाग इस राज्य के अधीन हैं, जो उपराज्य की हैसियत नहीं पाये हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ के लोग उसके लायक़ अभी नहीं हुए हैं। परन्तु ऐसे भाग बहुत ही थोड़े हैं।

(२) सन् १८५३ से १८९८ तक। इस अवधि में अलास्का और कुछ छोटे छोटे द्वीपों को छोड़कर कोई महत्त्व की भूमि नहीं मिली। सब शक्ति इस समय भीतरी उन्नति करने में लगी थी।

(३) १८९८ के आगे। इस समय से एक नई नीति का प्रारम्भ हुआ। इस देश ने दूर दूर भी ज़मीन प्राप्त करना और अपना विस्तार करना शुरू किया। इनमें अनेक प्रकार की सभ्यता के लोग हैं।

इस देश की यह नीति ही है कि वह लोगों को 'स्वराज्य' के लिए शिक्षा आदि देकर योग्य बनावे और फिर उन्हें अपने घर का कारबार सौंप दे। थोड़े ही काल में इस देश ने जो कुछ किया है, उस पर से यही जान पड़ता है। अलास्का और हवाई द्वीप को क़रीब क़रीब स्वराज्य प्राप्त हो चुका है। हवाई द्वीप के लोगों को अमरीकन नागरिक के सब अधिकार प्राप्त हो चुके हैं। इन दोनों भागों के प्रतिनिधि कांग्रेस की प्रातिनिधिक सभा में बैठ सकते हैं और वादविवाद में भाग ले सकते हैं। हाँ, वे वोट नहीं दे सकते। पोर्टोरिको और फिलिप्पाइन द्वीप को भी क़रीब क़रीब स्वराज्य प्राप्त हो चुका है। ये

केवल १८६८ में स्पेन से प्राप्त हुए। दो वर्ष के भीतर पोर्टोरिको को और दस वर्ष के भीतर फिलिप्पाइन को क़रीब क़रीब स्वराज्य प्राप्त होगया। सारांश, यह देश यह नहीं समझता कि पराये देशों को अपने अधीन रख अपनी तुम्बड़ी भरनी चाहिए। उन्हें सभ्य और उन्नत बनाने का ही उसका प्रयत्न सदा से रहा है। कभी कभी तो उसने इन कार्यों के लिए अपनी जेब से भी भारी ख़र्च किया है। उन्हें सामान्य शिक्षा, राजकीय तत्त्व और व्यवहार सिखला कर 'स्वराज्य' के योग्य बनाने का पूरा पूरा प्रयत्न किया है।

७. अन्त में हमें उपनिवेश और परतन्त्र देशों की शासन-पद्धति संक्षेप में बतलानी चाहिए। इसके लिए ऐसे भूमि-भागों का वर्गीकरण करना होगा। नीचे जो वर्गीकरण दिया है, वह बहुत स्थूल है। प्रत्येक देश का शासन दूसरे देश के शासन से भिन्न है। परन्तु जिन देशों के शासन बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, उन्हें हमने एक वर्ग में रख दिया है।

(१) प्रभाव के विभाग। गत सदी में उपनिवेश प्राप्त करने की आकांक्षा दुनिया में ख़ूब बढ़ गई थी। योरपीय लोगों ने उपनिवेश तो स्थापित किये ही, पर आगे किस ओर बढ़ना यह भी निश्चित कर डाला। इसके कारण कुछ झगड़े भी हुए। अन्त में उन्होंने आपस में समझौता और सुलहनामे कर लिये। अब उन्होंने यह निश्चित कर डाला है कि किस राष्ट्र का किस किस भूमि पर राजकीय प्रभाव रहे। जिस भूमि-भाग पर जिस राष्ट्र को राजकीय प्रभाव का अधिकार मिल चुका है, उससे वह राष्ट्र चाहे जो संधि करे, उससे चाहे जो अधिकार प्राप्त करे और चाहे तो उसे अपने क़ब्ज़े में, पूर्ण रीति से कर ले। आफ़्रीका और स्याम में इस नीति से ख़ूब काम लिया गया है। और डर है कि किसी दिन चीन भी इसी नीति का भक्ष्य न बन जावे।

(२) औपनिवेशिक संरक्षित देश। राजकीय प्रभाव के प्रदेश को प्रत्यक्ष अधिकार में लाने का एक उपाय यह है कि उसको औपनिवेशिक

संरक्षित देश बना लिया जाय। इनके कई प्रकार हैं। तथापि यथाशक्य स्थानीय रीति-रिवाजों में, संस्थाओं में, और क़ायदों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता। उस प्रदेश के सब बहिर्देशीय सम्बन्ध संरक्षक देश के हाथ में रहते हैं और इस संरक्षित प्रदेश में संरक्षक देश के कुछ ऐसे प्रतिनिधि भी होते हैं कि जो अपना प्रभाव वहां के शासन पर पूरा पूरा डाला करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क़ायदे की दृष्टि में ये प्रदेश संरक्षक देश के भाग ही समझे जाते हैं क्योंकि उसके सब कार्यों के लिए यह संरक्षक देश जवाबदार समझा जाता है। स्थानिक स्वराज्य की बातों में बहुत हस्तक्षेप नहीं किया जाता। असभ्य देशों को इस संरक्षण नीति का लाभ थोड़े ही दिनों तक मिलता है। जल्द ही, उन पर संरक्षक देश का प्रत्यक्ष शासन होने लगता है। आफ्रीका में यही हुआ है।

(३) सनदशुदा कम्पनियां। सत्रहवीं सदी में व्यापार के निमित्त योरप में बहुत सी कम्पनियां बनीं और उन्होंने दुनिया में ख़ूब अधिकार और प्रदेश प्राप्त किये। गत सदी में भी ऐसी अनेक कम्पनियां बनीं। और जिन देशों पर किसी बड़े राष्ट्र का प्रभाव नहीं जमा था, वहां जाकर इन्होंने अपना प्रभुत्व जमा लिया। जो ब्रिटिश नार्थ बोर्निओ कम्पनी १८८६ में बनी थी, वह द्रव्य और राजकीय अधिकार की दृष्टि से सबसे बलवान् है। अन्तर्राष्ट्रीय कांगो-समिति ने तो स्वतन्त्र राज्य ही बना लिया। आफ्रीका के टुकड़े तोड़ने का सौभाग्य बहुत सी कम्पनियों को प्राप्त हुआ है। पहले की कम्पनियों की अपेक्षा इनके राजकीय अधिकार बहुत अधिक होते हैं। आन्तरिक शासन पर इनका पूरा पूरा नियन्त्रण रहता है। इस कारण उन पर भी मूल सरकारों की देख रेख अधिक रहती है। इससे आगे पीछे प्रत्यक्ष शासन के अधिकार लेने की सुविधा होती है। इसके अलावे, आजकल की कम्पनियों की दृष्टि केवल व्यापार पर नहीं बनी रहती। वे तो वहां की चीज़ों को साफ़ करने में लगी रहती हैं। थोड़े ही काल में इन कम्पनियों ने

आश्चर्यजनक काम कर डाला है। ग्रेटब्रिटेन का आफ्रीका में जो भूमि-विस्तार हुआ, उसका बहुत सा श्रेय ऐसी कम्पनियों को ही है। परन्तु स्मरण रहे कि प्रारम्भ में उन्हें उनकी सरकार ने कोई सहायता न दी थी। कुछ काल के बाद उन्हें भूमि और खदानों के बहुत से अधिकार दिये गये।

(४) प्रत्यक्ष शासन। ऊपर एक स्थान पर इँग्लेंड के उपनिवेशों के जो तीन वर्ग बताये हैं, उनमें पहले दो वर्गों में जिस तरह के प्रदेश आते हैं, वे इस वर्ग में शामिल हैं। इँग्लेंड की नाईं फ्रांस, हालेंड आदि देश कई प्रदेशों पर प्रत्यक्ष शासन करते हैं।

(५) इँग्लेंड के उपनिवेशों के तीसरे वर्ग के प्रदेश इस पाँचवें वर्ग में शामिल हैं। यहाँ बहुधा प्रातिनिधिक संस्थायें और उत्तरदायी शासन हैं। यानी, इन्हें आन्तरिक बातों के लिए पूरा पूरा स्वराज्य मिल गया है और अब मूल देशों की वे बराबरी कर रहे हैं। इस कारण, संयुक्त शासन का जो प्रश्न उत्पन्न होता है, उसका भी संक्षेप में विचार कर चुके हैं। ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रश्न के समान दूसरे भी साम्राज्यों के सामने अल्पाधिक प्रमाण में ऐसे प्रश्न उपस्थित हैं।

८. इन अनेक प्रकार के उपनिवेशों के शासन को चलाने के लिए मूल-देशों में जो राजकीय संस्थायें हैं, उनमें परस्पर भिन्नता पाई जाती है। यदि उपनिवेशों को स्वराज्य दिया जा चुका है, तो मूल देश में इनके शासन के लिए कोई भारी योजना नहीं करनी पड़ती। अन्यथा, किसी अच्छी योजना की आवश्यकता होती है। फ्रांस में मंत्री के हाथ के नीचे बड़ा भारी औपनिवेशिक विभाग है। इँग्लेंड में यह काम तीन विभागों में बँटा हुआ है। वास्तविक उपनिवेशों को बहुधा स्वराज्य मिल गया है और वे औपनिवेशिक विभाग के अधीन हैं। हिन्दुस्तान का कारबार भारत-सचिव के हाथ में है, और संरक्षित देशों की देख-रेख बहिर्देशीय मंत्री के हाथ में है। अमरीकन संयुक्त-राज्य

में यह सत्ता अनेक विभागों को बाँट दी गई है। परन्तु सबके ऊपर कांग्रेस की देख-रेख है। अब तक वहाँ इस कार्य के लिए कोई स्वतन्त्र विभाग नहीं बना है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो सकता है कि उपनिवेश, उनका शासन और अधिकार चलानेवालों की नीति दुनिया की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण विषय हैं।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

प्रान्तीय और स्थानिक स्वराज्य

१. अभी अभी तक हिन्दुस्थान का शासन पूर्ण एकरूप राज्य जैसा चलता था--यहाँ एक सत्ता का बाक़ायदा पूरा पूरा अधिकार था। यहाँ की प्रान्तीय सरकारों को जो अधिकार थे, वे सब बहुधा भारतीय सरकार से मिले थे। भारतीय सरकार चाहे जब इन अधिकारों को वापस ले सकती थी। प्रारम्भ में यहाँ की प्रान्तीय सरकारें भारतीय यानी सर्वश्रेष्ठ सरकार के मुनीम के समान थीं। धीरे धीरे, इनका अस्तित्व इँग्लेंड की पार्लिमेंट ने मान लिया और उन्हें बाक़ायदा स्वरूप मिलता गया। उनके शासन की रचना भी पार्लिमेंट निश्चित करती गई। तथापि अधिकार और कार्य ईसवी सन् १९१९ तक भारतीय सरकार की मर्ज़ी पर ही अवलम्बित थे। इस नये क़ायदे से ये बातें कुछ बदल गई हैं। अब भी ख़ुद पार्लिमेंट ने प्रान्तीय सरकारों के कार्य और अधिकार निश्चित नहीं किये हैं। परन्तु भारतीय सरकार को स्पष्ट आज्ञा दे दी है कि शासन-सम्बन्धी कार्यों और अधिकारों का विभाजन अवश्य कर दिया जाय। कुछ अधिकार प्रान्तीय सरकारं के हो जायँ तो कुछ अधिकार भारतीय सरकार के रहें। अब पाठक देख सकते हैं कि भारत के राज्यशासन के विकास की प्रवृत्ति संयुक्त-शासन-प्रणाली की ओर है। तथापि यह भी बात स्पष्ट है कि संयुक्त-शासन के कई आवश्यक लक्षण यहाँ नहीं हैं, और शायद बहुत काल तक न देख पड़ें। कार्य और अधिकार की दृष्टि से हिन्दुस्थान और कनाडा की प्रान्तीय सरकारों में बहुत अंतर नहीं है। जो कुछ अंतर है वह इतना ही है कि वहाँ के प्रान्तीय सरकारों के अधिकार और

कार्य पार्लिमेंट ने निश्चित कर दिये हैं, बाकी सब अधिकार और कार्य कनाडा की सर्वोच्च सरकार के अधीन छोड़ दिये हैं। हिन्दुस्थान में पार्लिमेंट ने सूचना कर दी है कि भारतीय सरकार अपने यहाँ की प्रान्तीय सरकारों के कार्य और अधिकार निश्चित करे। जिस दिन पार्लिमेंट इन प्रान्तीय कार्यों और अधिकारों को अपने कायदे में समाविष्ट कर देगी, उस दिन यहां की ब्रिटिश-सरकार को संयुक्त-शासन का स्वरूप प्राप्त हो जावेगा।

परन्तु प्रश्न हो सकता है कि प्रान्तीय सरकारों की आवश्यकता ही क्यों? क्या हिन्दुस्थान की भारतीय सरकार यहाँ का शासन नहीं कर सकती? प्रान्तीय सरकारों का निर्माण करने के तात्त्विक कारण क्या हैं? उत्तर में हमें कहना पड़ेगा कि संयुक्त-राज्य के उपराज्यों के बने रहने के जो कारण हैं, उनमें से कुछ यहाँ भी लागू होते हैं। जब कोई देश इतना बड़ा हो जाता है कि वहाँ तरह तरह के लोग रहते हैं, भिन्न भिन्न धर्म हैं, भौगोलिक परिस्थिति भी स्थान स्थान पर थोड़ी बहुत भिन्न होती जाती है, वहाँ भिन्न भिन्न भागों की आवश्यकतायें थोड़ी बहुत भिन्न हो जाती हैं। इन भिन्न भिन्न आवश्यकताओं के कारण शासन के कार्य भी स्थान स्थान पर थोड़ा बहुत भिन्न होते जाते हैं। अतएव वहां का शासन भी कुछ भिन्न होना ही चाहिए। प्रान्तीय सरकारों की आवश्यकता इसी तत्त्व पर अवलम्बित है। यदि किसी देश में सब स्थानों की आवश्यकतायें और परिस्थिति बिलकुल समान रहे, तो वहाँ भिन्न भिन्न सरकारों की बिलकुल आवश्यकता न होगी। वहां केवल एक सरकार रहेगी और उसके अधीन छोटे बड़े अनेक कर्मचारी रहेंगे, जो सब बातों में उस एक सरकार की आज्ञा मानते रहेंगे। उदाहरणार्थ, मान लो कि हिन्दुस्थान में सारे देश की आवश्यकतायें और परिस्थिति बिलकुल समान हैं। फिर इन प्रान्तीय सरकारों की रचना अबकी प्रान्तीय सरकारों की रचना से बिलकुल भिन्न हो जावेगी। आज जिस प्रकार

एक प्रान्त का गवर्नर अपने मातहत डिपुटी कलेक्टर या कमिश्नर को एक ज़िले या कमिश्नरी से दूसरे ज़िले या कमिश्नरी को बदल देता है, उसी प्रकार हिन्दुस्थान का गवर्नर जनरल एक प्रान्त के गवर्नर को दूसरे प्रान्त में बदल सकेगा। सारांश में यह कहना ठीक होगा कि हिन्दुस्थान के प्रान्त का शासन केवल एक ज़िले के शासन के समान हो जावेगा। परन्तु यथार्थ बात ऐसी नहीं है। हिन्दुस्थान देश बहुत बड़ा होने के कारण लोगों में क़ौम की, भाषा की, धर्म की, भौतिक आवश्यकताओं की, भौगोलिक परिस्थिति की, अनेक प्रकार की भिन्नता है। इसी कारण आज जैसे प्रान्त बने हैं, वैसे प्रान्तों की आवश्यकता है। एक दृष्टि से ये हिन्दुस्थान सरकार के मुनीम देख पड़ते हैं, तो दूसरी दृष्टि से वे थोड़े बहुत स्वाधीन भी हैं और परस्पर से भिन्न हैं। देश बड़ा होने पर ऐसे प्रान्तीय सरकारों की थोड़ी-बहुत आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। ग्रेटब्रिटेन के राज्य को ही लें तो कुछ अंश तक यह सत्य है कि इँग्लेंड और स्काटलेंड ये एक राज्य के दो प्रान्त हैं। एक रूपराज्य में ऐसे उपराज्यों यानी प्रान्तीय सरकारों की आवश्यकता होती है। हिन्दुस्थान की भाषा में इन्हें लोकल गवर्नमेंट यानी प्रान्तीय सरकार कहा है। दूसरे देशों में लोकल गवर्नमेंट का अर्थ भिन्न होता है। वहाँ उससे उस प्रकार के शासन का बोध है कि जिससे हिन्दुस्थान में स्थानिक स्वराज्य (Local Self-government) का होता है। संयुक्त राज्यों में लोकल गवर्नमेंट का अर्थ वहाँ के अर्ध-स्वाधीन उपराज्य होता है। इस प्रकार देश देश में इस शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं। परन्तु इन उपराज्य और प्रान्तीय सरकारों में कार्यों और अधिकारों की दृष्टि से इतना अधिक भेद नहीं है कि जितना उनके सर्वोच्च सरकार के जाति-भेद के कारण जान पड़ता है। यदि इन सब सरकारों को कार्यों और अधिकारों की दृष्टि से श्रेणिबद्ध किया जाय, तो उनमें बहुत कम भेद देख पड़ेगा। एकरूप राज्य की प्रान्तीय सरकारें और संयुक्त-राज्य के उपराज्य इस दृष्टि से

बहुत कुछ समान देख पड़ेंगे। और इन सबको भारतीय क़ायदे की भाषा के अनुसार लोकल गवर्नमेंट या प्रान्तीय सरकार कह सकते हैं। उनका स्वरूप थोड़ा बहुत सर्वोच्च सरकार के समान होता है। कर वगैरः वसूल करने के भी उन्हें अधिकार होते हैं। उनके विभाग लोगों की क़ौम, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और भौगोलिक परिस्थिति का विचार करके किये जाते हैं। उनके अधिकार के विषय बहुधा समान होते हैं, परन्तु उन्हें अधिकार रहता है कि अपनी आवश्यकतानुसार क़ायदे का स्वरूप निश्चित करें*।

२. बड़े देशों में प्रान्तीय सरकार या उपराज्यों के होने से बहुत सी स्थानिक कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। तथापि सब ही नहीं दूर होतीं। प्रान्त प्रान्त की आवश्यकतायें जिस प्रकार भिन्न होती हैं, उसी प्रकार शहर शहर की, ग्राम ग्राम की और ज़िले ज़िले की भी कुछ निजी आवश्यकतायें होती हैं। ग्राम, शहर अथवा ज़िले की निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह ज़रूरी है कि इन सीमाओं में इन बातों के लिए अलग अलग शासन रहे। इसी को हिन्दुस्थान के क़ायदे की भाषा में लोकल सेल्फ-गवर्नमेंट या स्थानिक स्वराज्य कहते हैं। वास्तव में इस परिच्छेद का यही असली विषय है, और उसी का हम इसमें विस्तृत विवेचन करेंगे।

पहले यह जान लेना चाहिए कि स्थानिक स्वराज्य किसे कहते हैं। इन संस्थाओं की तर्कशुद्धि परिभाषा करना बड़ा ही कठिन कार्य है। सबसे पहला लक्षण यह है कि इनका निर्माण किसी देश की सर्वोच्च सरकार करती है। इसी कारण, उनकी रचना, उनके कार्य और

---

* बड़े देशों की प्रान्तीय सरकारों का स्वरूप आदि हमने संक्षेप में बतलाया है। अँगरेज़ी पुस्तकों में इनका बहुत कम विवेचन रहता है। इसका कारण यह है कि योरपीय देशों में हिन्दुस्थान के जैसे प्रान्तीय विभाग नहीं हैं।

उनके अधिकार भी वही निश्चित करती है और इन बातों में वह चाहे जब परिवर्तन कर सकती है। दूसरी बात यह है कि उनका कार्य-क्षेत्र बहुत परिमित रहता है। जिस क्षेत्रफल में उनका अधिकार चल सकता है, वह तो परिमित होता ही है, परन्तु उनके कार्य का स्वरूप भी स्थानीय होता है—वे बहुधा ऐसे कार्य करते हैं जो उनके अधिकार-क्षेत्र की विशिष्ट आवश्यकतायें हैं। परन्तु केवल अधिकार-क्षेत्र की सीमा ही कोई विशिष्ट लक्षण नहीं है। योरप या अमरीका में कई ऐसे उपराज्य या प्रान्तीय सरकारें हैं कि जिनकी सत्ता बहुत थोड़ी सी हद में चलती है, तथापि वे स्थानिक स्वराज्य नहीं कहला सकते। इसके साथ दूसरे लक्षणों का भी विचार करना आवश्यक है। हाँ, कार्य के स्वरूपों से उनका लक्षण बहुत कुछ निश्चित हो सकता है। एक चौथा लक्षण और हो सकता है, परन्तु यह हमेशा पहले लक्षण का अनुषंगी रहता है। स्थानिक स्वराज्य की संस्थाओं को थोड़ी बहुत स्वाधीनता रहती है। अपने कार्य और अधिकार के भीतर वे बहुत कुछ स्वतन्त्र रहते हैं। ये सरकारी अफ़सरों के समान नहीं होते कि उनके कार्यों में उनके ऊँचे अफ़सर चाहे जब हस्तक्षेप कर सकें। स्थानिक स्वराज्यों को क़ायदे से थोड़ी-बहुत विशिष्ट स्वतन्त्रता मिलती है और उसके भीतर वे अपने इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं। जब तक बहुत ही भारी आवश्यकता न पड़ जावे तब तक सरकार उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती। स्मरण रहे कि स्थानिक स्वराज्य के सदस्यों पर कोई सरकारी अफ़सर यदि अप्रत्यक्ष दबाव डाले तो उसे हम हस्तक्षेप न कहेंगे। ऐसा अप्रत्यक्ष दबाव चाहे जिस पर डाला जा सकता है। इससे क़ायदा या संस्था के तत्त्व नहीं बदल जाते। इतने सब लक्षणों के रहते स्थानिक स्वराज्य को किसी देश की सर्वोच्च सरकार से स्पष्टतया भिन्न कर सकते हैं। परन्तु क्या प्रान्तीय सरकार या संयुक्त शासन-प्रणाली के उपराज्य से इनका भेद किया जा सकता है। हिन्दुस्थान में यह भेद करना कोई बड़ी कठिन बात नहीं है। हमारे

देश में सर्वोच्च सरकार ने स्थानिक स्वराज्य के साधारण तत्त्व, कार्य, अधिकार और स्वरूप निश्चित किये हैं। परन्तु उनके विशिष्ट तत्त्व, कार्य, अधिकार और स्वरूप बहुधा प्रान्तीय सरकारों के क़ायदों से निश्चित होते हैं। इसलिए ऊपर सर्वोच्च सरकार और स्थानिक स्वराज्य के जो भेद बतलाये हैं, वे हिन्दुस्थान की प्रान्तीय सरकारें और स्थानिक स्वराज्य को लागू होते हैं। प्रान्तीय सरकार बहुत सी बातों में सर्वोच्च सरकार का प्रतिरूप रहती है। इस कारण, इन दो तरह की राजकीय संस्थाओं में भेद करना बहुत कठिन कार्य नहीं है।

३. परन्तु प्रश्न हो सकता है कि सर्वोच्च सरकार, प्रान्तीय सरकार या उपराज्यों के रहते इन स्थानिक स्वराज्यों की क्या आवश्यकता है। इसलिए हम अब इनकी आवश्यकता के कारण बतलावेंगे।

उत्तरदायी राज्यशासन का एक तत्त्व यह है कि लोगों के हित-अहित के सूत्र जिनके हाथ में रहें, उन पर लोगों का नियन्त्रण रहे—लोग उन्हें चुनें और वे ही उन्हें आवश्यकता पड़ने पर दूर भी कर सकें। यदि यह तत्त्व किसी राज्य के सारे के सारे कार्यों को लागू हो सकता है, तो एक छोटी सी सीमा के भीतर रहनेवालों से ही सम्बन्ध रखनेवाले कुछ निश्चित कार्यों के लिए और भी चरितार्थ हो सकता है। ऐसा करने से ऐसे कार्यों की व्यवस्था ठीक हो सकती है और लोगों की आवश्यकतायें दूर हो सकती हैं। इस तरह से ये स्थानीय कार्य जितने अच्छे होंगे उतने अच्छे सरकारी अफ़सरों द्वारा न होंगे।

अब उन कार्यों का ख़र्च की दृष्टि से विचार कीजिए। जिन कार्यों से कुछ ही लोगों का सम्बन्ध है, उनके लिए किसी प्रान्त या देश के सारे के सारे लोग क्यों द्रव्य दें? इन कार्यों से जिन्हें लाभ होगा, उनसे ही इनके लिए द्रव्य लेना चाहिए। और इस द्रव्य की वसूली और ख़र्च का प्रबन्ध स्थानीय ही होना चाहिए। उसमें दूसरों के हस्तक्षेप की आवश्यकता ही कहाँ है? उस स्थान के लोग अपनी आवश्यकताओं

को जान सकते हैं—उनके लिए कितना खर्च करना चाहिए या लगेगा इस बात का निश्चय लोग कर सकते हैं, और वह द्रव्य किस रूप से और किन लोगों से आवे इसका विचार वे कर सकते हैं। सारांश, यह सब काम करनेवाले पुरुष उसी स्थान के लोगों के प्रतिनिधि रहें।

तीसरे, प्रान्तीय या सर्वोच्च सरकार पर कामों का बोझ भी कितना लादा जाय? जो प्रबन्ध करना है, वह स्थानिक आवश्यकताओं का है। इस प्रकार की स्थानिक आवश्यकतायें इतनी अनेक हो जावेंगी कि सरकार ने यदि उनके प्रबन्ध के लिए अपने अफ़सर नियत किये तो देखरेख का काम ठीक न होगा। परिणाम यह होगा कि सरकार के प्रबन्ध से, और धीरे धीरे सरकार से, लोग असन्तुष्ट होते जावेंगे। इस असन्तोष के साथ और भी कुछ कारण मिले तो विप्लव का डर बना रहेगा। ऐसी अशान्ति का बना रहना किसी भी देश के लिए हानिकारक है। यदि प्रान्तीय या सर्वोच्च सरकार का स्वरूप उत्तरदायी रहा, तो भी यह काम ठीक न होगा। सारे देश या प्रान्त के थोड़े से प्रतिनिधि इतनी अधिक बातों पर कहाँ तक लक्ष्य दे सकते हैं? और मतदाता लोग उन पर अपना प्रभाव भी कहाँ तक डाल सकते हैं? एक बार चुने जाने पर प्रतिनिधि स्वतन्त्र हो जाते हैं और मतदाता लोग बन जाते हैं परावलम्बी। फिर, एक स्थान के मतदाता लोग सारे के सारे प्रतिनिधियों पर क्योंकर अपना दबाव डाल सकते हैं? स्थानिक प्रतिनिधि को छोड़कर दूसरों का उस स्थान से सम्बन्ध ही क्या है? इस प्रकार, लोग अपने राजकीय अधिकारों के विषय में बेपरवाह हो जाते हैं। वे सचेत बने रहें, सार्वजनिक कार्यों के स्वरूप का और उनके प्रबन्ध का उन्हें थोड़ा-बहुत ज्ञान हो, और इस प्रकार लोग इनसे भारी उत्तरदायित्व के कार्य करने की शिक्षा अपने स्थान में ही पावें, इसके लिए स्थानिक स्वराज्य बहुत आवश्यक है। इससे स्थानिक आवश्यकताओं का सुप्रबन्ध हो सकता है, विप्लव का डर कम हो

जाता है, लोग अपने अधिकारों के विषय में सचेत बने रहते हैं, और सार्वजनिक कार्यों की शिक्षा भी पाते जाते हैं। इसी के साथ, प्रान्तीय या देशी या सरकार को सारे प्रान्त या देश के प्रश्नों पर ध्यान देने के लिए अधिक अवसर मिल सकता है।

इस प्रकार, स्थानिक स्वराज्य से अनेक लाभ हैं।

४. अब विचार करना चाहिए कि इन स्थानिक स्वराज्यों की सीमायें किन तत्त्वों के अनुसार निश्चित की जायँ?

देश या प्रान्त के राजकीय विभाग जिन तत्त्वों के अनुसार होंगे उनमें से बहुत से तत्त्वों का स्थानिक स्वराज्य की सीमायें निश्चित करने के लिए उपयोग हो सकता है। सबसे पहले स्वाभाविक विभागों का विचार रखना आवश्यक है। समुद्र, पहाड़ या बड़ी बड़ी नदियों के कारण जो स्वाभाविक विभाग हो गये हैं, उन्हीं के अनुसार देश या प्रान्त के राजकीय विभाग निश्चित किये जाते हैं। स्थानिक स्वराज्य की सीमाओं का भी निश्चय उसी प्रकार करना चाहिए। एक स्वाभाविक विभाग में रिवाज-रस्म, भाषा, धर्म, और कभी कभी जाति-भेद भी एक ही प्रकार के होते हैं और समान प्राकृतिक परिस्थिति के कारण उपस्थित होनेवाली आवश्यकतायें भी बहुधा एक ही समान होती हैं। और इसी कारण ऐतिहासिक बातें, और तत्कारण पैदा होनेवाली मनोभावनायें भी, एक स्वाभाविक विभाग में समान होती हैं। हाँ, कहीं कहीं ये बातें भिन्न होंगी। उनका उस जगह पर उचित विचार करना आवश्यक है। यदि किसी भाग-विशेष पर प्रकृति से इतिहास का अधिक परिणाम हो तो स्थानिक स्वराज्य के विभाग करते समय इतिहास का विशेष विचार रखना होगा। क्योंकि जिनका इतिहास वही रहा है, उनके रिवाज-रस्म, भाषा, धर्म आदि समान होने की सम्भावना है और इस कारण उनकी आवश्यकतायें भी समान होती हैं। प्रकृति और इतिहास के सिवा, एक तीसरा तत्त्व और है जिसका महत्त्व बहुत ही भारी है। जहाँ थोड़े से स्थान में बहुत से लोग

रहते हैं, वहाँ रास्ते, रोशनी, सफ़ाई, पानी आदि के प्रश्न बहुत महत्त्वकारक हो जाते हैं। अधिक आमदरफ़ के कारण सड़कें पक्की और बहुत सी बनानी होती ही हैं, उन रास्तों पर ठीक रोशनी का प्रबन्ध करना पड़ता है, उन पर भीड़ न होने पावे या रास्ता बन्द न होने पावे, रात को डाकू, चोर इत्यादि से रास्ते में डर न रहे इत्यादि बातों का भी प्रबन्ध रखना होता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि देहात और शहर की आवश्यकतायें थोड़ी बहुत भिन्न होती हैं। इसलिए यथाशक्य उनके प्रबन्ध में भी भेद रखना पड़ता है। अतएव स्थानिक स्वराज्य के लिए देहात और शहर नामक भेद करने पड़ते हैं। एक चौथा तत्त्व यह ख़याल में रखना चाहिए कि उनकी सीमायें बहुत बड़ी न हों। नहीं तो कार्य की शिथिलता उत्पन्न होने का डर रहता है। राजकीय कार्य की शिक्षा की सम्भावना फिर कम हो जावेगी। परन्तु वह इतनी छोटी भी न रहे कि आवश्यक कार्यों के लिए जितने और जैसे लोग चाहिए, उतने और उस प्रकार के लोग न मिल सकें। इतना ही नहीं किन्तु इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि छोटी सी सीमा के भीतर थोड़े इने-गिने, कभी एक ही दो, वज़नदार लोगों का प्रभाव सारी बातों में देख पड़ता है। इसलिए स्थानिक स्वराज्य का क्षेत्र इतना बड़ा रहे कि ऐसे कुछ लोगों का सब बातों में प्रभाव न पड़ सके।

हिन्दुस्थान में स्थानिक स्वराज्य की सीमायें बहुधा राजकीय कार्यों की सीमा पर अवलम्बित हैं। लगान, कर आदि के जो ज़िले बने हैं, उन्हीं के अनुसार दूसरे भी कई राजकीय कार्यों के ज़िले बने हैं। और उन्हीं के अनुसार स्थानिक स्वराज्य की सीमायें निश्चित हुई हैं। हाँ, देहात और शहर का भेद यहाँ पूरा पूरा प्रचलित है। इन दो तत्त्वों के अनुसार ही, डिस्ट्रिक्ट कौंसिल, लोकल बोर्ड, मुनिसिपैलटी, नोटिफाइडएरिया इत्यादि भेद किये गये हैं।

५. स्थानिक स्वराज्य के कार्यों का विचार उनके अस्तित्व की आवश्यकता के कारणों में आ चुका है। स्थानिक स्वराज्य क्यों होना चाहिए इसके जो कारण दिये हैं, उन्हीं से बहुत कुछ जाना जा सकता है कि उनके कार्य क्या होने चाहिए। वे कार्य ऐसे ही रहेंगे जो स्थान स्थान पर, सीमा सीमा में थोड़े बहुत बदलते रहेंगे। सारे प्रान्त या सारे देश में जिन कार्यों की सब जगह आवश्यकता है, ऐसे कार्य बहुधा उनके हाथ में न रहेंगे। उदाहरणार्थ, किसी शहर की सड़कों का कार्य उस स्थान के स्थानिक स्वराज्य के हाथ में रहेगा। इन सड़कों से बाहर के आने जानेवालों को थोड़ा बहुत लाभ अवश्य होगा। परन्तु विशेष लाभ उसी शहर के रहनेवालों को होगा। बाहर के लोगों को जो थोड़ा बहुत लाभ होगा उसकी पूर्ति दूसरी ओर से हो जाती है। ये बाहर के लोग उस शहर में बहुत सी चीज़ें ख़रीदेंगे और इस प्रकार शहर से पाये लाभ के लिए उस शहर को प्रतिलाभ देंगे। बाहर के लोगों के आने से जो क्रयविक्रय होगा, उससे उस शहर की बहुत कुछ समृद्धि होगी। यही बात, रोशनी, सड़कों की सुरक्षितता, पानी, सफ़ाई इत्यादि स्थानिक आवश्यकताओं को लागू होती है। देहात-सम्बन्धी स्थानिक स्वराज्य के कार्य अथवा उनके स्वरूप कुछ भिन्न होते हैं। रोशनी, पानी, सफ़ाई इत्यादि कार्यों का स्वरूप देहात में साफ़ बदल जाता है। शहर में इन कार्यों के लिए जितनी और जिस प्रकार की आयोजना करनी होती है, उतनी और उस प्रकार की आयोजना देहात में नहीं करनी होती। देहात में कभी कभी रोशनी का प्रबन्ध रहता ही नहीं। पानी के लिए आम रास्तों पर कुएँ या तालाब खुदवाने होते हैं, कुएँ, तालाब और नदी-घाटों को साफ़ रखना पड़ता है। परन्तु बड़े शहरों में कुएँ, तालाब और नदी-घाटों से पानी की आवश्यकता का प्रश्न हल नहीं हो सकता। इस कारण, बहुधा नल का प्रबन्ध करना पड़ता है। सफ़ाई की समस्या भी शहर में बड़ी टेढ़ी हो जाती है। देहात में यह कार्य सरलता से हो जाता है। देहात के

सम्बन्ध में सड़कों का प्रश्न बड़ा ही विचित्र स्वरूप धारण करता है। प्रत्येक गाँव से दूसरे गाँव तक सड़कों का होना कठिन क्या, असंभव कार्य है। इसलिए, जहाँ व्यापार वगैरः अधिक हो या जो रास्ता दो शहरों के बीच हो, वहीं बहुधा सड़क बनाई जाती है। अब प्रश्न यह है कि इन सड़कों के बनवाने का कार्य कौन करे। ऊपर ऊपर से यह स्पष्ट दीखता है कि दो शहरों के बीच की सड़क का उपयोग वहीं के लोग अधिक करेंगे। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि देहाती लोगों की शहरों को आने जाने के कारण अथवा व्यापार निमित्त काफ़ी आमदरफ़्त रहेगी। इसलिए, बहुधा, ऐसी सड़कों का प्रबन्ध उस समस्त क्षेत्र भर में जो स्थानिक स्वराज्य होगा, उसके हाथ में रहेगा। इसी प्रकार किसी विभाग भर की सफ़ाई, आरोग्यता, औषधालयों का प्रश्न है। कभी कभी ये प्रश्न इतने महत्त्व के हो जाते हैं कि प्रान्तीय या सर्वोच्च सरकार को ही उन्हें अपने हाथ में लेना होता है। शिक्षा का प्रश्न विवादात्मक है और इस विषय में लोगों के मत समय समय पर सब देशों में बदलते रहे हैं। पहले-पहल, शिक्षा का कार्य व्यक्तिविशेष अथवा समाजविशेष का कार्य था। पीछे, वह प्रत्येक देश की सरकार का होगया। तत्पश्चात्, सरकारों ने स्थानिक स्वराज्य-प्रबन्ध पर इसका थोड़ा-बहुत भार किसी प्रकार झोंक दिया। परन्तु जब से अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न उठा है, तब से किसी न किसी रूप में शिक्षा का भार फिर भी प्रान्तीय अथवा सर्वोच्च सरकार के ऊपर उलट कर जा रहा है। दुनिया का मत हो रहा है कि बालक की शिक्षा कुछ काल तक अनिवार्य रहे। अभी कहाँ हिन्दुस्थान में प्राथमिक शिक्षा को ही अनिवार्य मानने की ओर प्रवृत्ति है। परन्तु दूसरे देशों में लोकमत ने इससे आगे पैर रख दिया है। कहीं-कहीं तो सारी की सारी शिक्षा का भार वहाँ की सरकार के सिर पर है या वहाँ की सरकार ने अपने सिर पर ले लिया है। जहाँ, शिक्षा का थोड़ा बहुत भार स्थानिक स्वराज्य के सिर पर है, वहाँ देहाती स्थानिक स्वराज्य और शहर के स्थानिक

स्वराज्य के इस विषय के कार्यों में थोड़ा बहुत भेद है। देहात में प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता अधिक है, तो शहर में उससे उच्च शिक्षा की आवश्यकता अधिक है। इसलिए, किसी पूरे बड़े विभाग का स्थानिक स्वराज्य बहुधा प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध करता है, तो शहर में उच्च शिक्षा का अधिक प्रबन्ध होता है। परन्तु सारांश में यही कहना होगा कि इस विषय में कोई सार्वजनिक नियम बतलाना असंभव है—आवश्यकता के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध हुआ करता है। इनके सिवा, लोगों के सुभीते के बहुत से काम इन्हें करने पड़ते हैं। सराय, नदी के घाट, सड़कों पर झाड़ लगाना, टीका लगवाना, क़साईख़ाने, बाज़ार, इत्यादि इन्हीं के काम हैं। इनके अलावे कभी कभी उपस्थित होनेवाले काम, जैसे मेला, प्रदर्शनी, आदि का प्रबन्ध इन्हें करना पड़ता है। कभी कभी, पुस्तकालय, वाचनालय आदि का भी प्रबन्ध करना होता है। वास्तव में, लोगों के मानसिक, शारीरिक, नैतिक उन्नति के लिए जो कुछ आवश्यक है और स्थानिक स्वराज्य की पहुँच के भीतर है, वह सब इन्हें करना पड़ता है। ये कार्य और उनके स्वरूप स्थान स्थान पर, समय समय पर, और देश देश में, प्रान्त प्रान्त में, बदलते रहते हैं। उनका हमने केवल बहुत मोटी तरह से यहाँ दिग्दर्शन किया है।

६. इन सब कार्यों के प्रबन्ध के लिए बहुत से नियमों की आवश्यकता होती है। बहुधा क़ायदे से स्थानिक स्वराज्य की सामान्य रचना, सामान्य कार्य और सामान्य अधिकार निश्चित होते हैं। उनकी रचना, कार्य और अधिकार के विशिष्ट नियम पीछे से बनते हैं और बहुधा यह कार्य अमल-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी, या इस अधिकारी द्वारा निश्चित अन्य कोई दोयम दर्जे का अधिकारी या अधिकारी-मण्डल करता है। उनकी कार्यवाही के भी नियम बहुधा ऐसे ही किसी अधिकारी द्वारा निश्चित होते हैं। परन्तु जिन कार्यों का प्रबन्ध करना है, वे कार्य स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न होते हैं, उनके स्वरूप

भी बदलते हैं, और उनके प्रबन्ध के लिए संस्थायें जवाबदार होती हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि इन कार्यों के प्रबन्ध के लिए जिन जिन सूक्ष्म नियमों की ज़रूरत हो, उनके निर्माण का अधिकार इन्हीं संस्थाओं के हाथ में रहे। सर्वोच्च या प्रान्तीय सरकार, या उनके हाथ के नीचे रहनेवाले अधिकारी यह काम अच्छी तरह न कर सकेंगे। विशिष्ट आवश्यकतायें और परिस्थिति का ज्ञान कर लेना उनके लिए बड़ा ही कठिन और ख़र्चीला कार्य होगा। इसलिए उनके बनाये नियम, कभी अनावश्यक कड़े, तो कभी अनावश्यक ढीले, तो कभी नितांत अनावश्यक होंगे और कुछ आवश्यक नियम छूट भी जायँगे। परिणाम यह होगा कि लोग स्थानिक स्वराज्य को ज़ालिम या अनावश्यक संस्थायें समझने लगेंगे और ये दूसरों के नियमों के कारण इस प्रकार व्यर्थ ही बदनाम होंगी। सख़्त या अनावश्यक क़ायदों से एक परिणाम बहुधा और होता है। वह यह है कि लोगों के मन में क़ायदे के प्रति आदर नहीं रह जाता—वे उसके पालन में बे-परवाह हो जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इन सूक्ष्म नियमों को स्थानिक स्वराज्य ही निर्मित करे। क़ायदे-क़ानून का एक यह भी तत्त्व है कि जिन्हें क़ायदे-क़ानून का पालन करना है उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ उनके बनाने में अवश्य रहे। यह तत्त्व स्थानिक स्वराज्य के छोटे छोटे नियमों को और भी अधिक लागू होता है। और सबसे भारी बात यह है कि 'स्थानिक स्वराज्य' के अर्थ के अनुसार उन्हें कुछ 'स्थानिक स्वराज्य' ज़रूर चाहिए। यदि सब ही नियम सर्वोच्च सरकार या प्रान्तीय सरकार या उनके अधिकारी या अधिकारि-मण्डल ने बनाये तो उन नियमों का पालन करवानेवाले किस बात में स्वतंत्र रहे, उनका 'स्वराज्य' किस बात में रहा? वे तो फिर उस अधिकारी के पूरे पूरे नौकर बन गये, फिर उन्हें वेतन मिले या न मिले। इसलिए 'स्थानिक स्वराज्य' को अपने कार्यों के प्रबन्ध के लिए आवश्यक है कि उन्हें अपने प्रबन्ध के सब सूक्ष्म नियम बनाने का अधिकार रहे। स्थानिक

स्वराज्यों को सूक्ष्म नियम बनाने का अधिकार देने का एक और कारण है। ऊपर एक स्थान पर स्थानिक स्वराज्य की आवश्यकता बतलाते हुए हमने कहा है कि स्थानिक स्वराज्य से राजकीय कार्यों की शिक्षा मिलती है। उत्तरदायी राज्यशासन में एक यह तत्त्व रहता है कि लोग क़ायदे-क़ानून बनाने में भाग लें। यह बहुत महत्त्व का है, क्योंकि इन क़ायदे-क़ानूनों से लाखों लोगों का सम्बन्ध होता है। इस कार्य के लिए योग्य शिक्षा और व्यापक दृष्टि उत्पन्न होने के लिए लोगों के नेताओं को कहीं अवसर मिलना चाहिए। स्थानिक स्वराज्य ऐसी संस्था है कि जहाँ ऐसा अवसर मिल सकता है। इसलिए, स्थानिक स्वराज्य को छोटे छोटे नियम बनाने का अधिकार रहना अत्यन्त आवश्यक है। शर्त यही रहे कि उनसे उच्च अधिकारियों के बनाये नियमों या क़ायदों से इन संस्थाओं के नियमों का विरोध न हो, इनके नियम उनसे उच्च अधिकारियों के बनाये नियमों या क़ायदों के बिलकुल अनुकूल हों और इनका किसी प्रकार अतिक्रमण न हो।

परन्तु इस अन्तिम शर्त का यह अर्थ होता है कि नियम बनाने के इनके अधिकार परिमित रहें। यह आवश्यक रहे कि नियमों का मसौदा सर्वोच्च सरकार या प्रान्तीय सरकार या उनके द्वारा निश्चित किये किसी मण्डल के पास भेजा जावे। नीति, क़ायदा और उच्च अधिकारियों द्वारा बनाये नियमों से स्थानिक स्वराज्य के नियमों का विरोध या उनका अतिक्रमण न हो, यह बात देखने का कार्य स्थानिक स्वराज्य के अधिकारियों पर नहीं छोड़ा जा सकता। निष्पक्षपात से ये कार्य वे न कर सकेंगे। न वे इस कार्य के योग्य ही होते हैं। उनकी दृष्टि और योग्यता संकुचित और परिमित हुआ करती है। इसलिए यह काम उन्हीं का है जो सब पर नज़र बनाये रहते हैं और जिनके सामने से ऐसे अनेक प्रश्न गुज़र चुके हैं। स्थानिक स्वराज्य के नियमों ने यदि सार्वत्रिक क़ायदों का बंधन या उद्देश्य विफल किया, तो इन सार्वत्रिक क़ायदों का ज़ोर ही क्या रहा? स्थान स्थान पर यदि नियम

इतने बदलते जायँ कि लोग निश्चय न कर सकें कि कहाँ कौन से नियमों का पालन किया जाय तो लोगों में नियमों के उल्लङ्घन की प्रवृत्ति बढ़ जावेगी। स्थान स्थान के नियमों में ऐसा घोर विरोध न होने पावे, इसलिए आवश्यक है कि वे सब एक सत्ता की नज़र से गुज़रें। स्थानिक स्वराज्य के सदस्य थोड़े पढ़े-लिखे (और कभी कभी, हिन्दुस्थान जैसे देश में, अनपढ़े भी) लोग होना सम्भव है। इनके बनाये नियमों में अनेक दोष रह जाने की सम्भावना है। इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि ये नियम किसी योग्य अधिकारी की, विशेषकर, जो पुरुष क़ायदे और नियम हमेशा बनाते हैं ऐसे लोगों की, नज़र से एक बार अवश्य गुज़रें। अदालतों की दृष्टि से भी आवश्यकता मालूम होती है कि स्थान स्थान के नियमों में विरोध बहुत कम हो। अदालत के द्वारा लोगों पर अन्याय न होने पावे, वकीलों को इन नियमों के जानने में बहुत कठिनाई न पड़े, इसके लिए आवश्यकता है कि स्थान स्थान के ये नियम एक उच्च अधिकारी की या अधिकारीवर्ग की नज़र में अवश्य गुज़रें। एक दूसरी शर्त यह है कि लोगों को इन नियमों की काफ़ी इत्तला दी जाय और आक्षेपकों के आक्षेप सुन लिये जायँ। इससे नियमों के बनाने में बहुत कुछ सहायता होगी। जिस प्रकार क़ायदों पर लोगों की ओर से लोकप्रतिनिधियों की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता है, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि स्थानिक स्वराज्य के नियमों पर लोग भरपूर विचार करें और टीका-टिप्पणी कर सकें। इन दो शर्तों के पालन करने से एक और यह काम सिद्ध होगा कि किसी ख़ास तरह के जनवर्ग पर स्थानिक की स्वराज्य सख़्ती न हो सकेगी। उन लोगों को आक्षेप करने के लिए और सरकार के पास भी अपने आक्षेप कहने के लिए काफ़ी समय मिलेगा। इन दिनों में खुल्लमखुल्ला ज़ालिम नियम बना कर, कम से कम, स्थानिक स्वराज्य को शक्य नहीं कि वह लोगों पर ज़ुल्म कर सके।

७. समुचित प्रबन्ध के लिए द्रव्य चाहिए । कोई भी कार्य बिना द्रव्य के नहीं हो सकता । स्थानिक स्वराज्य में द्रव्य कहाँ से आवे ? यह उत्तर विचार के बाहर है कि इन्हें प्रान्तीय या सर्वोच्च सरकार इन कार्यों के लिए सब द्रव्य दे । कार्य स्थानिक हैं, प्रबन्ध स्थानिक है, जवाबदारी स्थानिक है, इसलिए द्रव्य का भी यथाशक्य स्थानिक होना अत्यावश्यक है । तो ये स्थानिक स्वराज्य द्रव्य कहाँ से लावें ? जिनके लिए प्रबन्ध करना है, उन्हीं से किसी न किसी रूप में द्रव्य लेना होगा । सफ़ाई, सड़क, शिक्षा, रोशनी आदि से जिन लोगों को फ़ायदा होता है, या जिनको या जिनके वंशजों को फ़ायदा होने की सम्भावना है, या जो चाहें तो इन बातों से फ़ायदा उठा सकते हैं, उन्हीं से इन कार्यों के लिए द्रव्य आवे । जायदाद (स्थावर और जङ्गम) से ही अधिक द्रव्य आने की सम्भावना है। किसी किसी देश में किसी ख़ास तरह की जायदाद विशेष महत्त्व की रहती है । इसलिए उन देशों में ऐसी जायदादों पर कर लगाया जाता है । हिन्दुस्थान में बहुधा सफ़ाई, सड़क और शिक्षा के लिए काश्तकारी ज़मीन लगान के साथ साथ प्रत्येक ज़िले के इन कार्यों के लिए कुछ निश्चित कर लिया जाता है । शहरों में काश्तकारी ज़मीन के बदले घर विशेष महत्त्व के होते हैं । इसलिए शहरों में बहुधा घरवालों से घर के कारण ही कर लिया जाता है । देहातों में घर पर कर लगाने से विशेष लाभ नहीं होता । प्रत्युत, ग़रीबों को कष्ट होते हैं । वहाँ काश्तकारी ज़मीन पर कर लगाया जाता है । परन्तु कुछ लोग वहाँ ऐसे भी हो सकते हैं, जो अच्छे घर वग़ैरः रखते हैं, रोज़गार धंधा करते हैं, सड़क-शाला-सफ़ाई आदि के प्रबन्ध से लाभ उठाते हैं । परन्तु काश्तकारी ज़मीन उनके पास नहीं है । ऐसे लोगों से इन कार्यों के लिए प्रत्यक्ष कर लेने का अधिकार स्थानिक स्वराज्य को रहे । स्थानिक स्वराज्य की आमदनी का यह बड़ा भारी ज़रिया हुआ । परन्तु इतने से काम न चलेगा । इन्हें बहुत से ऐसे प्रबन्ध करने पड़ते हैं जिनसे किसी ख़ास तरह के लोगों को विशेष

लाभ होता है। उदाहरणार्थ, बाज़ार या नदीघाट। बाज़ार में चीज़ें बेचनेवालों से या नदीघाट के प्रबन्ध से फ़ायदा उठानेवालों से प्रत्यक्ष कर लिया जाय तो अनुचित न होगा। यही बात मेला, प्रदर्शिनी आदि को भी लागू होती है। नजूल ज़मीन भी आमदनी का ख़ासा ज़रिया होता है। शहरों में सड़कों से जिन्हें अधिक लाभ होता है, उदाहरणार्थ, टाँगा, गाड़ी, मोटर, बाइसिकल इत्यादि चलानेवाले, उनसे विशेष कर लिया जाय तो बहुत अनुचित न होगा। जिनके कारण सड़क अधिक ख़राब होती है और जिनके लिए सड़कों को अच्छी दशा में रखना अत्यन्त आवश्यक है, वे विशेष कर देने के लिए यदि बाध्य किये जायँ तो लोगों को ठीक ही मालूम होगा। ढोरों वग़ैरह से लोगों को कष्ट न हो, इसके लिए आवश्यक है कि लोग उन्हें अपने क़ाबू में रखें। जो यह नहीं करते और जिनके ढोरों से लोगों की जायदाद को नुक़सान होता है, वे इस असावधानी के लिए जुर्माना देने को बाध्य किये जा सकते हैं। जुर्माने का वाजबी अर्थ लोगों की जायदाद को हानि से बचाने का है, तथापि लोग असावधान हुआ करते हैं और उससे स्थानिक स्वराज्य को थोड़ी बहुत आमदनी हो सकती है। इसी प्रकार, नियमों और क़ायदों के उल्लङ्घन के लिए लोगों को दण्ड देना पड़ता है। और कई कारणों से यह आवश्यक होता है कि यह दण्ड यथासम्भव आर्थिक रहे। स्थानिक स्वराज्य की आमदनी का यह भी एक ज़रिया है। कभी कभी बड़ी आवश्यकता पड़ने पर उन्हें इस बात का भी अधिकार रहे कि वे प्रान्तीय या सर्वोच्च सरकार की परवानगी से कोई ख़ास कर ले सकें। शहरों में पानी के प्रबन्ध के लिए अलग कर लेते हैं। इस प्रकार स्थानिक स्वराज्य की आमदनी के अनेक मार्ग हो सकते हैं। परन्तु क्या प्रान्तीय या सर्वोच्च सरकार पर इस ख़र्च का कुछ भी बोझ न रहे? दोनों प्रकार का शासन आख़िर को लोगों के लिए ही है। एक ज़िले में शिक्षा का, आवागमन का, सफ़ाई का जो प्रबन्ध होगा, उससे क्या दूसरे ज़िले के लोगों को कुछ भी लाभ

न होगा ? उत्तर बड़ा स्पष्ट है । एक ज़िले में इन बातों के प्रबन्ध से पास ही के ज़िलों को, नहीं तो दूर के अन्य ज़िलों को भी लाभ होता है। इसलिए, क्या यह आवश्यक नहीं कि दूसरे भी लोग थोड़ा बहुत द्रव्य इन कार्यों के लिए दें ? इसका भी उत्तर यही है कि अवश्य देवें । फिर वे किस प्रकार दे सकते हैं ? इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि इन कार्यों के प्रबन्ध के लिए जो ख़र्च होता है, उसका कुछ भार सरकार उठाये। शिक्षा के समुचित प्रबन्ध से ज़िले के और अन्य ज़िले के लोगों का लाभ होता है तो सरकार का कर्तव्य है कि उसके ख़र्च का कुछ भाग वह ख़ुद दे। सड़क से लोगों को लाभ होता है ही, परन्तु सरकार के एक कर्तव्य में बड़ी भारी सहायता होती है । शान्तता रखने का कार्य सरल हो जाता है। उसी प्रकार, सफ़ाई से, विशेष कर, साङ्क्रामिक रोगों को रोकने के प्रबन्ध से सारे देश को लाभ होता है । तात्पर्य यह निकलता है कि सड़क और सफ़ाई के, विशेषकर, साङ्क्रामिक रोगों को रोकने के, ख़र्च के कुछ विशिष्ट भाग सरकार देवे। इतना ही नहीं तो विशिष्ट आवश्यकताओं के समय में सरकार कुछ विशिष्ट सहायता करे। तब ही, स्थानिक स्वराज्य की आमदनी उसके ख़र्च के लिए काफ़ी हो सकेगी।

बड़े शहरों में चीज़ों का आना जाना ख़ूब होता है। शहर में चीज़ें आने पर उसकी सीमा पर क्या उन आनेवाली वस्तुओं पर कोई कर लिया जाय ? हिन्दुस्थान में यह कर लिया जाता है। फ़्रांस में भी यह कर प्रचलित है । परन्तु अर्थ-शास्त्रज्ञों का मत है कि यह कर न लेना चाहिए। इससे व्यापार में बाधा होती है और लोगों को बहुतेरे कष्ट होते हैं। इसलिए इस कर का न रहना ही उचित है।

अब प्रश्न यह है कि क्या 'स्थानिक' स्वराज्य आय के सम्बन्ध में बिलकुल स्वतन्त्र रहे ? ऊपर एक जगह यह बतला चुके हैं कि कोई विशिष्ट कर लगाते समय या किसी ख़ास वर्ग पर कर लादते समय प्रान्तीय सरकार या सर्वोच्च सरकार से परवानगी लेने की आवश्यकता

रहे। वास्तव में, नियमों के विषय में हमने जो कहा है, वह करों को भी लागू होता है। कोई नया कर लगाने से पहले स्थानिक स्वराज्य सरकार को उसकी सूचना दे, साथ ही लोगों को भी इत्तला दे। सरकार की परवानगी मिलने पर और लोगों के आक्षेप सुन लेने पर ही कोई नया कर लगाया जावे। दूसरी बात यह है कि अर्थ-शास्त्र में कर-सम्बन्धी जो सामान्य नियम हैं, उन पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। स्थानिक स्वराज्य के सदस्य शायद इतने पढ़े-लिखे न हों इसलिए कोई भी नया कर सरकार की परवानगी से लगे और लोगों को उन पर आक्षेप करने का मौक़ा मिले। सम्भव है कि कोई पढ़े-लिखे लोग या सरकारी अधिकारी यह दिखला दें कि अमुक कर लगाने से लोगों में असन्तोष फैलेगा, या कोई लाभ न होगा या दो बार लगाया जा रहा है या उसके वसूल करने में ही अधिक ख़र्च लग जावेगा। सारांश, साधारण नियमों के समान करों के भी नियम कर लगाने के पहले सरकार और उस स्थानिक स्वराज्य के लोगों की दृष्टि में ज़रूर लाये जायँ और उनका कहना सुन लिया जाय। इससे एक यह भी लाभ होगा कि ख़ास वर्ग के लोगों पर ज़ुल्म न हो सकेगा।

आय-व्यय के सम्बन्ध में एक प्रश्न और है। सरकार कभी कभी क़र्ज़ लेती है। क्या उसी प्रकार स्थानिक स्वराज्य को भी अधिकार रहे? अभी तक जिन तत्त्वों का विवेचन किया है, उनसे यही जान पड़ता है कि अधिकार अवश्य रहे। परन्तु कितना, किन शर्तों पर और किन अवस्थाओं में लिया जाय इसका निर्णय सरकार करे। यह बहुत महत्त्व की बात है, और उस पर उच्च सत्ता की नज़र रहना बहुत आवश्यक है। नहीं तो किसी समय किसी स्थानिक स्वराज्य के सदस्य कुछ का कुछ कर बैठेंगे। और उसके लिए लोगों को और सरकार को कष्ट भोगना पड़ेगा।

८. अब हम सोच सकते हैं कि इस समस्त प्रबन्ध के लिए स्थानिक स्वराज्य की रचना कैसी हो।

काम चलाया जाय। इस पर एक दो भारी आक्षेप हैं। एक आक्षेप यह है कि राज्य-शासन के प्रत्येक काम को इस प्रकार बाँटना ठीक नहीं। राज्य के बहुत से काम ऐसे होते हैं कि जिनका परस्पर से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, उनका परस्पर पर परिणाम होता है और वे एक दूसरे पर नितान्त अवलम्बित रहते हैं। शासन के कार्यों को इस प्रकार विभक्त करने से उनमें घोर विरोध पैदा हो सकता है। दूसरा आक्षेप यह है कि सब ही मतदाता लिखे-पढ़े और योग्य पुरुष नहीं रहते। अच्छे लिखे-पढ़े लोगों की संख्या सदैव थोड़ी रहती है। उनमें सार्वजनिक कार्यों के योग्य पुरुषों की संख्या और भी थोड़ी। और सार्वजनिक कार्यों को करने की इच्छा रखनेवालों की उनसे भी थोड़ी। इसलिए शासन के काम के योग्य बहुत थोड़े ही पुरुष होते हैं। फिर, सार्वजनिक कार्यों के लिए योग्यता और इच्छा रहने से ही काम नहीं चलता। यह स्थानिक स्वराज्य का काम अवैतनिक होने के कारण यह भी आवश्यक है कि कार्यकर्ताओं को काफ़ी फ़ुरसत रहे। यानी अपनी जीविका के लिए श्रम करने के बाद सार्वजनिक कार्यों के लिए उनके पास समय होना चाहिए। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सैकड़ों में केवल दस बीस ही यह काम कर सकते हैं। सदा के लिए सब मतदाताओं पर थोड़ा भी काम लादना शक्य नहीं। इसलिए, जो पुरुष सार्वजनिक कार्य करना चाहते हैं, इस प्रकार जो दिखलाते हैं कि हमें फ़ुरसत है और जिनमें आवश्यक योग्यता है, ऐसे लोगों पर ही स्थानिक स्वराज्य का काम सौंपना चाहिए। मतदाताओं की समिति को कोई काम हमेशा के लिए न सौंपने का एक कारण और भी है। जो माल सबका होता है, वह वास्तव में किसी का नहीं होता, उसके लिए कोई जवाबदार नहीं रहता। उसी प्रकार, जो काम सबका होता है, वह वास्तव में किसी का नहीं होता, उसकी जवाबदारी कोई नहीं उठाता। इसलिए यह आवश्यक है कि किसी कार्य के लिए, विशेषकर, अमली काम के

लिए, सदा एक ही पुरुष ज़िम्मेदार रहे, निर्णय का काम भले ही कुछ अधिक लोगों की सभा में हो। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि सब शासन के ऊपर एक उत्तरदायी पुरुष हो और जिसके साथ निर्णय के लिए एक सभा या समिति हो। आख़िरी जवाबदारी एक पुरुष पर डालने से शासन का काम अच्छा होता है। उसकी सत्ता पर नियन्त्रण करने के लिए, उसके कार्यों पर देख-रेख रखने के लिए; एक सभा भले ही रहे। सारांश, किसी भी दृष्टि से देखा जाय, परिणाम यही निकलता है कि कुछ थोड़े योग्य और इच्छुक लोगों को स्थानिक स्वराज्य का कार्य सौंपा जाय और उनमें एक सब कार्यों के लिए जवाबदार हो। परन्तु इस पर प्रश्न हो सकता है कि इन पुरुषों की नियुक्ति किस प्रकार हो? इसका कुछ उत्तर ऊपर दे ही चुके हैं। एक तो यह स्थानिक स्वराज्य है। यदि सर्वोच्च राज्य का सर्वोच्च उत्तरदायी अधिकारी चुना हुआ रहना आवश्यक है, तो स्थानिक स्वराज्य का सर्वोच्च अधिकारी अवश्यमेव चुना हुआ होना चाहिए। यह लोगों के प्रति प्रत्यक्ष उत्तरदायी रहेगा। चुना हुआ पुरुष जितना जवाबदार हो सकेगा उतना कोई नियुक्त पुरुष नहीं। इतना ही नहीं बरन वह सदा जवाबदार बना रहे, वह सिरज़ोर न होने पावे इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उसका कार्य-काल उसके जीवनपर्यंत न रहे, वह परिमित और अल्पकाल के लिए ही अपने पद पर रहे। परन्तु वह काम इतना अल्प न रहे कि उसके कार्यों के परिणाम उसके कार्यकाल में न दीख सकें, काम सीखते सीखते ही सारा समय समाप्त हो जावे, और इस प्रकार अपनी जवाबदारी वह दूसरों पर झोंक दे सके। कम से कम तीन और अधिक से अधिक पाँच वर्ष तक वह रहे तो ठीक आवश्यक समय उसे मिला करेगा। उसे अयोग्य पाने पर, या उसके सिरज़ोरी दिखलाने के कारण, या और किसी कारण वह अयोग्य हो जाने से, या उसकी इच्छा आगे कार्य करने की न रहने के कारण, लोग फिर दूसरा अधिकारी चुन सकेंगे। जो बातें हमने सर्वोच्च

अधिकारी के कार्यकाल के विषय में बतलाई हैं, वे उसकी सभा के सदस्यों को भी लागू होती हैं। वास्तव में, जैसा सार्वदेशीय सरकार के सङ्गठन में होता है, दोनों का कार्यकाल ठीक वही होना अत्यन्त आवश्यक है।

हमने कहा है कि मतदाताओं की सभा के बदले उनके प्रतिनिधियों की सभा रहे और वही स्थानिक शासन का कार्य करे। परन्तु क्या इस सभा में किसी दूसरे प्रकार के सदस्य न हों? इसका उत्तर देने के पहले एक दूसरी ही बात का विचार करना होगा। स्थानिक स्वराज्य में क़ानून का और अमल का काम करने के लिए सर्वोच्च राज्य-प्रबन्ध के समान अलग अलग प्रबन्ध होना चाहिए, या ये दोनों काम एक ही सभा के हाथ में रहें। सर्वोच्च राज्यप्रबन्ध की तुलना से कोई कोई कह उठेंगे कि हाँ, ऐसा अलग ही प्रबन्ध होना आवश्यक है। किन्हीं किन्हीं देशों में कुछ अंश तक ऐसा कार्यविभाजन स्थानिक स्वराज्य में भी है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऐसा विभाजन आवश्यक है? स्थानिक स्वराज्य में क़ानून का काम बहुत कुछ परिमित और विशिष्ट होता है। स्थानिक स्वराज्य के सङ्गठन के लिए जो क़ायदा बनता है, उसी में उसके क़ानून-सम्बन्धी अधिकार परिमित और विशिष्ट होते हैं। दूसरे, सर्वोच्च सरकार के अमल-विभाग-द्वारा इसी प्रकार के कई अन्य नियम भी बनते हैं। फिर, सर्वोच्च सरकार द्वारा बहुधा एक स्थानिक स्वराज्य-समिति नियमित रहती है जो कई अन्य नियम बनाती है। चौथे, स्थानिक स्वराज्य की सभा में जो क़ानून बनेंगे उन पर लोगों की टीका-टिप्पणी होगी और सरकार की या सरकार द्वारा नियमित स्थानिक स्वराज्य-समिति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में कड़े नियमों के बनने का उतना डर नहीं जितना सर्वोच्च सरकार के क़ायदों से यह डर बना रहता है। यहाँ पर क़ायदों की सख़्ती को नरम करने के उतने मौक़े और ज़रिये नहीं कि जितने स्थानिक स्वराज्य में हैं। उसी प्रकार, स्थानिक स्वराज्य के

सदस्यों का अमल-सम्बन्धी काम बहुधा निर्णयात्मक रहता है। अमल के जितने काम उनकी सभा में आते हैं, वे बहुधा निर्णयात्मक और समालोचनात्मक होते हैं। वास्तविक अमल में लाने का कार्य बहुधा हमेशा के लिए नियत किये वेतन पानेवाले स्थानिक स्वराज्य के नौकर यानी क्लार्क, मुंशी किया करते हैं, सभा की सम्मति से प्रेसिडेंट आज्ञा देता है और ये क्लार्क उसे वास्तव में अमल में लाते हैं। कभी कभी प्रेसिडेंट अपनी ही ज़िम्मेदारी पर आज्ञा दिया करता है, या ख़ुद कुछ अमल का काम करता है। बचाबचाया, बहुधा अपने अपने स्थान-विभाग का, काम सदस्य लोग व्यक्तिशः किया करते हैं। उन पर प्रेसिडेंट और सभा की देख-रेख अवश्य रहती है। इससे स्पष्ट है कि सभा का अमल-सम्बन्धी काम ऐसा बहुत थोड़ा होता है कि जिसके साथ यदि क़ानून का यानी नियम बनाने का अधिकार जोड़ दिया जाय तो ज़ुल्म होने का डर पैदा होगा। आगे ही जहाँ अच्छे पढ़े-लिखे, सार्वजनिक कार्यों के लिए योग्यता और इच्छा रखनेवाले, और साथ ही इन कार्यों के लिए समय निकाल सकनेवाले लोग थोड़े हैं, वहाँ अमल के लिए एक और क़ानून या नियम बनाने के लिए दूसरी सभा रखना अनावश्यक है। सारांश, प्रान्तीय या सर्वोच्च राज्य-प्रबन्ध में अमल और क़ानून के विभाजन की जो आवश्यकता है, वह स्थानिक स्वराज्य में विशेष नहीं। दोनों कार्य एक ही सभा-द्वारा हो सकते हैं। परन्तु शर्त यह है कि इस कारण किसी के साथ ज़ुल्म न होने पावे। कई अच्छे जायदादवाले लोग किसी कारण से मतदाता नहीं हो सकते और इस कारण उनका एक भी प्रतिनिधि नहीं रहता। या, कई ऐसे लोग भी रहते हैं कि जिनकी संख्या बहुत थोड़ी रहती है और इस कारण सामान्य नियमों के अनुसार अलग प्रतिनिधि नहीं मिल सकता। ऐसे लोगों के हित के रक्षण के लिए उनके प्रतिनिधि सभा में चाहिए अवश्य। इसलिए सरकार को यह अधिकार रहना चाहिए कि वह ऐसे लोगों का प्रतिनिधियों को सभा का सदस्य बना सके। साथ ही सरकार

के भी कुछ प्रतिनिधि अवश्य रहें। सरकार का स्थानिक स्वराज्य से कई तरह का सम्बन्ध है। (१) क़ायदा और सामान्य सङ्गठन—अधिकार—कार्य का निश्चय, (२) फिर विशिष्ट नियम, विशिष्ट सङ्गठन—अधिकार-कार्य का निश्चय और (३) देख-रेख सरकार को करनी पड़ती है। ऐसी दशा में यह भी आवश्यक है कि सरकार का और स्थानिक स्वराज्य का कोई समकालीन सम्बन्ध रहे, और सरकार को स्थानिक स्वराज्य की बातें मालूम होती रहें। दूसरे, सरकार भी बहुत सी जायदाद की मालिक होती है। इस दृष्टि से भी सरकारी प्रतिनिधियों का स्थानिक स्वराज्य की सभा में होना आवश्यक है। एक तीसरे प्रकार के सदस्य और आवश्यक हैं। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं कि जो किसी कारण नहीं चुने जा सके, परन्तु जिनके रहने से स्थानिक स्वराज्य को लाभ ही होगा। चुने हुए प्रतिनिधियों को अधिकार रहे कि वे ऐसे कुछ लोगों को अपनी सभा का सदस्य नियुक्त कर सकें। इस प्रकार, इन तीन प्रकार के सदस्य इस सभा में और रहें। हाँ, यह हो सकता है कि प्रेसिडेंट, या वाइस प्रेसिडेंट चुनते समय इन्हें मत देने का अधिकार न रहे। ये लोग मतदाताओं के प्रतिनिधि नहीं हैं इसलिए यदि इन्हें यह अधिकार न रहा तो बुरा न मालूम होगा। बाक़ी बातों में निर्वाचित और अनिर्वाचित सब सदस्यों के अधिकार बराबर रहें।

परन्तु एक प्रश्न का उत्तर हमने अभी नहीं दिया है। इस सर्वोच्च अधिकारी को (फिर, उसे प्रेसिडेंट कहो या और कुछ कहो) (यानी हिन्दुस्थान के स्थानिक स्वराज्य के प्रेसिडेंट को) कौन चुने? क्या समस्त मतदाता चुनें या लोगों के चुने हुए प्रतिनिधि चुनें। इस विषय में एक उत्तर देना बड़ा कठिन है। किसी किसी सार्वदेशीय राज्य का सर्वोच्च अधिकारी भी सब मतदाताओं के द्वारा प्रत्यक्ष चुना जाता है। कहीं वह मतदाताओं के द्वारा अप्रत्यक्ष चुना जाता है यानी सब मतदाता पहले एक निर्वाचक सङ्घ चुनते हैं और यह निर्वाचक सङ्घ इस अधिकारी को चुनता है। अनुभव से देखा गया है कि यह दूसरी

रीति बहुत कुछ निकम्मी है। इस निर्वाचक-सङ्घ पर दलबन्दी का इतना अधिक ज़ोर पड़ता है कि व्यवहार में वह परतन्त्र और कमज़ोर हो जाता है। इससे मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति, सिद्धान्त में नहीं तो भी व्यवहार में बहुत अच्छी है। तीसरी यह हो सकती है कि यह अधिकारी जिस सभा के साथ कार्य करे, उसी के द्वारा चुना जाय। हिन्दुस्थान में बहुधा यही रीति प्रचलित है। सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से यह रीति बुरी नहीं। सर्वोच्च अधिकारी पर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी रहती है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस पद के लिए केवल सुयोग्य पुरुष चुना जाय। साधारण लोग सुयोग्यता-कुयोग्यता की जाँच ठीक नहीं कर सकते। इसलिए उसे केवल पढ़े-लिखे या अच्छे समझदार लोग चुनें। मतदाताओं के प्रतिनिधि बहुधा योग्य पुरुष होने की सम्भावना है। इसलिए ये लोग निर्वाचन का काम अच्छी तरह कर सकते हैं। एक दूसरा कारण यह भी है कि जिन लोगों के साथ वह काम करेगा, उनसे उसके मत मिलते-जुलते हों, वह और वे आपस में मेल-जोल से रहें, और इस प्रकार स्थानिक स्वराज्य का काम ठीक चल सके। यदि फ्रांस में वहाँ का प्रेसिडेंट इसी पद्धति के अनुसार चुना जा सकता है, तो स्थानिक स्वराज्य में इस पद्धति का अवलम्बन करना बुरा नहीं। इतना अवश्य करना चाहिए कि लोगों के प्रतिनिधि के निर्वाचन के बाद शीघ्र ही उसका भी निर्वाचन हो जावे। इससे दलबन्दी के लिए अवकाश बहुत कम मिला करेगा और योग्य पुरुष का चुनाव हो सकेगा।

इसी के साथ एक प्रश्न और है। यह सर्वोच्च अधिकारी किन पुरुषों में से चुना जाय? यह तो स्पष्ट है कि वह भी बाक़ायदा मतदाता हो। परन्तु क्या वह पहले लोगों द्वारा स्थानिक स्वराज्य के लिए चुना हुआ प्रतिनिधि भी हो? ऐसी शर्त रखना ठीक नहीं। सम्भव है कि कोई पुरुष प्रतिनिधि होने के लिए राज़ी न हो, या खड़ा न हो सका हो, या न चुना गया हो तथापि सर्वोच्च अधिकारी होने के

योग्य हो और इच्छुक भी हो। क्या ऐसा पुरुष सर्वोच्च पद के लिए न चुना जा सके? उत्तर स्पष्ट है कि प्रतिनिधि होने की शर्त रखना अनावश्यक है। चाहे वह पहले प्रतिनिधि हो या न हो, मतदाता रहा तो इस पद के लिए वह चुना जा सके। इस पद के लिए योग्य पुरुष का निर्वाचन करना हो तो ऐसी सम्भावना रखना आवश्यक है। परन्तु उसका दोयम यानी उपसभापति, उसकी अनुपस्थिति में सभा का अध्यक्ष होनेवाला, पुरुषसभा का प्रतिनिधि अवश्य हो। क्योंकि बहुधा वह प्रतिनिधि का काम किया करेगा। कभी आवश्यकता पड़ने पर ही वह सभापति का काम करेगा।

परन्तु क्या सभापति या उपसभापति के निर्वाचन से सरकार का कुछ भी सम्बन्ध न रहे? इस विषय में एकमत होना सरल नहीं। सरकार की दृष्टि से तो यह आवश्यक है कि कम-से कम सभापति की नियुक्ति के लिए उसके निर्वाचन के बाद सरकारी सम्मति की आवश्यकता हो। कोई ऐसा पुरुष न चुना जाय जो भयावह हो। परन्तु लोगों की दृष्टि से यही आवश्यक है कि प्रेसिडेंट के चुनाव के बाद सरकार की सम्मति की आवश्यकता न रहे। ऐसी सम्मति की आवश्यकता रहने से लोगों के अधिकार बहुत ही परिमित हुए से जान पड़ते हैं। इनमें से किस रीति का अवलम्बन किया जाय यह बात समाज की उन्नत दशा पर अवलम्बित रहेगी।

यह स्पष्ट ही है कि स्थानिक स्वराज्य के नौकरों की नियुक्ति प्रेसिडेंट ख़ुद या अपनी सभा की सम्मति से किया करेगा। इसमें किसी दूसरों के दख़ल की आवश्यकता नहीं है।

६. स्थानिक स्वराज्य के सङ्गठन का सारांश में विचार हो चुका। परन्तु मतदाता तो बेचारे रह गये ताक़ में। एक बार प्रतिनिधि चुन लेने पर क्या उनका स्थानिक स्वराज्य से कुछ भी सम्बन्ध न रहे? हमारी समझ में कई दृष्टि से आवश्यक है कि ऐसा कुछ सम्बन्ध रहे। फिर, यह सम्बन्ध कैसा और किन बातों में होना चाहिए। छोटी

छोटी संस्थाओं में कार्यकारिणी समिति का और साधारण सदस्यों का सम्बन्ध दो तरह से प्रस्थापित होता है। एक तो कुछ बड़ी बड़ी बातों के लिए साधारण सभा की परवानगी लेनी होती है। दूसरे, कार्यकारिणी समिति अपने कार्यों का तफ़सील साधारण सभा में सुनाया करती है। हमारी समझ में स्थानिक स्वराज्य को भी यथाशक्य इन दोनों रीतियों का थोड़ा थोड़ा अवलम्बन करना चाहिए। जहाँ मतदाताओं की संख्या परिमित है वहां बड़े बड़े खर्चों के लिए प्रत्यक्ष मतदाताओं की अनुमति लेनी चाहिए। छोटे मोटे खर्च अथवा कार्यों का परिणाम अल्पकालिक और थोड़ा होगा। परन्तु बड़े कार्यों का, विशेषकर, बड़े बड़े खर्चों का, परिणाम बहुत गहरा होगा। इसलिए जिन पर यह भारी बोझ लदेगा उनकी सम्मति लेनी चाहिए। जहाँ मतदाताओं की संख्या इतनी भारी है कि उन सबकी सभा होना और उसमें कुछ कार्य करना मुश्किल है, वहाँ उनके कुछ निश्चित प्रतिनिधियों की महती सभा में यह कार्य किया जाय। दूसरे, स्थानिक स्वराज्य के कार्य का वार्षिक ब्यौरा लोगों के सामने, चाहे तो प्रत्यक्ष मतदाताओं की सभा में या उनके प्रतिनिधियों की महती सभा में रखा जाय। यह भी न हो सके तो पुस्तिकारूप में या सरकारी अख़बार में छाप दिया जाय। इससे मतदाताओं का और स्थानिक स्वराज्य के सदस्यों का कुछ आवश्यकीय सम्बन्ध प्रस्थापित होगा। और कार्यकर्ताओं को अपने कार्यों की कुछ अधिक जवाबदारी जान पड़ेगी।

१०. क्या ग्रामों में भी किसी प्रकार का अलग अलग स्थानिक स्वराज्य रहे या नहीं? स्थानिक स्वराज्य की प्रवृत्ति की वृद्धि होने के लिए, किसी भारी विभाग के स्थानिक स्वराज्य के सदस्य सरलता से एकत्र मिलने के लिए और स्थानिक स्वराज्य की लगातार शृङ्खला बँध जाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि ग्रामों में भी किसी न किसी अंश में स्थानिक स्वराज्य अवश्य रहे। हिन्दुस्थान में प्राचीन काल में प्रत्येक ग्राम बहुतांश में प्रजातन्त्र-राज्य ही होता था। धीरे धीरे इसका

विनाश होगया। तथापि बहुत से प्रान्तों में इसका किसी न किसी रूप में अवशेष बचा है। और बहुतेरे प्रान्तों में उनके पुनरुद्धार का प्रयत्न हो रहा है। नई ग्राम-पंचायतें उसी प्रयत्न का फल हैं। इन ग्राम-पंचायतों के हाथ छोटे छोटे मुक़द्दमे, सफ़ाई, पानी आदि का प्रबन्ध रखा तो ग्रामों को भी स्थानिक स्वराज्य का कुछ भाग मिल जावेगा। और ग्राम-पंचायत, लोकलबोर्ड, और डिस्ट्रिक्ट कौंसिल का परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जावेगा। इन ग्राम-पंचायतों का स्वरूप कैसा हो और उन्हें क्या क्या विशिष्ट अधिकार रहें, इन बातों का विवेचन हम यहाँ नहीं कर सकते। शिक्षा, जन-संख्या, कार्य और विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार इनके अधिकार और सङ्गठन में भेद होता रहेगा। तथापि इतना हम कह सकते हैं कि (१) ऊपर जो दो तीन कार्य बतलाये हैं, वे उन्हें बिना बहुत कठिनाई के सौंपे जा सकते हैं और (२) उनके सङ्गठन में प्रातिनिधिक तत्त्व का उचित उपयोग भी करना चाहिए। इस तत्त्व की शिक्षा ग्राम से ही प्रारम्भ हो और धीरे धीरे वह उन्नत होती जाय।

स्थानिक स्वराज्य का प्रारम्भ सूक्ष्मतम अंश में करना लाभकारी ही होगा।

इक्कीसवें परिच्छेद का परिशिष्ट

स्थानिक स्वराज्य के कुछ विवादग्रस्त प्रश्न।

गत परिच्छेद में हमने स्थानिक स्वराज्य का संक्षेप में सामान्य विवेचन किया। कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो बहुत ही विवादग्रस्त हैं। उनका हम इस परिशिष्ट में विवेचन करेंगे।

१. प्रत्येक तरह के राज्य में न्याय की अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्या स्थानिक स्वराज्य का कोई अलग न्याय-विभाग रहे? न्याय के प्रबन्ध के लिए और अमल के लिए पुलिस की आवश्यकता होती है। क्या स्थानिक स्वराज्य के कार्यों के लिए अलग पुलिस भी रहे? ये दो प्रश्न बड़े विवादग्रस्त हैं।

सबसे अधिक क़ायदे प्रान्तीय या सर्वोच्च सरकार के हुआ करते हैं। और उन्हीं के लिए अदालतों की अधिक आवश्यकता होती है। स्थानिक स्वराज्य के नियम आदि बहुत थोड़े होते हैं। और जो होते हैं, उनमें से कई इतने छोटे मोटे होते हैं कि उनके लिए अदालतें खड़ी करना व्यर्थ है। बहुत से नियमों के लिए न्याय का काम बहुधा पड़ता ही नहीं, अमल का ही काम रहता है। जिन बातों के लिए आना दो आना जुर्माना हो, उनके लिए अदालती कार्रवाई खड़ी करने में दोनों पक्षों को अनावश्यक कष्ट और अनावश्यक खर्च पड़ेगा—लाभ बहुत कम होगा। ऐसे नियमों के अपराध की सबूती पर अमल करना ही श्रेयस्कर है। थोड़े बहुत ऐसे मौक़े अवश्य आवेंगे कि जिनमें अदालती कार्रवाई की आवश्यकता होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऐसे थोड़े मौक़ों के लिए अलग अदालतें खड़ी की जायँ? क्या सरकारी अदालतों से यह काम न चल सकेगा? इँग्लैंड जैसे कुछ देशों में कुछ

स्थानों पर स्थानिक स्वराज्य की अदालतें हैं, पर यह काम बहुत खर्चीला ही होता होगा। इसलिए हमारी समझ में हिन्दुस्थान में यह काम जैसे चलता है वैसे ही चलाने से किसी देश को हानि होने की सम्भावना नहीं है। दो तरह की अदालतों के रहने से इतना लाभ अवश्य होगा कि कभी कभी ये दोनों अदालतें लड़ जाया करेंगी !

अदालतों के न रखने से पुलिस की आधी आवश्यकता दूर हो जाती है। अब मामूली प्रबन्ध के लिए पुलिस अलग होनी चाहिए या नहीं, यह प्रश्न है। हिन्दुस्थान में स्थानिक स्वराज्य की अलग पुलिस नहीं है। किन्हीं किन्हीं देशों में स्थानिक स्वराज्य की अलग पुलिस होती है। शासन की दृष्टि से ऐसा देख पड़ता है कि स्थानिक स्वराज्य की अलग पुलिस होना आवश्यक है। परन्तु स्थानिक स्वराज्य का काम आगे ही कम, उसमें पुलिस की जिसमें आवश्यकता पड़े ऐसा काम और भी कम। सड़कों की शान्तता और रात को निगरानी रखने में पुलिस की अवश्य बहुत ज़रूरत है। परन्तु स्थानिक स्वराज्य की ही पुलिस होने से काम न चलेगा—सरकार को भी पुलिस रखनी ही होगी। फलतः, एक ही स्थान में दो तरह की पुलिस रखनी होगी। शहरों में शायद दो तरह की पुलिस रखना सम्भाव्य भी हो, परन्तु देहात में तो बड़ी गड़बड़ी मच जाया करेगी। और असली बात यह है कि यह काम बड़े खर्च का होगा। इससे हिन्दुस्थान की रीति कम खर्च की मालूम होती है। इस रीति से थोड़ी बहुत हानियाँ अवश्य हैं, परन्तु खर्च की दृष्टि से बड़ा भारी लाभ है। और इसलिए अलग पुलिस का रखना अनावश्यक है।

२. दूसरा विवादग्रस्त प्रश्न यह है कि स्थानिक स्वराज्य अर्थोत्पादक काम कहाँ तक करे ? जिन चीज़ों पर जीवन ही निर्भर है, उनके विषय में कोई प्रश्न ही नहीं। उदाहरणार्थ, पानी का प्रबन्ध या सफ़ाई के लिए नालियों का प्रबन्ध। रोशनी भी आवश्यक है। लोगों के

जान-माल की बहुत कुछ सुरक्षितता इस पर निर्भर है। परन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि केवल मिट्टी के तेल के मामूली लैम्पों से रोशनी की जाय, या गैस से की जाय या बिजली से। पहले प्रकार की रोशनी से व्यापार नहीं हो सकता, क्योंकि लोग अपने अपने घरों में मामूली लैम्पों से उजियाला करते ही हैं। परन्तु दूसरे दो प्रकार की रोशनी से लोग भी लाभ उठा सकते हैं—वे दाम देकर गैस या बिजली के दिये अपने घर पर लगवा ले सकते हैं। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या म्युनिसिपालिटी गैस या बिजली की रोशनी का प्रबन्ध करे या नहीं? इसी प्रकार, ट्रामगाड़ी से भी बहुत से स्थानों में अच्छा रुपया मिल सकता है, म्युनिसिपालिटी इसका प्रबन्ध करे या नहीं?

इसलिए ऐसे अर्थोत्पादक कार्यों के अनुकूल और प्रतिकूल मतों का विचार करना चाहिए। उनके पक्ष में कहा जाता है कि (१) बहुत से व्यापार की चीज़ें ठीका देने लायक (monopoly) रहती हैं। इनसे बहुत लाभ हो सकता है। ऐसी चीज़ों की उत्पत्ति दूसरों के हाथों में छोड़ना ठीक नहीं। जो द्रव्य दूसरों की जेबों में जावेगा, वही यदि मुनिसिपालिटी के ख़ज़ाने में आया, तो उससे लोगों पर का कर का बोझ हलका हो जावेगा। (२) जिन वस्तुओं की उत्पत्ति ठीका देने से (monopoly) ठीक नहीं हो सकती, परन्तु उनसे लोगों के स्वास्थ्य को लाभ है, या लोगों को आराम होता है, तो म्युनिसिपालिटी का कर्तव्य है कि उनकी उत्पत्ति वह करे। क्योंकि यह संस्था लोगों का ही संक्षिप्त रूप है। ऐसी चीज़ें लोगों को सस्ते दामों पर मिल सकेंगी। उदाहरणार्थ, सवारी की चीज़ें, मज़दूरों के घर, वग़ैरः। (३) बड़ी बड़ी संस्थाओं को रुपया कम ब्याज पर मिल सकता है। इसलिए मामूली व्यक्तियों के हाथों में बड़े बड़े काम छोड़ देना आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं।

इन तीन युक्तियों का संक्षेप में विवेचन करेंगे।

(१) ठीका देने लायक़ (monopolies) चीज़ें सच पूछो तो बहुत कम होती हैं। ठीके से वास्तविक उत्पन्न होने लायक़ चीज़ें (monopolies) म्युनिसिपालिटी ज़रूर उत्पन्न करे। परन्तु ऐसी चीज़ें कितनी होती हैं? गैस पैदा करने का शहर में एक कारख़ाना रहा तो काफ़ी है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि इस चीज़ को पैदा करने का भार उठाने की अपेक्षा यदि म्युनिसिपालिटी उसकी क़ीमत, उसकी भलाई-बुराई, इत्यादि बातों पर नज़र दे तो काम क्या नहीं सिद्ध होगा ? इसी प्रकार, ट्रामगाड़ी आदि सवारी की वस्तुओं के विषय में कह सकते हैं। परन्तु एक बात है। यदि कोई ये कार्य करने के लिए आगे न आवे और शहर को इनकी नितान्त आवश्यकता हो, तो म्युनिसिपालिटी पर इन वस्तुओं की पूर्ति करने की ज़िम्मेदारी है। और जब कभी इन आवश्यक चीज़ों के पैदा करने से म्युनिसिपालिटी को वास्तविक फ़ायदा होने की सम्भावना है, तब यदि यह काम म्युनिसिपालिटी ने अपने सिर पर लिया तो बहुत बुरा नहीं।

(२) अब जो चीज़ें ठीके के लायक़ (monopolies) नहीं हो सकतीं उनके विषय में विचार करेंगे। क्या किसी ख़ास व्यक्ति का लोभ रोकने का और इस प्रकार समाज का हित करने का सार्वजनिक संस्थाओं का कर्तव्य नहीं है ? सब परिस्थिति में उचित हो ऐसा इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। मज़दूरों के लिए मकानों का प्रबन्ध करना रुपये की दृष्टि से लाभकारी हो या न भी हो। यदि वह लाभकारी हुआ तो कई ख़ास लोग यह काम करने दौड़ पड़ेंगे। और उनमें यदि होड़ रही तो घरों का किराया काफ़ी कम हो जावेगा। परन्तु यह सम्भव है कि कुछ काल तक या कभी भी यह काम लाभकारी न हो। तब ऐसा जान पड़ता है कि मकान बनाने का काम म्युनिसिपालिटी का ही है। परन्तु इस काम से नुक़सान रहा, तो क्या यही तात्पर्य नहीं निकलता कि नुक़सान सह कर भी म्युनिसिपालिटी को यह काम करना ही चाहिए ? क्या बाक़ी लोगों के रुपयों से किसी

ख़ास वर्ग को लाभ पहुँचाना न्याय है ? कोई इस पर कहे कि शिक्षा की भी यही बात है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा के द्वार सबके लिए खुले हैं, शालाओं और कालिजों से सब कोई लाभ उठा सकते हैं, किसी को मुमानियत नहीं है। परन्तु मकानों की बात भिन्न है। ये किसी ख़ास वर्ग के लिए बनाने पड़ते हैं। यदि उन मकानों की संख्या परिमित रही, तो किन्हें स्थान दिया जाय और किन्हें न दिया जाय यह कैसे निश्चित हो ? यदि बहुत से मकान बनाये, तो बहुत से मतदाता म्युनिसिपालिटी के किरायेदार हो जावेंगे। और इस स्थिति में कई दूसरी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। यदि कस कर किराया लिया जाय, तो नुक़सान नहीं होगा, पर लाभ भी क्या होगा ? फिर, यदि इन्हीं मज़दूरों का उपयोग म्युनिसिपालिटी ने किया तो और भी तीसरी समस्या उपस्थित होगी। इस तरह से उनका मत पाने के लिए जो प्रयत्न होंगे, उनका कुछ कहना ही नहीं। इस प्रकार तो वे मज़दूर अपने मालिकों के मालिक बन बैठेंगे। उन्हें मताधिकार न देना भी ठीक नहीं। कहीं कहीं ऐसी अवस्था में उनका एक अलग ही मतसंघ बना देते हैं। परन्तु इसकी भलाई-बुराई के विषय में आज ही कुछ निश्चित तौर से नहीं कह सकते ?

(३) यह तो ठीक दीखता है कि जब म्युनिसिपालिटी जैसी संस्था कम ब्याज पर बड़े बड़े कामों के लिए रुपया खड़ा कर सकती है तो ये काम दूसरों के हाथों में न छोड़े जायँ। परन्तु क्या इस क़ायदे से अन्त में वास्तविक फ़ायदा होगा ही होगा ? सार्वजनिक संस्थाओं के काम आर्थिक दृष्टि से सदैव लाभदायक नहीं होते। इसका कारण यह है कि इन कार्यों का सार्वजनिक प्रबन्ध ठीक नहीं होता। और प्रबन्ध ठीक न होने से अन्त में हज़ारों तरह की हानियाँ उठानी पड़ती हैं। एक ओर से थोड़ा बहुत फ़ायदा रहा, तो दूसरी ओर बहुत भारी हानि होने की सम्भावना है। और इस तरह यदि प्रयत्न विफल हुआ, तो फिर कारख़ाने थोड़े दामों पर बेंच देने का भी मौक़ा आता है। ऐसे

कामों में ख़ास हित होना चाहिए। सार्वजनिक संस्थाओं में सार्वजनिक हित रहता है और बहुधा देखा गया है कि ऐसे सार्वजनिक कामों का प्रबन्ध ठीक नहीं होता।

सारांश, साधारण तौर से यह निश्चय करना कठिन है कि म्युनिसि-पालिटी जैसी संस्थायें ऐसे भारी काम अपने हाथ में लें अथवा नहीं। यह विशिष्ट परिस्थिति से ठहराया जा सकता है। इतना ही सामान्य नियम बतला सकते हैं कि जिससे सब तरह के लोगों के मानसिक या शारीरिक लाभ होने की सम्भावना हो, कोई दूसरा पुरुष वे काम उठाने के लिए तैयार न हो और जिनकी आवश्यकता सब पर विदित हो, ऐसे कामों में स्थानिक स्वराज्य ज़रूर द्रव्य लगावे।

बाईसवाँ परिच्छेद

पक्षमूलक अथवा दलबन्दी शासन

१. एक ही हेतु से प्रेरित होकर जो लोग मिल-जुलकर काम करते हैं, उन्हें एक दल कह सकते हैं। राज्य-शासन में, और कभी कभी राज्य-प्रबन्ध के स्वरूप में भी, दलों का प्रभाव ख़ासा देख पड़ता है। सब मनुष्यों के स्वार्थ समान नहीं हो सकते, और सब मनुष्यों के मत भी समान नहीं हो सकते। इन दो कारणों से लोग दो अथवा अधिक दलों में विभक्त हो जाते हैं। समाज में भिन्न भिन्न पंथ, भिन्न भिन्न दल, हमेशा सब देशों में पाये जाते हैं। नाम उनका कुछ भी रहे, परन्तु लोगों के दल बनना बहुत स्वाभाविक बात है। राज्य-शासन में भी दलों का होना नितान्त स्वाभाविक बात है। कोई कोई कहा करते हैं कि दलबन्दी-प्रथा इस नये युग की सृष्टि है, परन्तु यह बात बहुत कुछ असत्य है। नितान्त प्राचीन से प्राचीन इतिहास क्यों न लो, राज्य-सम्बन्धी बातों के कारण लोगों के किसी न किसी प्रकार के दल बने अवश्य देख पड़ेंगे। और उनका राज्य-शासन पर यथेष्ट परिणाम भी हुआ-सा देख पड़ेगा। कहीं कहीं यह भी देख पड़ेगा कि कभी एक पक्ष के लोग राज्य का काम चला रहे हैं तो कभी दूसरे पक्ष के लोग। यह अर्वाचीन प्रथा इस नये युग के पहले क़रीब क़रीब सब देशों में थोड़ी बहुत अवश्य थी।

२. स्वार्थ अथवा मत की समानता कभी कभी कृत्रिम कारणों से पैदा होती है। वर्ण-भेद या जाति-भेद के कारण कुछ अंश में मत, तो कुछ अंश में स्वार्थ समान हो जाते हैं। और ये इतने स्वाभाविक जान पड़ते हैं कि उनकी कृत्रिमता की कभी आशङ्का भी नहीं उठती।

इस कृत्रिम दलबन्दी के सिवा, स्वाभाविक दलबन्दी भी हो सकती है। अँगरेज़ी के प्रख्यात लेखक सिजविक ने दलों की स्वाभाविकता नहीं मानी है। उसने कहा है कि—मनुष्य स्वभाव से नहीं कह सकते कि दल किस प्रकार के होंगे और उनका क्या परिणाम होगा। परन्तु एक बात तो मनुष्य-स्वभाव पर ही अवलम्बित है। वैसे तो साधारण मनुष्य स्वभावतः पुराणप्रिय होते हैं, परन्तु कुछ लोग बहुत ही अधिक होते हैं। इस कारण मनुष्यों का कम से कम दो—पुराणप्रिय और प्रगतिप्रिय—दलों में विभक्त हो जाना स्वाभाविक है। किसी भी देश का इतिहास उठाकर देखो तो यह बात ज़रूर देख पड़ेगी कि कुछ लोग प्रचलित परिस्थिति में परिवर्तन करना चाहते हैं, तो कुछ लोग पुरानी ही बातों को बनाये रखना चाहते हैं। लोग इस बात को शायद स्पष्टतया न जानते रहे हों, शायद दलों को नाम भी न दिये गये हों, परन्तु उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य देख पड़ेगा। वर्णभेद अथवा जातिभेद से होनेवाले दल बहुधा बहुकालिक रहते हैं, क्योंकि वर्णभेद अथवा जातिभेद जल्द दूर नहीं होते। फिर, कुछ लोग ग़रीब होते हैं तो कुछ लोग धनी। इनका हित कई बार परस्पर विरुद्ध होता है। इस कारण इनके भी दो दल होना स्वाभाविक है। यह सत्य है कि कई बातों में दोनों का हित समान होगा। उदाहरणार्थ, विदेशी सत्ता से युद्ध का मौक़ा आ पड़ा तो दोनों का बहुत सी बातों में मतैक्य होना स्वाभाविक है। तथापि यह भी सत्य है कि मामूली अवस्था में इन दो दलों में स्वार्थ की भिन्नता बनी ही रहेगी। उसी प्रकार, पुराणप्रियता अथवा प्रगतिप्रियता के कारण होनेवाले दल बहुधा चिरकालिक ही होते हैं। न जाने क्यों, इन बातों को सिजविक ने नहीं माना है। तथापि बातें बड़ी स्पष्ट हैं और इस प्रकार के दलों का हमेशा बने रहना नितान्त स्वाभाविक है। इतना ही नहीं तो पुराणप्रियता अथवा प्रगतिप्रियता के कारण बहुधा दो दल रहते ही हैं। सिजविक ने यह दिखलाया है कि तात्त्विक-दृष्टि से कई दल हो सकते

हैं। और इस बात को कोई भी स्वीकार करेगा। मनुष्यों में मत-विभिन्नता होना नितान्त स्वाभाविक है, सबके मत समान नहीं हो सकते। दो मनुष्यों के यदि दो मत हुए तो तीन लोगों के तीन होंगे। परन्तु जितने मनुष्य उतने दल रहना मुश्किल है। इस कारण बड़ी बड़ी बातों में जब कभी मतैक्य होता है, तब लोग एक ही दल में शामिल हो जाते हैं। और इस प्रकार दलों की संख्या कम हो जाती है। और व्यवहार में देखा गया है कि इनकी संख्या बहुत ही कम रहती है—यहाँ तक कि बहुधा दो ही दल हुआ करते हैं। राजकीय सत्ता पर अधिकार जमाने का लोगों का उद्देश्य रहा, तो लोग बहुधा दो ही दलों में विभक्त होते हैं। अधिक दल होने से राजकीय सत्ता पाने की सम्भावना कम हो जाती है। इसकी स्पष्टता तब अधिक जँचती है कि जब नया चुनाव हुआ करता है। जिन लोगों की संख्या थोड़ी है, उनका प्रभाव बहुत थोड़ा पड़ सकता है। और यदि इन अल्प-संख्यक लोगों को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार न रहा तो अलग रह कर इनका कुछ भी नहीं चल सकता। इसलिए किसी न किसी पक्ष में इन्हें शामिल होना ही पड़ता है। इस प्रकार दलों की संख्या कम होते होते दो ही रह जाती है। क्योंकि तब ही कुछ सम्भावना रहती है कि प्रतिपक्ष को उखाड़कर राजकीय सत्ता पर ख़ुद अधिकार कर लें। प्रतिपक्ष के कार्यों पर सदा नज़र बनाये रखना, टीका-टिप्पणी करते रहना, उनकी पोलें खोलते रहना और उन्हें कमज़ोर बनाकर ख़ुद सबल बन जाना राजकीय सत्ताहीन दल का काम ही है। इसी के साथ एक बात और ख़याल में रखने लायक़ है। यदि राज्यसूत्र चलाने वाले पुरुष प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लोगों द्वारा चुने जायँ तो ये दल बहुधा स्थायी हो जाते हैं। केवल व्यवस्थापक-सभा में अपने अपने पक्ष में बहुमत करने की इच्छा के कारण ये दल क़ायम नहीं बने रह सकते। आज-कल के सब मुख्य देशों में अमल-विभाग के अधिकारी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लोगों द्वारा ही निश्चित होते हैं। इस कारण कम से कम

दो मुख्य दलों का सब देशों में बने रहना भी मामूली बात है। और यदि राजकीय नौकरियों पर निजी अधिकार पहुँच सका तो फिर क्या पूछना है। प्रत्येक दल अपने को सबल और प्रतिपक्ष को निर्बल बनाने के लिए कोई बात नहीं उठा रखता। हाँ, नीतिविहीन या प्रचलित नीति के विरुद्ध वे ऐसे काम स्पष्टतया न करेंगे कि जिससे उनकी बदनामी हो और पक्ष कमज़ोर पड़ जाय। परन्तु यह बात सत्य है कि इन दो मुख्य दलों के भीतर कई छोटे-मोटे दल हुआ करते हैं और ये कभी कभी एक पक्ष में शामिल होते हैं, तो कभी दूसरे पक्ष में। इस प्रकार दलों की रचना थोड़ी बहुत अवश्य बदलती रहती है। तथापि यह भी न भूलना चाहिए कि मनुष्यों की दो दलों में बँट जाने की प्रवृत्ति बड़ी बलवान् होती है।

३. दलों से फ़ायदे और नुक़सान दोनों हैं। दोनों का हम एक साथ ही विवेचन करेंगे।

ऊपर कह चुके हैं कि पहले भी दल रहा करते थे। परन्तु इन दलों का प्रभाव केवल राज-दरबार में, बहुत हुआ तो राजधानी में ही रहता था। हाँ, राज्यक्रान्तियों में उनका विशेष भाग अवश्य रहता था। राज्यसूत्र इस हाथ से उस हाथ अवश्य बदला करते थे। परन्तु उनमें साधारण लोग बहुधा शामिल न होते थे। जिस समय राजसत्ता एक ही अनियन्त्रित हाथ में थी, जिस समय राज्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी सर्वाधिकारपूर्ण राजा रहता था, उस समय मामूली लोगों को राज्यक्रान्ति के झगड़े में पड़ने का कोई विशेष कारण भी न रहता था। क्योंकि राजा के बदलने न बदलने से उनकी स्थिति में बदल होने की सम्भावना उन्हें बहुत कम देख पड़ती थी। परन्तु प्रजातन्त्र-राज्य में ऐसी बात नहीं है। यहाँ राज्य के सूत्र लोगों के द्वारा नियन्त्रित होते हैं, लोगों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार रहता है, ये प्रतिनिधि राज्य का बहुत सा काम किया करते हैं, कहीं कहीं क़रीब क़रीब सब ही राज्यसत्ता लोगों के प्रतिनिधियों के हाथ

में रहती है। इस कारण, यह बात बड़े ही महत्त्व की होती है कि कौन लोग प्रतिनिधि हो सकें। उन पर तो लोगों के सुख-दुःख, देश की भलाई-बुराई का पूरा पूरा दारमदार रहता है। ऊपर कह ही चुके हैं कि स्वार्थ अथवा मत की भिन्नता के कारण लोगों का दो या अधिक दलों में बँट जाना नितान्त स्वाभाविक है। इसलिए प्रत्येक दल अपने अपने प्रतिनिधि चुनने का और राज्य-सूत्रों को उनके द्वारा अपने हाथ में कर लेने का प्रयत्न करता है। राजा को कठपुतली बना कर या उसका ख़ून करके किसी एक दल के हाथ में राज्यसत्ता के चले जाने की अपेक्षा प्रजातन्त्र की अभी बतलाई रीति हज़ार दर्जे अच्छी है। इसमें ख़ून-ख़राबा, अशान्ति, और द्रव्य-जायदाद आदि का सत्यानाश नहीं होता। राज्यसत्ता कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में नहीं रहती, क्योंकि राज्य के ये चालक लोगों के प्रतिनिधि रहते हैं। छँटते छँटते केवल योग्य पुरुष सबके ऊपर आते हैं, और वे राज्य का काम चलाते हैं। फिर, ये अपने ही स्वार्थ का ख़याल नहीं रख सकते। एक तो जिनके वे प्रतिनिधि हैं, उनके हित का ख़याल रखना ही पड़ता है। दूसरे, प्रतिपक्ष टीका-टिप्पणी से सदा सज्जित रहता है। इसलिए यथासम्भव कोई ऐसा काम नहीं कर सकते जो बहुमत के विरुद्ध हो और जिस कारण उनका पक्ष निर्बल हो जाय। इससे यह भी एक लाभ होता है कि बड़े बड़े प्रश्नों का निर्णय सरलता से हो सकता है। अपनी अपनी बातें सब कोई देख सकते हैं, दूसरे की कम। दो प्रतिपक्षियों में वाद-विवाद हो तो 'तत्त्वबोध' होने के लिए बहुत कठिनाई नहीं पड़ती। इस प्रकार राज्यकर्मचारी बहुत सी भूलों से बचे रहते हैं। लोगों का मन उन्हें मालूम होते रहता है और तदनुसार वे अपने कार्यों को रचते हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट हो सकता है कि आधुनिक प्रजातन्त्र दलबन्दी की भित्ति पर स्थित है। सारे लोगों का एकमत होना जब सम्भव ही नहीं तो राज्य चलाने का इससे और कौन अच्छा उपाय हो

सकता है? बहुमत के हाथ में राज्य के सूत्र रहना और बहुमत के अनुसार राज्य के शासन का चलना अनिवार्य है और इसलिए दल-बन्दी भी अनिवार्य है। यही एक उपाय है कि जिससे प्रजातन्त्र चल सकता है। इतना ही नहीं तो राज्यकर्मचारी इसके कारण सदा सचेत बने रहते हैं। राज्य का काम शिथिल नहीं हो पाता। बहुमत के राज्य में थोड़ा-बहुत अन्याय होता हो, पर यह अन्याय अनिवार्य है। यदि स्वार्थों में विरोध रहा तो सबके स्वार्थ एक ही साथ सिद्ध नहीं हो सकते। सारांश, प्रजातन्त्र चलाने का यह सबसे अच्छा उपाय है। इँग्लेंड की राजकीय संस्थाओं का तथा वहाँ के राज्य-शासन, दलबन्दी-प्रथा के सिवा चलना कठिन है। इस देश के इतिहास से यह बात स्पष्ट देख पड़ती है कि दलबन्दी ज्यों ज्यों बढ़ी और निश्चित होती गई त्यों त्यों शासन-कार्य भी अच्छा होता गया। और अब तो इस प्रथा के अभाव में शासन कैसे चलेगा इस बात को लोग सोच भी नहीं सकते। दलबन्दी-प्रथा का क़ायदे में कोई पता नहीं है, क़ायदे में उसका कोई उल्लेख नहीं है, यह संस्था क़ायदे की निर्माण की हुई नहीं है। परन्तु वह बेक़ायदा भी नहीं है, क़ायदे के ख़िलाफ़ नहीं है, उसके विरुद्ध कोई क़ायदा नहीं है। यह इतिहास की सृष्टि है, दलबन्दी यथारूढ़ि की संस्था है और वह रूढ़ि के ज़ोर पर ही चलती है। एक बार एक दल के लोग पार्लिमेंट में अधिक होते हैं और राज्य के मन्त्री बनते हैं, तो दूसरी बार दूसरे दल के। इस प्रकार बहुधा क्रम से वे अधिकारारूढ़ हुआ करते हैं और उनके द्वारा लोग राज्य-शासन को नियन्त्रित करते हैं। इँग्लेंड के लोगों को यह बड़ी स्वाभाविक रीति मालूम होती है।

इससे एक लाभ और भी है। अधिकार-विभाजन-तत्त्व के अनुसार व्यवस्थापक-विभाग, अमल-विभाग और न्याय-विभाग बहुधा सब देशों में अलग अलग होते हैं। परन्तु यह भी वहाँ पर दिखला चुके हैं कि इनमें बहुत ही अधिक वियोग नहीं किया जा सकता—विशेष कर,

व्यवस्थापक-विभाग और अमल-विभाग में थोड़ा-बहुत सम्बन्ध रहना अत्यावश्यक है। नहीं तो परस्पर के बीच कभी कभी घोर विरोध पैदा हो जा सकता है। इसलिए हो सके तो व्यवस्थापक-विभाग के बहुमत से अमल-विभाग के लोगों का मत मिलता-जुलता रहे। इँग्लैंड में वहाँ की रीति के अनुसार दोनों में सरलता से साम्य हो जाता है। परन्तु अमरीकन संयुक्त-राज्य में अमल-विभाग के श्रेष्ठ कर्मचारी और उसके मन्त्री व्यवस्थापक-विभाग से बिलकुल स्वतन्त्र हैं। इस कारण वहाँ इस बात की अत्यन्त आवश्यकता रहती है कि जिस तरह के लोगों का कांग्रेस में बहुमत रहे, उसी प्रकार के लोगों के हाथों में शासन का काम रहे, व्यवस्थापक-विभाग और अमल-विभाग में मेल-जोल रहे। यह केवल दलबन्दी-प्रथा के कारण सम्भव हो सकता है। जैसा बहुमत होगा, उसी प्रकार के लोग अमल-विभाग के कर्मचारी नियुक्त किये जायँगे और नये चुनाव के समय उसी प्रकार के लोग कांग्रेस के एक अङ्ग यानी प्रातिनिधिक सभायें चुने जाने की सम्भावना है। प्रेसीडेंट चार वर्ष तक अपने पद पर रहता है और प्रातिनिधिक सभा दो वर्ष के बाद फिर से चुनी जाती है। इसलिए बीच में यदि चुनाव हुआ तो दोनों ओर एक ही तरह के पुरुषों के चुने जाने की सम्भावना है। सिनेट के विषय में यह सम्भावना कम है क्योंकि उसका चुनाव छः वर्ष के बाद होता है और उस समय केवल एक तृतीयांश सिनेटर फिर से चुने जाते हैं। परन्तु प्रातिनिधिक सभा का महत्त्व कई दृष्टि से अधिक होने के कारण यह कह सकते हैं कि नये चुनाव के बाद अमल-विभाग और व्यवस्थापक-विभाग में बहुत कुछ मतैक्य हो जाता है, और इस कारण शासन का कार्य सुविधा से चल सकता है। दलबन्दी-प्रथा के न होने से ऐसे मतैक्य की सम्भावना नहीं है। उस समय दोनों में घोर विरोध हो सकता है और देश सङ्कट में पड़ सकता है। दलबन्दी-प्रथा इन सङ्कटों को रोकती है, कम से कम उनका प्रभाव बहुत कम हो जाता है।

इसके विरुद्ध दलबन्दी-प्रथा से हानियाँ भी भारी हैं। ऊपर कह चुके हैं कि मत अथवा स्वार्थ की भिन्नता के कारण लोगों का दलों में बँट जाना स्वाभाविक है। परन्तु यह सम्भव नहीं कि एक दल के सब ही लोगों का स्वार्थ सदा एक ही बात में रहे या उन सबका मत सदैव मिलता-जुलता रहे। स्वाभाविक दल होने के लिए आवश्यक है कि जिसका स्वार्थ या मत जिनके स्वार्थ या मत से मिलता-जुलता रहे, उन्हीं का वह साथ दे। परन्तु ऐसा करने से दलों में सदा परिवर्तन होता रहेगा, कोई निश्चितता नहीं रह जावेगी। नदी के प्रवाह में जिस प्रकार स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न पानी होता है, उस प्रकार एक ही दल में समय समय पर भिन्न भिन्न लोग देख पड़ेंगे। या ऐसा कहो कि दल सदा भिन्न भिन्न देख पड़ेंगे। यदि ऐसा होता रहा तो कार्य करने की शक्ति उनकी बहुत कम हो जावेगी। दल शक्तिवान् होने के लिए आवश्यक है कि वह अल्पकालिक न रहे, वह सुनिश्चित, सुस्थित और दीर्घकालिक रहे। इससे नतीजा यह निकलता है कि एक दल के कुछ लोगों को अपने अपने तात्कालिक मत दबा रखने पड़ते हैं या अपने अपने तात्कालिक स्वार्थ खोने पड़ते हैं। दीर्घकाल में सिद्ध होनेवाला स्वार्थ या दीर्घकाल तक मोटी तरह से बने रहनेवाला मत वही रहा, तो वे सब एक दल में बने रहते हैं और उन्हें अपने छोटे-मोटे मत दबा रखने पड़ते हैं और छोटे-मोटे स्वार्थों को ताक में रख देना होता है। सारांश, प्रजातन्त्र में भी कभी कभी स्वार्थ से हाथ धोना पड़ता है या निज के मत को अपने पास ही रखना होता है। प्रजातन्त्र में वाक्स्वातन्त्र्य, कर्मस्वातन्त्र्य और मतस्वातन्त्र्य की अधिकता होनी चाहिए और एक रीति से होती भी है। क्योंकि चाहे तो कोई अपने को दल से अलग कर अपने मन के अनुसार अपने विचार प्रकट कर सकता है और अपने मन के अनुसार कार्य भी कर सकता है। हाँ, वे बेक़ायदा न रहें इतनी ही परवा करनी पड़ती है। परन्तु दूसरी रीति से देखा जाय तो वाक्स्वातन्त्र्य,

मतस्वातन्त्र्य और कर्मस्वातन्त्र्य दबाया भी जाता है। दल के नेता जिस प्रकार कहेंगे, करेंगे या करने को या बोलने को कहेंगे, वह सब मानना होता है। दल की शक्ति के सामने दब जाना पड़ता है। दलबन्दी स्वाभाविक न होकर कृत्रिम हो जाती है। इसी से आगे चलकर एक यह परिणाम होने का डर रहता है कि दो दलों में कृत्रिम विरोध बना रहे—वे बिना सयुक्तिक कारण के एक दूसरे के विरुद्ध बने रहें और राजकीय सत्ता पाने के लिए परस्पर के काल्पनिक दोष भी ढूँढ़ निकालने में वे हमेशा कटिबद्ध रहें। जब तक दो दलों में मत-भिन्नता अथवा स्वार्थ-भिन्नता के कारण विरोध हो, तब तक तो सब स्वाभाविक देख पड़ता है। परन्तु ऐसी स्थिति सदा ही नहीं बनी रह सकती। कई बार सब लोगों का स्वार्थ एक ही बात में सम्बद्ध हो सकता है। उदाहरणार्थ, विदेशी आक्रमण से देश को बचाने के विषय में मतभिन्नता नहीं हो सकती। अधिकारारूढ़ कर्मचारी इस ध्येय की प्राप्ति के लिए शायद सबसे उत्तम उपाय करते रहें। पर यह सम्भव है कि प्रतिपक्ष के लोग उनके कार्यों में मुफ़्त ही दोष ढूँढ़ा करें, इस प्रकार लोगों का मत उनकी ओर से फेर लें और ख़ुद अधिकारारूढ़ होने पर सर्वसत्यानाश कर डालें। दलबन्दी जब बिलकुल ही कृत्रिम अवस्था तक पहुँच जाती है, तब ऐसी दुरवस्था प्राप्त हुए बिना नहीं रहती। और जहाँ कहीं छोटे-मोटे अधिकारी भी थोड़े थोड़े काल में बदलते रहते हैं, वहाँ तो दलबन्दी ख़ासी फ़ायदे की बात है। वहाँ तो लोगों के द्रव्य की बाक़ायदा लूट मच जाती है। अमरीका में ऐसा कई बार हुआ है। दलबन्दी यहाँ तक बढ़ सकती है कि अधिकारारूढ़ लोग देश का हित-अहित सब भूल जायँ और अपनी अपनी थैली भरने में मग्न हो जाया करें। ऐसे समय में देश की भलाई चाहनेवालों को यही सूझ पड़ता है कि प्रजातन्त्र के बदले अनियन्त्रित राज्यतन्त्र रहता, तो सबसे भला होता! इस प्रकार देश के हित का सत्यानाश हो सकता है। परन्तु स्मरण रहे कि यह अन्तिम बुराई बहुत कुछ रोकी

जा सकती है। मन्त्रिगणों को और व्यवस्थापक-विभाग के सदस्यों को छोड़कर यदि शेष कर्मचारी नेक चाल के रहते तक दूर न किये जा सकें तो इस बुराई की सम्भावना बहुत कम हो सकती है। इँग्लेंड और अमरीका के इतिहास की ओर देखने से यह बात बड़ी स्पष्ट हो जाती है। इसलिए प्रजातन्त्र में आवश्यक है कि छोटे मोटे कर्मचारी बार बार न चुने जायँ। फिर दलबन्दी की यह बुराई न उत्पन्न होगी।

तथापि जैसा ऊपर कह चुके हैं, लोगों को कभी कभी अपने मत दबा रखने पड़ते हैं। अपने दल के मत अपना उनमें विश्वास न रहते भी अपने ऊपर झेलने पड़ते हैं। जिस प्रकार वकील अपने मुवक्किल की पैरवी करता है, फिर उसका पक्ष कितना ही झूठा क्यों न हो, उसी प्रकार दल के नेताओं को भी करना होता है। दल के छोटे-मोटे व्यक्तियों को अपने मत अपने पास तो रखने ही पड़ते हैं, पर बहुत बार उनके नेताओं को निज का विश्वास न रहते भी झूठे-मूठे मत प्रचारित करने होते हैं, उनके लिए झूठी युक्तियाँ भी देनी पड़ती हैं और उन्हें ऐसा दिखलाना पड़ता है कि हमारा उन मतों में पूर्ण विश्वास है। राज-कारण इस प्रकार केवल झूठी दुनिया हो जाती है—राजकीय कार्यों में, राजकीय मतों में सत्यता का नाम भी नहीं रह जाता। जिन मतों में और जिन कार्यों में विश्वास नहीं, वह मत प्रतिपादन करना राजकीय दुनिया की साधारण बात है। फिर ये नेता जो जो कहें, वही वही अनुयायियों को करना होता है। व्यक्तिगत राजकीय अधिकार का उपयोग व्यक्ति नहीं करते, उसका उपयोग स्वार्थसाधक नेता किया करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि लोगों को राजकीय अधिकार मिलने से कुछ लाभ हुआ या नहीं? उलटपुलट कर क्या अन्त में कुछ लोगों की अनियन्त्रित सत्ता प्रस्थापित नहीं हो जाती?

४. इन हानियों को रोकने के क्या कुछ उपाय हो सकते हैं? इसका वास्तविक उत्तर वर्तमान देश-काल को जाने बिना नहीं दिया जा

सकता। प्रत्येक देश की और प्रत्येक काल की परिस्थिति भिन्न होगी, इस कारण परिस्थिति को देखकर ही कोई कह सकेगा कि किन उपायों का अवलम्बन किया जाय ताकि इन हानियों का ज़ोर बहुत कम हो जावे। एक उपाय ऊपर बतला ही चुके हैं कि यथासम्भव मुख्य मन्त्रिगण और व्यवस्थाविभाग के सदस्यों को छोड़ शेष कर्मचारी बार बार न बदले जायँ। इससे देश की नौकरियों की, और उनके द्वारा देश के द्रव्य की, लूट बहुत कम होगी। यह उपाय सब जगह लागू हो सकता है और नितान्त व्यावहारिक है। यदि सम्भव हो तो मन्त्रिगणों से लेकर शासन-सम्बन्धी और क़ानून-निर्माण-सम्बन्धी काम उचित नियम बनाकर व्यवस्थापक-विभाग के कुछ कुछ सदस्यों की समितियों को बाँट दिया जाय। परन्तु इसके लिए एक बात और आवश्यक है कि लोक-मत जागृत रहे। इस शर्त के अभाव में यह सम्भव है कि ये समितियाँ भी दलबन्दी के चक्कर में पड़ जायँ। इसलिए यह उपाय सब जगह लागू नहीं हो सकता। तीसरा उपाय यह हो सकता है कि शासन-विभाग के कुछ कर्मचारी अपने पदों पर अधिक काल तक बने रहें। विशेषकर, जिन कर्मचारियों को किसी विषय का विशिष्ट ज्ञान और अनुभव आवश्यक है, वे अपने पद से अन्य मन्त्रियों के साथ न हटें न हटाये जायँ। हाँ, जब बहुत ही महत्त्वकारक भेद उपस्थित हो जाय तब बात दूसरी है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शासन-विभाग के सारे के सारे कर्मचारी यदि एकदम न बदलें तो दलबन्दी का ज़ोर और तत्कारण होनेवाली हानियाँ कम हो सकती हैं। परन्तु इसके लिए कोई लिखित नियम नहीं बनाया जा सकता। यह केवल रूढ़ि का नियम हो सकता है। क्योंकि पद से अलग होने की आवश्यकता का निर्णय मंत्री स्वयं कर सकते हैं, दूसरे नहीं। चौथा उपाय यह हो सकता है कि मन्त्रिगण स्वयं व्यवस्थापक-सभा में अपनी प्रत्येक हार पर पदत्याग न किया करें। बार बार नये मन्त्रिगण अथवा व्यवस्थापक-विभाग के सदस्य चुने जाने लगें तो लोगों की रुचि

राजकीय बातों से हट जाती है और फिर दलबन्दी को पूरा पूरा मौक़ा मिलता है। जब कभी ऐसी हार हो कि उनका बतलाया क़ायदा न बनने से उनसे राज्य-शासन ही न चल सके, तब ही वे पदत्याग किया करें। पाँचवाँ उपाय यह हो सकता है कि बहुत महत्त्वपूर्ण क़ायदों पर मूलमतदाताओं की सम्मति ले ली जाया करे। उन्हें अपने राजकीय अधिकारों का उपयोग प्रत्यक्ष करने को मिलेगा तो वे अधिक सचेत रहा करेंगे, दल के नेताओं के बिलकुल अधीन न हो जावेंगे। उनका मत लेकर और निज के राजकीय अधिकार का उपयोग करने को बाध्य कर मतदाताओं को जगाते रहना दलबन्दी के ज़ोर को कम करने का एक अच्छा उपाय है।

इन राजकीय उपायों के अलावे कुछ नैतिक उपाय भी किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध का सबसे पहला उपाय यह है कि लोगों की शिक्षा और ज्ञान बढ़ाया जाय। अज्ञान और स्वाधीनता परस्पर विरुद्ध हैं। शासन की बुराइयाँ तब ही स्पष्ट की जा सकती हैं और लोग अपने मताधिकार का तब ही वास्तविक उपयोग कर सकते हैं कि जब उन्हें साधारण शिक्षा के साथ साथ राजकीय विषयों की भी शिक्षा मिलती रहे। इसलिए राजकीय कार्यों की स्वतन्त्र चर्चा होनी चाहिए। कुछ लोगों का यह काम ही रहे कि वे तात्त्विक दृष्टि से राजकीय प्रश्नों का समय समय पर और स्थान स्थान पर विचार ही किया करें। यदि राजकीय कार्यों में वे प्रत्यक्ष भाग न लें तो कोई क्षति नहीं। उनका यही काम रहे कि राजकीय प्रश्नों की चर्चा वे छेड़ा करें। इस रीति का बराबर उपयोग होता रहा तो राज-कर्मचारियों को अपने कार्यों और मतों के विषय में सदा सावधान रहना पड़ेगा और दलबन्दी की बुराइयाँ बहुत कम हो जावेंगी। समय समय पर लोगों में स्वदेशाभिमान जागृत किया जावे। ऐसा करने से लोग अपने देश के प्रश्नों पर अधिक विचार किया करेंगे और वे दलबन्दी के पुर्ज़े बनने से थोड़े बहुत बच जावेंगे। इसके लिए आवश्यक है कि उन्हें समय समय पर इस बात

का ज्ञान हो जाया करे कि देश के लिए सबसे भली बात कौन होगी। इस भलाई को पहचानने पर वे इस बात को अपना कर्तव्य समझें कि हमें अपना सारा ज़ोर इसी की सिद्धि में लगाना होगा । और सबसे भारी बात यह है कि देश के लिए वे तन, मन, धन अर्पण करने को तैयार रहें। स्वाधीनता की इच्छा भी लोगों में बढ़ाई जाय। लोगों को मालूम होता रहे कि हम वाक्-स्वातन्त्र्य, मतस्वातन्त्र्य और कर्मस्वातन्त्र्य का यथाशक्ति पूरा पूरा उपयोग करें। लोगों का शील भी उच्च करने का प्रयत्न किया जाय। शील के अन्तर्गत अनेक गुण आ जाते हैं। शीलवान् लोग लोगों के बहकाने से नहीं बहक सकते। वे स्वाधीनचित्त पुरुष होते हैं। इस कारण दल के नेताओं के क़ाबू में सरलता से नहीं आ सकते। नेता के मुख्य गुण यानी दूरदर्शिता और साहस ख़ुद उनमें रहते हैं। समय पड़ने पर वे शूरता दिखला सकते हैं और आवश्यक स्वार्थ त्याग करने को तत्पर रहते हैं। इन नैतिक उपायों का जितना अधिक अवलम्बन किया जावेगा, उतनी ही दलबन्दी की बुराइयाँ कम होंगी।

तेईसवाँ परिच्छेद

राज्यों के भेद और उनका वर्गीकरण

इस भाग में हमने राज्य के सङ्गठन का विचार किया है। वास्तव में यह विषय बड़ा विस्तारमय है। इसका विवेचन हमने अनेक परिच्छेदों में किया है। परन्तु राज्य के सङ्गठन का वर्णन विस्तारपूर्वक करने के बाद राज्यों के भेदों को जानकर उनका वर्गीकरण करना होगा। क्योंकि राज्य का सविस्तर सङ्गठन कुछ अंश में राज्य के मुख्य रूप पर, उसके भेद विशेष पर, अवलम्बित रहता है। इसलिए इस परिच्छेद में हम राज्यों के भेदों का वर्णन और उनका वर्गीकरण करेंगे।

१. हम पहले अध्याय में बतला चुके हैं कि प्रत्येक राज्य में लोग, भूमि और राज्य-प्रबन्ध नामक तीन बातें आवश्यक हैं। लोगों की संख्या अथवा भूमि के क्षेत्रफल के अनुसार राज्य का वर्गीकरण करना वृथा है। इससे न तो कोई लाभदायक बात मालूम होती है, न यह भेद नाममात्र को भी स्थायी हो सकता है। जन-संख्या तथा क्षेत्रफल बदलते ही रहेंगे। राज्यों के भेद राज्य-प्रबन्ध के भेदों के अनुसार ही हो सकते हैं। राज्यविज्ञान में सबसे प्राचीन और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वर्गीकरण यूनानी तत्त्ववेत्ता अरस्तू का है। राज्यसत्ता पर जितने लोगों का अधिकार हो, उसके अनुसार इस विद्वान् ने राज्यों के भेद किये हैं। यदि सत्ता एक मनुष्य के हाथ में रही, तो राज्य एकतान्त्रिक होगा। यदि सत्ता एक से अधिक लोगों के हाथ में रहेगी, तो राज्य बहुतान्त्रिक होगा। यदि सत्ता सब लोगों के हाथ में रही तो वह सर्वतान्त्रिक होगा। अँगरेज़ी के क्रमशः मानर्की, ऐरिस्टोक्रेसी और पोलिटी शब्द इनके लिए

उपयोग में लाये गये हैं। आजकल के रूढ़ार्थ की दृष्टि से मानर्की से ऐसे राज्य का मतलब है कि जहाँ राज्यशासन का सर्वश्रेष्ठाधिकारी अपने अधिकार वंशपरम्परा से पाता रहे, यानी, आज-कल के शब्दों में कहना हो तो, जहाँ 'राजा' या 'रानी' रहे। अरिस्टोक्रेसी के अर्थ के विषय में अरस्तू ने कुछ गड़बड़ कर डाला है। पहले तो कहा है कि ऐसे राज्य में राज्य-शासन की सत्ता एक से अधिक लोगों के हाथ में रहे। परन्तु थोड़ी दूर पर यह भी कहा है कि ये एक से अधिक लोग राज्य के श्रेष्ठ लोग रहें। इस दृष्टि से इस शब्द का मतलब 'श्रेष्ठ तान्त्रिक राज्य' होना चाहिए। परन्तु ये श्रेष्ठ लोग श्रेष्ठ लोगों के वंशों में ही पैदा होंगे, इसलिए इसे 'कुलीनतन्त्र' भी कहना अनुचित न होगा। परन्तु यह गड़बड़ इतने में ही नहीं समाप्त होता। ये 'श्रेष्ठ' या 'कुलीन' लोग धनी भी रहते हैं, इसलिए ऐसे राज्य को 'धनिकतन्त्र' भी कह सकते हैं। इस प्रकार ख़ुद अरस्तू ने इस शब्द के मतलब स्थान स्थान पर बदले हैं। आज-कल इस शब्द में ये सब अर्थ एक ही बार ध्वनित होते हैं। 'ऐरिस्टोक्रेसी' कहने से आज-कल के लोग ऐसे राज्य का मतलब करते हैं कि जहाँ विद्वान्, कुलीन, धनी इत्यादि लोगों के हाथ में राजसूत्र हों। धनी और कुलीन, और विशेषकर, वंशपरम्परागत कुलीन, लोगों द्वारा शासन का इस शब्द से विशेष अर्थ ध्वनित होता है। और इस कारण इस शब्द का अच्छे अर्थ में व्यवहार नहीं होता। ऐसे राज्य को आज-कल अच्छा राज्य नहीं कहते। 'पोलिटी' शब्द के अँगरेज़ी में और दूसरे अर्थ हैं, परन्तु जिस यूनानी शब्द के लिए यह शब्द व्यवहृत हुआ है, उसका अर्थ है लोकतन्त्र। परन्तु आज-कल इसी मतलब में 'डेमोक्रेसी' शब्द का उपयोग होता है। अरस्तू ने डेमोक्रेसी शब्द का वास्तविक उपयोग ऐसे राज्य के लिए किया है कि जहाँ लोकतन्त्र तो हो, पर राज्यसूत्र के चालक इस सत्ता का उपयोग अपने ही स्वार्थ के लिए करते हों। परन्तु ख़ुद इसी लेखक ने इसी शब्द का उपयोग वास्तविक

'लोकतन्त्र' के अर्थ में भी किया है। और इस कारण पाठक थोड़ी न थोड़ी गड़बड़ी में अवश्य पड़ जाते हैं।

जिस प्रकार 'पोलिटी' का भ्रष्ट रूप 'डेमोक्रेसी' कहा है, उसी प्रकार मानर्की का भ्रष्टरूप 'टीरेनी' और 'ऐरिस्टोक्रेसी' का भ्रष्टरूप 'ओलिगैर्की' बतलाया है। जब 'मानर्की' का एकतान्त्रिक शासक अपनी सत्ता का दुरुपयोग कर अपना स्वार्थ साधने लगता है, तो वह 'टीरेनी' राज्य हो जाता है। इस शब्द का आज-कल की भाषा में अनुवाद करना कठिन है। ऊपर कह ही चुके हैं कि ऐस्टोक्रेसी का मूल अर्थ अब न रहा, ओलिगैर्की के ही अर्थ में इस शब्द का उपयोग होता है। ऐरिस्टोक्रेसी से धनी, वंशपरम्परागत कुलीन अथवा विद्वानों-द्वारा चलाये राज्य-शासन का मतलब होता है। और एक कल्पना रूढ़ है कि राज्य-सत्ता जितने लोगों के हाथ में होगी, उतने ही लोगों का राज्य-शासन से स्वार्थ विशेष सिद्ध होगा। विशेषकर, धनी और कुलीन लोग अपने धन और पद की रक्षा के लिए राज्य-सत्ता का उपयोग किया करते हैं। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ कुछ सत्य भी है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि 'ऐरिस्टोक्रेसी' का मूल अर्थ बदल कर बुरा अर्थ रूढ़ होगया।

इस तरह अरस्तू ने राज्यों के तीन भेद किये—एकतन्त्र, बहुतन्त्र, सर्वतन्त्र (या लोकतन्त्र)। परन्तु प्रत्येक तरह के राज्य का भ्रष्ट रूपान्तर भी हो सकता है। इसलिए, इनके तीन भ्रष्ट रूप भी बना लिये। आज-कल भ्रष्ट रूपों का विचार नहीं रहा है। आज-कल केवल मानर्की, ऐरिस्टोक्रेसी और डेमोक्रेसी यानी, एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र इन तीन रूपों का विचार किया जाता है। बाक़ी सब भेदों को लोग भूल से गये हैं।

२. अब यह स्मरण रखना चाहिए कि अरस्तू ने ये भेद अपने काल के राज्यों के रूपों को देखकर किये थे। उस समय यूनान में राज्य यानी एक नगर और उसके आस-पास की भूमि ही होता था।

इस कारण, तत्कालीन लोगों के सामने आज-कल के बड़े बड़े राज्य न थे। उस समय राज्य की कल्पना का अन्त एक नगर में ही हो जाता था। इसलिए, ये भेद उसी समय के राज्यों को लागू हो सकते हैं ? आज-कल के राज्यों को नहीं। उदाहरणार्थ, इँग्लेंड, स्काटलेंड, वेल्ज़ आदि का राज्य लो। यहाँ एक राजा है, इसलिए वह पहले भेद में आ सकता है। फिर, सर्वशक्तिमान् पार्लिमेंट है और वंश-परम्परागत सरदार यानी लार्ड लोगों की सभा उसका एक अंग है। दूसरे अंग में भी बहुधा विद्वान् और धनवान् ही लोग होते हैं जिसे हाउस ऑव् कॉमन्स् कहते हैं। इस दृष्टि से यह राज्य दूसरे वर्ग में आ सकता है। पार्लिमेंट की मुख्य सत्ता हाउस आव् कामंस के हाथ में है। इस सभा के सब लोग चुने हुए होते हैं। जो लोग उन्हें चुनते हैं, उनका इन पर बहुत दबाव पड़ता है। ऐसे चुननेवालों की संख्या बड़ी भारी है या ये प्रजा का महत्त्वपूर्ण भाग हैं। इसलिए, इस राज्य को प्रजातन्त्र भी कह सकते हैं। इस प्रकार एक ही राज्य को अरस्तू के तीनों भेद एक ही समय लागू होते हैं। फिर उसे किस नाम से पुकारना चाहिए ? जो बात हमने इँग्लेंड, स्काटलेंड, वेल्ज़ के राज्य के विषय में कही है, वही थोड़े बहुत प्रमाण से आज-कल सब ही राज्यों को लागू होती है।

फिर, उस समय के प्रजातन्त्र की कल्पना और आज-कल के प्रजातन्त्र की कल्पना में भी भेद है। उस समय प्रजातन्त्र प्रत्यक्ष था, प्रजा की सभा में सब ही नागरिक भाग लेते थे। और यह उस समय सम्भाव्य भी था। क्योंकि राज्य की परिसीमा एक नगर में समाप्त हो जाती थी। आज प्रजातन्त्र केवल अप्रत्यक्ष यानी प्रातिनिधिक है। नागरिक लोग अपने प्रतिनिधि चुनते हैं और राज्य-शासन के महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए इन चुने हुए लोगों की सभा होती है। चुननेवालों का चुने हुए लोगों पर दबाव अवश्य पड़ता है, परन्तु आख़िर को यहाँ प्रजातन्त्र अप्रत्यक्ष ही है, प्रत्यक्ष नहीं। इसका कारण

भी स्पष्ट है। आज के राज्यों की सीमा एक नगर में समाप्त नहीं होती—आज के राज्यों में सैकड़ों नगर, हज़ारों शहर और लाखों गाँव होते हैं। इन सब लोगों की सभा होना केवल असम्भव बात है, फिर सभा में कोई काम होने की बात कहाँ? सारांश, अरस्तू का प्रजातन्त्र आज कहीं भी नहीं देख पड़ता। अरस्तू की परिभाषा के अनुसार आज-कल के सब प्रजातन्त्र, श्रेष्ठतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र ही होंगे। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जिस किसी राज्य में आज-कल प्रजा के प्रतिनिधि शासन का थोड़ा-बहुत कार्य करते हैं, वह अब प्रजातन्त्र ही कहलाता है। इसे ही प्रातिनिधिक राज्य-प्रणाली भी कहते हैं। परन्तु यह प्रातिनिधिक राज्य-प्रणाली अरस्तू की परिभाषा में कहीं भी नहीं है।

एक और प्रकार का राज्य अरस्तू की परिभाषा में समाविष्ट नहीं होता। किन्हीं किन्हीं राज्यों में मुख्य धर्माधिकारी ही राज्य का काम धर्म के नियमों के अनुसार करता रहा है। इसे अँगरेज़ी में थिओक्रेसी अथवा धर्मतन्त्र कहते हैं। ऐसे राज्य आज-कल क़रीब क़रीब नहीं हैं। परन्तु प्राचीन काल में यहूदियों का राज्य ऐसा ही था। मुहम्मद के बाद मुसलमानों का अरब, एशियायी, टर्की इत्यादि स्थानों में जो राज्य रहा, उसे धर्मतन्त्र ही कह सकते हैं। इतना ही नहीं तो जहाँ जहाँ मुसलमान गये, वहाँ वहाँ यह कल्पना अल्पाधिक प्रमाण में अवश्य देख पड़ती है। ऐसे राज्य की कल्पना अरस्तू ने अपने सामने न रखी, फिर उसे कोई नाम कहाँ से देता?

सारांश, अरस्तू का राज्य-वर्गीकरण आज-कल लागू नहीं होता। तथापि ये शब्द आज-कल की राजकीय चर्चा में और कभी कभी राज्य-विज्ञान में भी आया करते हैं। इसलिए उनका प्राचीन और अर्वाचीन दोनों अर्थ ध्यान में रखना लाभकारी है।

३. आज-कल के राज्यों के भेद केवल एक ही दृष्टि से करना असम्भव है। अमरीका के संयुक्त-राज्य और इँगलैंड, स्काटलैंड, वेल्ज़

के राज्य की तुलना की जाय तो एक बात स्पष्ट मालूम होती है। अमरीका के संयुक्त-राज्य में एक सर्वोपरि श्रेष्ठ राज्य-शासक अवश्य है, परन्तु उसके कार्यों की मर्यादा क़ायदे से परिमित और निश्चित है, वह अपरिमित नहीं। वहाँ की कांग्रेस सभा और प्रेसीडेन्ट चाहे जो काम नहीं कर सकते, उनके लिए क़ायदे से जो कार्य निश्चित हो चुके हैं, वे ही काम वे कर सकते हैं। शेष कार्य स्थान स्थान पर जो छोटे छोटे राज्य हैं, उनके अधीन हैं और उनसे वे बहुधा छीने नहीं जा सकते। बहुधा कहने का कारण यह है कि किसी कठिन और टेढ़ी-मेढ़ी रीति से इन उपराज्यों के और सर्वश्रेष्ठ सरकार के अधिकारों में थोड़ा बहुत रद्दोबदल हो सकता है। परन्तु यह बात किसी प्रकार सर्व-श्रेष्ठ सरकार की मर्ज़ी पर नहीं है। इसलिए यही कहना चाहिए कि सर्वश्रेष्ठ सरकार और उपराज्य दोनों के अधिकार क़ायदे से निश्चित हैं और वे साधारण रीति से नहीं बदले जा सकते। इस बात में सर्व-श्रेष्ठ सरकार की मर्ज़ी नहीं चलती। परन्तु इँग्लैंड, स्काटलैंड, वेल्ज़ के राज्य में ऐसी बात नहीं है। वहाँ भी 'स्थानिक स्वराज्य' है, पर यह स्थानिक स्वराज्य पार्लिमेंट की बनाई हुई सृष्टि है। पार्लिमेंट बाक़ायदा इन स्थानिक स्वराज्यों की सृष्टि नष्ट कर सकती है या चाहे तो उनके अधिकारों में परिवर्तन कर सकती है। वास्तव में ऐसी बहुत कम बातें हैं कि जो पार्लिमेंट बाक़ायदा नहीं कर सकती। पहला उदाहरण संयुक्त-राज्य का है, यानी वह अनेक राज्य मिलकर बना हुआ राज्य है। दूसरा उदाहरण एकरूप राज्य का है, यानी यहाँ एक ही राज्य है, यहाँ राज्य के उपाङ्ग नहीं हैं। यानी, राज्यों के दो भेद हो सकते हैं; एक, संयुक्त-राज्य; दूसरे, एकरूप राज्य* पहले

---

*इन दो प्रकार के राज्यों के अधिक स्पष्ट भेद जानने के लिए 'संयुक्त-शासन-प्रणाली' नामक परिच्छेद पढ़ना चाहिए। वहाँ पर अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

के उदाहरण जर्मनी, स्विट्ज़रलैंड, अमरीका का संयुक्त-राज्य, कनाडा का राज्य और आस्ट्रेलिया का कामनवेल्थ है। दूसरे प्रकार में, फ्रांस, इँग्लैंड (यानी, इँग्लैंड, स्काटलैंड, वेल्ज़), स्पेन, इटली, हालैंड, बेल्जियम, पोर्चगाल, ग्रीस, स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क इत्यादि हैं। यह भेद भी सर्वथा पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अधिकारों की विभिन्नता के अनुसार और उनके महत्त्व के अनुसार कोई राज्य संयुक्त-राज्य कहला सके या न भी कहला सके। तथापि यदि राज्य-शासन के अधिकार बाक़ायदा बाँट दिये गये हों और इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ सरकार और उपराज्य पैदा हो जावें और उनके अधिकार मामूली रीति से न बदले जा सकें, तो संयुक्त-राज्य का अस्तित्व मानना ही होगा। और इसलिए यह भेद महत्त्वपूर्ण है।

४. उपर्युक्त इँग्लैंड और अमरीका के राज्य-प्रबन्धों में एक और भेद है। किसी भी राज्य के तीन अंग होते हैं, व्यवस्थापक-विभाग, अमल-विभाग और न्याय-विभाग। इसमें क़ानून-विभाग और अमल-विभाग का परस्पर सम्बन्ध बड़े महत्त्व का है। और यह तीन प्रकार का हो सकता है। अमल-विभाग का पद व्यवस्थापक-विभाग से श्रेष्ठ हो, या बराबर हो, या हीन हो। एकतन्त्र में ही बहुधा अमल-विभाग व्यवस्थापक-विभाग से श्रेष्ठ रहा करता है। ऐसे राज्य अब बहुत ही कम हैं। परन्तु ऐसे राज्य आज भी कुछ हैं कि जहाँ अमल-विभाग व्यवस्थापक-विभाग के बराबर है। अन्य बहुत से देशों में उसका पद हीन रहता है। अमरीका के संयुक्तराज्य में वह सम्बन्ध बराबरी का है, तो इँग्लैंड में अमल-विभाग व्यवस्थापक-विभाग से हीन है। पहले प्रकार के राज्य को प्रेसिडेन्शियल अथवा अध्यक्षीय और दूसरे प्रकार के राज्य को पार्लिमेंटीय कहते हैं। ये शब्द केवल पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। अध्यक्षीय का यह अर्थ नहीं कि जहाँ के राज्य का सर्वोच्च शासक लोगों का चुना हुआ अध्यक्ष होता है। न पार्लिमेंटीय का केवल ऐसे राज्य से मतलब है कि जहाँ किसी न

किसी प्रकार की व्यवस्थापक-सभा होती है। पहले शब्द का ऐसे राज्य से मतलब है कि जहाँ अमल-विभाग का पद व्यवस्थापक विभाग के बराबर है। और दूसरे का ऐसे राज्य से कि जहाँ वह हीन है। तथापि ये नाम अमरीका और इँग्लेंड को देखकर बनाये गये हैं। अमरीका में पहली रीति प्रचलित है, तो इँग्लेंड में दूसरी। अमरीका का प्रेसिडेंट (अध्यक्ष) और उसके मन्त्री वहाँ की कांग्रेस (व्यवस्थापक-सभा) के प्रत्यक्ष दबाव में नहीं हैं। परन्तु इँग्लेंड का सारा अमल-विभाग बहुतेरी बातों में पार्लिमेंट के मातहत जैसा है। इसी लिए इस प्रकार के राज्य-प्रबन्ध को प्रेसिडेंशियल (अध्यक्षीय) और दूसरे के पार्लिमेंटीय कहा है। जैसा पहले देख चुके हैं* यह भेद भी महत्त्व का है।

५. राज्यों राज्यों में एक तीसरा भेद भी हो सकता है। इँग्लेंड में जिस प्रकार जिस सभा के द्वारा मामूली क़ायदे बनते हैं, उसी प्रकार उसी सभा के द्वारा राज्य-सङ्गठन में भी रद्दोबदल किये जा सकते हैं, राज्य की घटना बदली जा सकती है। पार्लिमेंट जिस प्रकार साधारण क़ायदे बनाती है, उसी प्रकार राज्य की घटना को भी बदल दे सकती है, यहाँ तक कि ख़ुद का स्वरूप पलट डाल सकती है। दोनों तरह के क़ायदे एक ही सभा के द्वारा बन सकते हैं और वे सर्वथा बाक़ायदा होंगे। परन्तु अमरीका में ऐसी बात नहीं है। जैसा ऊपर बतला चुके हैं, राज्य-शासन के अधिकार सर्वश्रेष्ठ सरकार और उपराज्यों में बँटे ही हैं। परन्तु एक बात और है और वह यह है कि राज्य का संगठन सर्वश्रेष्ठ सरकार अपने इच्छानुसार नहीं बदल सकती। कांग्रेस और प्रेसिडेंट मिलकर उन्हें मिले हुए अधिकारों के भीतर ही क़ायदे बना सकते हैं। यहाँ जब कभी राज्य की घटना में परिवर्तन करना होता है, तो बड़ी टेढ़ी और कठिन रीति का अवलम्बन करना पड़ता है। पहले,

---

* 'अधिकार-विभाजन-तत्त्व' और 'अधिकार-विभाजन के ऐतिहासिक परिणाम' नामक परिच्छेद देखिए।

(१) कांग्रेस यानी व्यवस्थापक-सभा के दोनों मन्दिरों के दो-तृतीयांश सदस्यों से अथवा (२) उपराज्यों की कुल संख्या में से दो-तृतीयांश व्यवस्थापक-सभाओं से कांग्रेस को इस सम्बन्ध की सूचना आनी चाहिए। फिर कांग्रेस की आज्ञा से एक सर्वसाधारण सभा निमन्त्रित होगी। वह विचार करेगी कि राज्यसङ्गठन में कौन से सुधार किये जायँ। फिर, या तो (१) उपराज्यों की तीन चतुर्थांश व्यवस्थापक-सभाओं की उसे सम्मति मिलनी चाहिए, या (२) उपराज्यों की सर्वसाधारण सभायें बुलाई जायँ और इन सभाओं की तीन चतुर्थांश संख्या को ये सुधार सम्मत होवें। इन दो रीतियों में से किस रीति का अवलम्बन किया जाय इस बात का निर्णय कांग्रेस करे। इतना होने पर कहीं राज्य-घटना में कोई परिवर्तन हो सकता है। कोई आश्चर्य नहीं कि १७८७ ईसवी के बाद केवल पन्द्रह बार ऐसे परिवर्तन वहाँ हो सके और इन सबकी पहली सूचना कांग्रेस से आई। राज्यसङ्गठन के सुधार की रीति इँग्लैंड में जितनी सरल है, उतनी ही अमरीका में कठिन है। इस दृष्टि से दोनों में वास्तव में ज़मीन-आसमान का अंतर है। इँग्लैंड का राज्यसङ्गठन इच्छाविधेय है, तो अमरीका का दृढ़ है। सारांश, सङ्गठन में होनेवाले परिवर्तन की दृष्टि से राज्य इच्छाविधेय अथवा दृढ़ भी कहे जा सकते हैं।

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह तार्किक भेद सब राज्यों को सर्वथा लागू करना कठिन ही है। यह भेद केवल मोटी तरह से लागू किया जा सकता है। यथा, फ्रांस के राज्यसङ्गठन में परिवर्तन करने की सूचना को व्यवस्थापक-सभा के दोनों भवनों की संमति मिलनी चाहिए। ऐसी संमति मिलने पर, सीनेट और चैंबर आव् डेप्युडीज़ (यानी व्यवस्थापक-सभा के दोनों अङ्गों) की संयुक्त-सभा होगी और वह नैशनल असेम्बली (यानी, राष्ट्रीय सभा) कहलावेगी। और उसकी बैठक फ्रांस की राजधानी पेरिस में न होकर उसके उपनगर वर्सैल्ज़ में होगी। उस सभा में बहुमत होने से राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन हो सकता है। यह रीति मामूली क़ायदों की रीति से थोड़ी ही भिन्न है,

अधिक नहीं। इसलिए इस राज्यसङ्गठन को भी इच्छाविधेय ही कहना चाहिए। परन्तु यह स्मरण रहे कि इँग्लेंड से यह कुछ भिन्न है। स्वीडन में ऐसे परिवर्तन वहाँ की व्यवस्थापक-सभा रिक्स डेग ही कर सकती है। परन्तु एक बात वहाँ भी है। एक रिक्सडेग में प्रस्ताव स्वीकृत होने पर फिर जब इस सभा का साधारण चुनाव हो तो उस रिक्सडेग में भी वह स्वीकृत होना चाहिए। एक रीति से देखा जाय तो ऐसा ही कहना चाहिए कि वह प्रस्ताव लोगों को स्वीकृत होना चाहिए। क्योंकि पहली रिक्सडैग में स्वीकृत होने पर यदि लोगों ने ऐसे ही प्रतिनिधि चुने कि जिन्हें भी वह प्रस्ताव स्वीकृत है, तो यही कहना चाहिए कि लोगों को ही वह स्वीकृत है। परन्तु यह रीति बहुत कठिन नहीं है। इसलिए इसे भी इस बात के लिए इँग्लेंड के ही वर्ग में रखना होगा। तथापि यह न भूलना चाहिए कि इँग्लेंड की रीति से स्वीडन के राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने की रीति कुछ भिन्न अवश्य है। स्विट्ज़रलेंड में यह भेद और बढ़ गया है। वहाँ की व्यवस्थापक-सभा में स्वीकृत होने पर इस सभा के सदस्यों को चुननेवालों की भी बहुसंख्यक संमति मिलनी चाहिए, यानी वह प्रस्ताव लोगों को पसन्द होना चाहिए। यहाँ परिवर्तन करने की कठिनाई की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई है कि वहाँ के राज्य-सङ्गठन को दृढ़ कहना ही होगा, परन्तु, वह इतना दृढ़ नहीं है कि जितना अमरीका के संयुक्त-राज्य में है।

सारांश, राज्यों में इच्छा-विधेयता और दृढ़ता की मात्रा निश्चित नहीं देख पड़ती, वह कम अधिक है और कम-अधिक होती भी जाती है। तथापि मोटी तरह से यह भेद मानने लायक है और उपयोगी है।

६. कोई कोई राज्य-सङ्गठनों में एक भेद और मानते हैं। किसी देश के राज्य-सङ्गठन का क़ायदा बहुत अंश में काग़ज़ पर लिखा रहता है, वहाँ राज्य-सङ्गठन-सम्बन्धी रूढ़ क़ायदा बहुत ही थोड़ा रहता है। किसी देश में राज्य-सङ्गठन का क़ायदा कुछ लिखा हुआ है

तो कुछ न लिखा हुआ यानी रूढ़ क़ायदा भी रहता है। और कभी कभी यह रूढ़ क़ायदा राजकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहता है। उदाहरणार्थ, इँग्लेंड में कैबिनेट नाम का मुख्य मन्त्रियों की जो समिति वहाँ के राज्यसूत्रों को चलाया करती है, उसकी सृष्टि क़ायदे में कहीं नहीं है। तथापि, गत दो सौ वर्षों से यह कैबिनेट राज्य-शासन-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण काम करती आई है। गत क़रीब दो सौ वर्षों से यह भी नियम चला आता है कि जब मन्त्रियों की मुख्य या महत्त्वपूर्ण नीति हाउस आव् कामन्स में नहीं चल सकती, तो मन्त्रिमण्डल इस्तीफ़ा दे देता है। इस विषय का भी कोई लिखा क़ायदा नहीं है। परन्तु यह रीति इतनी दृढ़ होगई है कि उसे क़ायदे का ही स्वरूप मिल गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी प्रकार इँग्लेंड में राज्य-सङ्गठन के बहुत से रूढ़ क़ायदे हैं, जो काग़ज़ पर कभी लिखे नहीं गये और क़ायदे के रूप में कभी पास नहीं हुए। इस तरह का राज्य-सङ्गठन 'अलिखित' कहलाता है। इसके विरुद्ध, अमरीका का राज्य-सङ्गठन देखिए। वहाँ क़रीब क़रीब सब ही बातें राज्य-सङ्गठन के क़ायदे में लिखी हुई हैं, राज्य-सङ्गठन की बहुत कम बातें हैं कि जो क़ायदे के रूप में लिखी न गई हों। ऐसा राज्य-सङ्गठन 'लिखित' कहलाता है।

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि 'लिखित' और 'अलिखित' राज्य-सङ्गठन की दृष्टि से राज्यों का वर्गीकरण करना भ्रमकारक होगा। ऐसा कोई राज्य-सङ्गठन नहीं है, जो थोड़ा न थोड़ा लिखा हुआ न हो। 'लिखित' और 'अलिखित' का केवल इतना ही अर्थ हो सकता है कि 'लिखित' राज्य-सङ्गठन में बहुधा सब महत्त्वपूर्ण नियम लिखे रहते हैं, 'अलिखित' में कुछ महत्त्वपूर्ण नियम नहीं लिखे रहते। इँग्लेंड में भी इस सम्बन्ध के कई महत्त्वपूर्ण क़ायदे लिखे हुए हैं। 'लिखित' राज्य-सङ्गठन भी पूरा पूरा लिखा हुआ नहीं रहता। समय परिवर्तनशील होता है और उसके अनुसार नियमों में परिवर्तन हुआ

ही करते हैं। इस कारण बहुत-सी नई रीतियाँ और रूढ़ियाँ प्रचलित होती रहती हैं। कुछ काल में वे इतनी बलशालिनी हो जाती हैं कि उन्हें क़ायदे का ही स्वरूप प्राप्त हो जाता है और उन्हें 'राज्य-सङ्गठन' का भाग ही कहना पड़ता है। उदाहरणार्थ, अमरीका के संयुक्तराज्य में लिखे क़ायदे में कहीं ऐसा नहीं बतलाया है कि लगातार तीन बार वही पुरुष अध्यक्ष (प्रेसिडेन्ट) न होने पावे। परन्तु रीति पड़ गई है और बहुधा वही पुरुष तीन बार लगातार प्रेसिडेन्ट नहीं हो सकता। दूसरा उदाहरण लीजिए। इँग्लेंड की कैबिनेट पद्धति इटली में भी प्रचलित है। वहाँ की पार्लिमेंट में जब तक उनके पक्ष में बहुमत रहता है, तब तक मन्त्रिमण्डल अपने पदों पर बना रहता है। बहुमत के प्रतिकूल होते ही वे पद त्याग कर देते हैं। परन्तु यह बात क़ायदे में कहीं नहीं है जो भी इटली के राज्य-सङ्गठन का सब महत्त्व-पूर्ण क़ायदा लिखा हुआ है।

'लिखित' और 'अलिखित' भेद के अनुसार राज्यों का वर्गीकरण न करने के और भी कारण हैं। लोगों की समझ है कि राज्य-सङ्गठन लिखा हुआ रहा तो सरकार अपनी मनमानी नहीं चला सकती। क्योंकि उनका कहना है कि सरकार के अधिकारादि राज्य-सङ्गठन में बतला दिये जाते हैं। जो बात इसमें नहीं दी है, उसे सरकार नहीं कर सकती। यदि करे भी तो वह बात जायज़ न होगी और अमरीका के संयुक्त-राज्य में ऐसी बात है भी। परन्तु यह विचार का भ्रम है कि लिखित राज्य-सङ्गठन में हमेशा ऐसी बात होती ही है। सरकार के कार्यों पर ऐसे जो नियन्त्रण रहते हैं, वह राज्य-सङ्गठन के लिखित होने के कारण नहीं होते—वे होते हैं सरकार की मनमानी से लोगों का बचाव करनेवाली अदालतों के कारण। जब कभी सरकार कोई नाजायज़ काम करती है, तो लोग अदालत की शरण लेते हैं। अदालत ने सरकार का काम नाजायज़ कहा, तो सरकार के कार्य बेफ़ायदा हो जाते हैं। इस तरह लोगों का बचाव होता है। बिस्मार्क के समय का

प्रशिया का सङ्गठन भी लिखित ही था। परन्तु सरकार की मनमानी से लोगों के बचाव के लिए कोई योजना वहाँ न थी। १८६० और १८६५ के बीच में प्रशिया के राजा और वहाँ की प्रातिनिधिक सभा (हाउस आव् रेप्रेज़ेंटेटिव्ज़) के बीच एक भारी झगड़ा चला था। राजा बिस्मार्क की सलाह से काम किया करता था और वह इसलिए सेना का ख़र्च बढ़ाना चाहता था। राज्य-सङ्गठन के अनुसार द्रव्य के आय-व्यय का अधिकार वहाँ की पार्लिमेंट के हाथ में था, जिसका उपरि-लिखित प्रातिनिधिक सभा एक अंग थी। राजा ने नाना उपाय करने के बाद देखा कि यह सभा अपनी बात पर अड़ी हुई है। उसने बजट (यानी आय-व्यय का लेखा) सरदारों की सभा से पास करवा लिया और कर वसूल करना शुरू कर दिया। यह बात राज्य-सङ्गठन के क़ायदे के ख़िलाफ़ हुई। परन्तु लोगों के पास कोई उपाय न था। हाउस आव् रेप्रेज़ेंटेटिव्ज़ ने अपनी नाख़ुशी ज़ाहिर की, परन्तु इससे आगे कुछ न हुआ। अमरीका में यही बात होती तो अदालत ऐसी काररवाई को नाजायज़ कर देती और लोगों को कर न देना पड़ता। सारांश, लोगों की स्वतन्त्रता का बचाव राज्य-सङ्गठन के 'लिखित' अथवा 'अलिखित' होने से ही केवल नहीं होता—उसके लिए अदालतों की योजना भी चाहिए।

तथापि मोटी तरह से कह सकते हैं कि बहुधा लोगों की स्वतन्त्रता का बचाव राज्य-सङ्गठन के लिखित होने से हो सकता है। प्रशिया के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि यह बात सर्वथा ही नहीं लागू होती। तथापि 'लिखित' राज्य-सङ्गठन में बहुत सी बातें लिखी रहती हैं और लोग अपनी स्वतन्त्रता को भी उसमें किसी न किसी प्रकार प्रकट कर देते हैं। यदि भूल के कारण स्वतन्त्रता के बचाव के लिए कोई योजना करने को भूल भी गये, तो भी इतनी बात अवश्य होती है कि लोकमत उस कारण क्षुब्ध हो जाता है। लोगों को मालूम रहता है कि सरकार का अमुक कार्य अधिकार के बाहर

अथवा क़ायदे के विरुद्ध है। इससे लोगों में ख़ूब कोलाहल मच जाता है। और वह अच्छा ही ज़ोरदार रहा तो किसी सरकार की हिम्मत न होगी कि ऐसा काम वह बहुत काल तक कर सके। अन्त में सबको लोक-मत से दबना ही पड़ता है। और लोकमत का बनना लोगों के लिखित अधिकारों पर बहुत कुछ अवलम्बित है। इसी लिए मोटी तरह से कह सकते हैं कि लोगों की स्वतन्त्रता का बचाव कम से कम कुछ अंश में राज्य-सङ्गठन के लिखित होने पर अवलम्बित है। तथापि इतना ख़याल में रखना चाहिए कि लोगों के अधिकार उसमें स्पष्टतया लिखे हों। नहीं तो, लोगों की स्वतन्त्रता का बचाव शायद अच्छी तरह न हो सके।

'लिखित' और 'अलिखित' राज्य-सङ्गठन का परिणाम एक और हुआ करता है। लिखित राज्य-सङ्गठन में लोग यथासम्भव सभी बातें लिख ही डालते हैं, विशेषकर अपनी स्वतन्त्रता पर उनकी ख़ूब नज़र रहती है, सरकारें मनमाने काम न करने पावे इस पर ख़ूब ध्यान रहता है। इस कारण लोग चाहते रहते हैं कि सरकार के अधिकार परिमित रहें। इसके लिए वे आवश्यक समझते हैं कि राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन जल्द न हो सके। इसलिए, राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने के लिए कोई विशेष योजना करते हैं। राज्य-सङ्गठन में परिवर्तन करने के लिए जो क़ायदे बनें वे मामूली रीति से या मामूली व्यवस्थापक-सभा न बनावे, इसके लिए कोई दूसरी सभा रहे अथवा किसी दूसरी रीति का अवलम्बन किया जावे। राज्य-सङ्गठन की 'इच्छाविधेयता' और 'दृढ़ता' का भेद दिखलाते समय हमने इसके कई उदाहरण दे दिये हैं। तात्पर्य यह निकलता है कि लिखित राज्य-सङ्गठन बहुधा 'दृढ़' रहता है और 'अलिखित' राज्य-सङ्गठन 'इच्छाविधेय' होता है। स्मरण रहे कि हमने 'बहुधा' कहा है। यानी यह नियम सर्वथा लागू नहीं होता। इस अपवाद का एक उदाहरण इटली है। यहाँ का राज्य-सङ्गठन 'लिखित' प्रकार का है। परन्तु जिस तरह जिस

सभा में मामूली क़ायदे बनते हैं, उसी सभा में उसी तरह राज्य-सङ्गठन के परिवर्तन के भी क़ायदे बनते हैं। दोनों कार्य एक ही सभा में होते हैं। वहाँ के राज्य-सङ्गठन के क़ायदे में इस विषय का नियम लिखा नहीं है। इसलिए, राज्य-सङ्गठन के परिवर्तन करने का भी कार्य हमेशा की मामूली पार्लिमेंट किया करती है। तथापि, जैसा ऊपर कह चुके हैं कि प्रवृत्ति यही दीख पड़ती है कि लिखित राज्य-सङ्गठन बहुधा दृढ़ हुआ करता है। इसलिए, 'अलिखित' और 'लिखित' राज्य-सङ्गठन के भेद से राज्यों का कोई अलग वर्ग करना अनावश्यक है।

सारांश, लिखित राज्य-सङ्गठन में लोगों की स्वतन्त्रता के नियम और अधिकार बहुधा स्पष्टतया बतला दिये रहते हैं, और वह बहुधा 'दृढ़' वर्ग का रहता है। कभी कभी इस स्वतन्त्रता के बचाव के लिए कोई योजना भी होती है।

'लिखित' और 'अलिखित' के भेद का कारण बहुधा ऐतिहासिक होता है। इँग्लेंड जैसे देश में राज्य-सङ्गठन का विकास धीरे धीरे हुआ है, एकबारगी सब नियम नहीं बने। इस कारण कुछ नियम लिखे गये, कुछ नियम रूढ़ क़ायदों के समान बन गये और उन्हें लिखित रूप देने की आवश्यकता न रही। परन्तु जहाँ नया राज्य-सङ्गठन बनाना पड़ता है, वहाँ सब योजना तत्कालीन राष्ट्रों की राजकीय स्थिति को देखकर एकबारगी ही करनी होती है। इसलिए बहुधा सब नियम लिखित क़ायदों का स्वरूप पा जाते हैं। गत सौ वर्ष में राजक्रान्तियों की संख्या बहुत अधिक रही। इस कारण 'लिखित' राज्य-सङ्गठनों की संख्या अधिक होगई। और 'लिखित' राज्य-सङ्गठनों के आनुषंगिक गुण उनमें आही गये। आनुषंगिक गुणों के अपवाद भी अनेक हैं और उनका हमने स्थान स्थान पर निर्देश कर दिया है। तथापि मोटी तरह से 'लिखित' राज्य-सङ्गठन के सम्बन्ध में हमने जो नियम बतलाया है, वह बहुतांश में सत्य है। इसी

कारण, 'लिखित' और 'अलिखित' राज्य-सङ्गठन की दृष्टि से कोई अलग भेद करना अनावश्यक प्रतीत होता है।

१७. ऊपर बतलाये तत्त्वों के अनुसार भिन्न भिन्न देशों का जो वर्गीकरण होता है, वह भी संक्षेप में बतलाना आवश्यक है। अँगरेज़ी राज्य-सङ्गठन, एकरूप, इच्छाविधेय और पार्लिमेंटीय है। अमरीका के संयुक्तराज्य का सङ्गठन संयुक्त, दृढ़ और अध्यक्षीय है। फ्रांस का एकरूप, (कुछ लोगों की सम्मति में) दृढ़ (परन्तु हमारी सम्मति में, इच्छाविधेय) और पार्लिमेंटीय है। कनाडा और आस्ट्रेलिया का संयुक्त, दृढ़ और पार्लिमेंटीय है। इसी प्रकार अन्य देशों की बात है।

भाग ३

चौबीसवाँ परिच्छेद

राज्य के कार्य और उद्देश

व्यक्ति स्वातन्त्र्य-वाद

पहले भाग में हमने राज्य के स्वरूप का विवेचन किया और दूसरे में राज्य के सङ्गठन का वर्णन किया है। इस तरह राज्य-रूपी जीव के शरीर का वर्णन हो चुका। अब देखना है कि इसके उचित कार्य कौन कौन से हैं। इस भाग का विषय यही रहेगा।

१. व्यक्तियों के अधिकार और स्वातन्त्र्य की रक्षा राज्य के बिना नहीं हो सकती। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि राजकीय सत्ता बड़ी बलशालिनी होती है, व्यक्तियों के अधिकार और स्वातन्त्र्य पर उसके हस्तक्षेप का बड़ा डर बना रहता है। इस कारण कुछ लोगों का कहना है कि व्यक्ति, और देश की रक्षा के लिए जिन कार्यों की अत्यन्त आवश्यकता है, उतने ही कार्य राज्य अपने हाथ में ले, इस सीमा के बाहर वह तिल भर भी पैर न रखे। भीतरी या बाहरी आक्रमण से या धोखेबाज़ी से व्यक्ति की रक्षा करने के अलावे वह अधिक कुछ भी न करे। व्यक्ति की भलाई की दृष्टि से भी उसका अधिक कोई कार्य करना अनुचित है। यही नहीं, राज्य का किसी द्रव्योत्पादक काम में लगना या नागरिकों के द्रव्योत्पादक कार्यों में हस्तक्षेप करना अनुचित है। इसको व्यक्ति स्वातन्त्र्यवाद कहते हैं। व्यक्ति को वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य में ही प्राप्त होती है। इसलिए राज्य का होना आवश्यक है।

तथापि राज्य स्वयं इस स्वतन्त्रता की मर्यादा आवश्यकता से अधिक सङ्कीर्ण न करे। रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक कार्य ही वह अपने हाथ में ले। यही सिद्धान्त का सार है।

नागरिकों की रक्षा के लिए सबसे आवश्यक बात सेना है। आजकल सेना के कई भेद होते हैं। जल-सेना, थल-सेना, वायु-सेना और तोपखाना इसके मामूली भाग हैं। इनके प्रबन्ध के लिए अनेक मुहकमों की आवश्यकता होती है। इसलिए सैनिक-विभाग में अनेक छोटे-बड़े मुहकमें रहते हैं। शान्ति-रक्षा के लिए पुलिस की भी आवश्यकता स्पष्ट है। लोगों में यदि झगड़े हुए तो उनका निपटारा करना सरकार का ही काम है। क्योंकि यह काम किये सिवा लोगों के जान-माल की रक्षा न होगी और शान्ति का सदा भंग होता रहेगा। न्याय-विभाग के निर्णयों को अमल में लाने के लिए अमल-विभाग की आवश्यकता है। नागरिकों के राजकीय स्वातन्त्र्य के लिए भी सरकार को बहुतेरे काम करने पड़ते हैं। इसी के अन्तर्गत यह भी प्रश्न है कि कौन कौन लोग, किस दशा में, देश में आकर बस सकें और नागरिकत्व के अधिकार पा सकें, और कौन लोग किस दशा में देश छोड़ कर जा सकें। क्योंकि नागरिकत्व के अधिकार पाना या उन्हें छोड़ना राजकीय स्वातन्त्र्य और कर्तव्य से सम्बन्ध रखते हैं। लोगों की जायदाद, लेन-देन, व्यापार आदि के कुछ नियम बनाने ही होंगे। वे भले ही बिलकुल कम और नितान्त आवश्यक स्वरूप के क्यों न रहें, परन्तु उनके बिना किसी समाज का काम न चलेगा। इसी प्रकार मतस्वातन्त्र्य का दुरुपयोग रोकने के लिए, पुस्तकें, वर्तमानपत्र आदि के भी कुछ नियम बनाने होंगे। फ़ौजदारी क़ायदा, अदालतों की कार्य-विधि आदि का निश्चय सरकार को ही करना होगा। इन सब कार्यों के लिए द्रव्य लगेगा। इसलिए कर-सम्बन्धी नियम बनाने होंगे। इस कर को वसूल करने के लिए सिक्के निश्चित करने होंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि खुद सरकारी कार्यों के सुभीते के लिए सिक्कों की बड़ी आवश्यकता है।

यह बात अलग है ारी कार्यों के साथ साथ लोगों का भी कार्य सध जाता है, रि ारा लोग आपस में भी सुभीते से लेन देन कर सकते हैं। काम अच्छी तरह चलें और थोड़े समय में हो सकें, इसके लिए सड़कें, पुल, डाक, तार, रेल आदि की भी आवश्यकता है। पुनः स्मरण रहे कि इन कार्यों को उठाने में सरकार केवल अपने ही कार्यों का विचार रख सकती है। लोगों के सुभीते पर सरकार ध्यान न भी दे तो भी अपने कार्य अच्छी तरह करने के लिए उसे सड़कें, पुल, डाक, तार, रेल आदि का प्रबन्ध आधुनिक काल में करना ही होगा। अर्थात् इनके लिए भी कुछ मुहकमे प्रस्थापित करने पड़ेंगे। यदि युद्ध करने का मौका आ पड़े, तो उसका भी उचित प्रबन्ध करना ही होगा।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से ऊपर बतलाये अनेक काम सरकार को करने होंगे। कम से कम इतने काम तो सरकार को करने ही पड़ेंगे। व्यक्ति की रक्षा के लिए इतने काम तो उसे उठाने ही होंगे। एक बात उसे स्मरण रखनी चाहिए कि व्यक्ति की रक्षा के लिए सरकार की भी रक्षा आवश्यक है। इस दृष्टि से व्यक्ति के स्वातन्त्र्य पर जो न्यूनतम हस्तक्षेप सरकार को करना होगा, वह आवश्यकीय ही समझा जाना चाहिए। इसी कारण, ऐसे कार्यों को भी हमने व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद में शामिल किया है।

२. अब विचार करना चाहिए कि यह बात कहां तक उचित है। इसके लिए हमें पहले व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद की युक्तियों की जांच करनी होगी।

व्यक्ति के स्वातन्त्र्य पर न्यूनतम हस्तक्षेप हो, इसका कारण कोई कोई 'न्याय' बतलाते हैं। वे कहते हैं कि व्यक्ति के स्वातन्त्र्य पर अनावश्यक हस्तक्षेप करना अन्याय है। दूसरे लोग कहते हैं कि इस पद्धति में कम खर्च पड़ता है इस कारण वह आर्थिक-दृष्टि से लाभकारी है। कुछ लोग इसके लिए विज्ञान का सहारा लेते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति

'योग्य' होगा, वही इस जीवन-सङ्ग्राम में ज़िन्दा रहेगा। जब तक व्यक्ति स्वावलम्बी न रहेगा, तब तक समाज की समुचित उन्नति न होगी।

पहली युक्ति का प्रतिपादन किसी किसी देश में बड़े ज़ोर से हुआ था। कुछ देशों में सरकार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर अनुचित हस्तक्षेप करने लग गई थी। इस कारण व्यक्तियों को आन्दोलन करना पड़ा कि सरकार उतने ही कार्य उठावे कि जितने राज्य और व्यक्ति की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक हैं, बाक़ी बातों में लोग पूर्ण स्वतन्त्र रहें। सरकार की मनमानी रोकने के लिए कभी कभी ऐसा आन्दोलन करना ही पड़ता है। तथापि यह कोई नहीं मान सकता कि सरकार के कार्य इन्हीं बातों तक परिमित रहें। व्यक्ति स्वातन्त्र्य को 'न्याय' पर खड़ा करना दीखता ठीक है और यह कल्पना मनोभावना को भी आकर्षक जान पड़ती है। यदि इस वाद के अनुसार ही राज्य अपने कार्यों का क्षेत्र निश्चित करे तो बहुत से काम ऐसे हैं कि जिन्हें सरकार को छोड़ देना होगा। परन्तु मामूली बुद्धिवाला पुरुष भी न कहेगा कि सरकार का ऐसा करना उचित होगा। सब कोई मानते हैं कि वसीहत के नियम सरकार अवश्य बनावे। परन्तु इस वाद के अनुसार यह कार्य कहाँ तक उचित होगा। अनेक देश अपने व्यापार की रक्षा के लिए माल की रफ़्नी पर कर लगाते हैं। यदि विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में नियम न बनाये जायँ तो विदेशी लोग देश को अपने व्यापार द्वारा लूट डालेंगे। क्या यह न्याय होगा कि देश को दूसरे लोग व्यापार-द्वारा लूट ले जायँ और लोग दरिद्रता के कारण भूखों मरें? क्या लोगों को अशिक्षित रखना न्याय्य होगा? क्या रेल, तार, डाक, पुल और सड़कें सरकार की रक्षा के लिए बनाये जाने पर भी लोगों को उनसे लाभ न उठाने देना उचित होगा? क्या कारख़ानेवालों पर मज़दूरों की जान सौंप देना न्याय्य होगा? क्या सड़कों पर फेंक दिये गये बालकों को वहीं पड़े रहने देना न्याय्य होगा? सारांश यह कि उपरिलिखित

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद की युक्ति के विरुद्ध इतने प्रश्न किये जा सकते हैं कि वह किसी प्रकार नहीं टिक सकती। उस युक्ति में सत्यता इतनी ही है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर अनावश्यक हस्तक्षेप करना यानी राज्य और व्यक्ति के उद्देशों को विफल करनेवाले काम उठाना सरकार को उचित नहीं। परन्तु, यदि सरकार के कार्यों की सीमा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से ही निश्चित की जाय तो कई बातों में सरकार का चुपचाप बैठना अन्याय-युक्त जान पड़ेगा। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'-वाली कहावत बहुतांश में घटित हो जायेगी।

दूसरी युक्ति आर्थिक लाभ की है। इसका अभिप्राय है कि उद्योग और व्यापार की दृष्टि से यही लाभदायक है कि प्रत्येक अपनी बुद्धि के अनुसार अपने लाभ के कार्यों में स्वतन्त्र रहे। परन्तु वास्तविक बात यह है कि जब कभी देश में ऐसे नियम रहते हैं कि जिससे देश की आर्थिक दशा को हानि पहुँचती है, तब ऐसे वाद उपस्थित किये जाते हैं। उन्नीसवीं सदी में इस युक्ति का इँग्लेंड में ख़ूब दौरदौरा रहा। वहाँ आधुनिक काल के कारख़ाने ख़ूब उन्नत हो चुके थे, अनाज की रफ़्नी पर अनेक कड़े नियम थे, व्यापार स्वतन्त्रता से न हो सकता था, इसलिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की इस युक्ति के नाम से आन्दोलन उठाने की आवश्यकता पड़ी। कारख़ानों में जो सैकड़ों चीज़ें बनती थीं, वे स्वतन्त्रता-पूर्वक बिक न सकती थीं। अनाज महँगा होगया था। इसलिए इन नियमों को उठा देने की आवश्यकता लोगों को जँचने लगी। देश की औद्योगिक स्थिति बदलने पर उद्योग-धन्धों के नियमों का भी बदलना आवश्यक था। इसलिए लोग कहने लगे कि मनुष्य अपने हानि-लाभ ख़ुद जान-समझ सकता है। इसलिए जिसे जो धन्धा ठीक लगे, वह उसे करे। इस स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने से स्वाभाविकता नहीं रह जाती और इस कारण व्यक्ति का नुक़सान होता है। जो बात व्यक्ति को लागू होती है, वही राष्ट्र को भी लागू होती है। इँग्लेंड में गत सदी में इस तरह का ख़ूब आन्दोलन हुआ और उससे उस देश

को लाभ भी ख़ूब हुआ। इस व्यापार-स्वातन्त्र्य से उस देश ने ख़ूब धन पैदा किया। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि यह युक्ति सर्व-सामान्य रीति से लागू नहीं की जा सकती। इँग्लेंड में अनाज और व्यापार के क़ायदे परिवर्तित हुए तो मज़दूरी के नये नये नियम बने। अमरीका में विदेशी व्यापार को क़ायदे द्वारा नियन्त्रित करना पड़ा। और अब एक ही सदी के बाद ख़ुद इँग्लेंड की नीति बदलने लग गई है। इससे स्पष्ट है कि इस युक्ति का आश्रय चाहे जब और चाहे जिस देश में नहीं लिया जा सकता। देश-काल के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर थोड़ा-बहुत हस्तक्षेप करना ही पड़ता है। सारांश, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद की यह भी युक्ति नहीं टिक सकती।

तीसरी युक्ति विकास-वाद पर अवलम्बित है। इस युक्ति का सारांश इतना ही है कि जो जीव प्रतिकूल परिस्थिति में टिक सका, वह इसके लिए अवश्य 'योग्य' था। परिस्थिति के अनुसार उसमें कुछ ऐसे परिवर्तन हुए कि जिनके कारण वह प्रतिकूल परिस्थिति का बेड़ा पार कर सका। इस प्रकार वह धीरे धीरे उन्नति करता गया। इस प्रकार उस प्राणी का क्रमशः विकास होता गया। जो बात जीव-जगत् को लागू होती है, वही सामाजिक और औद्योगिक उन्नति के लिए भी ठीक है। इस सिद्धान्त के सबसे भारी विवेचक हर्बर्ट स्पेन्सर हुए हैं। आप कहते हैं, "सरकार को समाज का एक 'अङ्ग' समझना चाहिए। जिस काम के लिए वह योग्य है, वही काम उसके सिपुर्द करना चाहिए। 'फुफ्फुस' पाचन क्रिया नहीं कर सकते, हृदय श्वासोच्छ्वास नहीं कर सकता, और उदर रुधिराभिसरण नहीं कर सकता।" इसी प्रकार सरकार यदि कोई एक काम उठावे, तो वह उसी के योग्य हो जाती है, फिर वह दूसरे कामों के योग्य नहीं रह जाती। इसलिए आप कहते हैं कि इस विषय में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना सृष्टि-नियम के विरुद्ध है। "हाँ, यह निर्दयता की बात जान पड़ती है कि

बीमारी के कारण निर्बल हुआ मज़दूर अपने सबल भाइयों के साथ होड़ में पड़ कर भूखों मरे । इसमें कठोरता दीखती है कि विधवा स्त्रियाँ या अनाथ बालकों को कोई सहायता न दी जाय और उन्हें अपने ही उद्योग पर अवलम्बित रहना पड़े। परन्तु यदि व्यक्ति के प्रश्न का विचार न करके हम सारे समाज की भलाई का विचार करें तो यही कठोरता उपकार-मूलक दीख पड़ेगी।" ऊपर की दो युक्तियों के अनुसार यह युक्ति भी देशकालानुसार ही लागू हो सकती है। जब कभी सरकार व्यक्ति के कार्यों पर इतना अधिक हस्तक्षेप करती है कि उसका स्वाभाविक विकास रुक जाता है, तब यह युक्ति अपना शोर मचाने लगती है, अन्यथा, इसमें सार्वकालिक और सार्वदेशीय सत्यता बहुत कम है। विधवायें या अनाथ बालक सरकारी सहायता न पाने से मर जावेंगे, इसलिए ही, क्या यह उचित होगा कि उन्हें सरकारी सहायता न दी जाय और वे ज़रूर जल्द ही मृत्यु के भक्ष्य बनें ? मनुष्य-स्वभाव में इतनी निर्दयता नहीं देख पड़ती। चाहे यह स्वभाव आदतों से बना हो, या निसर्ग-सिद्ध हो, परन्तु यह बात सत्य है कि बन पड़ा तो मनुष्य कठिन अवस्था में दूसरों को सहायता देने के लिए तैयार रहता है। हर्बर्ट स्पेन्सर के इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ तहाँ 'ज़बर्दस्त का ठेंगा सिर पर' दिखलाई देगा और 'जिसके हाथ में लाठी होगी उसी की भैंस हो जावेगी' प्रचलित नीति के कई नियमों को इस दुनिया से बिदा मिल जावेगी। उद्योग की आवश्यकता प्रतिपादित करते समय 'दैवो दुर्बलघातकः' बतलाना उचित हो जावेगा। परन्तु पहले तो उद्योग के मौक़े मिलने चाहिए और फिर उद्योग करते समय धोखेबाज़ी से या अपघात से जान और माल की रक्षा भी होनी चाहिए। यदि मज़दूरी के नियम न बनाये जायँ, तो कारख़ानेवाले क्या न कर बैठेंगे ? अपने लाभ के लिए वे मज़दूरों का ख़ून भी पी जावेंगे ! इँग्लेंड का अठारहवीं सदी का इतिहास इसका प्रत्यक्ष साक्षी है। पुरुषों ने घर के काम किये हैं और स्त्रियों ने कारख़ानों में काम किया है ! छोटे छोटे बालक भी सोलह सोलह

घण्टे काम करते देख पड़े हैं ! हज़ारों की जानें चुपचाप ली गई हैं ! कितनी स्त्रियों का सतीत्व नष्ट किया गया है ! भ्रूण-हत्याओं का तो कुछ पता ही नहीं ! सारांश, कारखाने प्रत्यक्ष नरक बन गये थे और वहां काम करनेवाले कुली की दशा पशु से बदतर थी ! यहाँ विशेष बतलाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के कार्यों में इतना भी हस्तक्षेप न करने से दुर्बलों का सत्यानाश हो जावेगा। और इस रीति से राष्ट्र का ही सत्यानाश होने की सम्भावना है। जीव-सृष्टि का यह सिद्धान्त जैसा का तैसा समाज और उद्योगों को लागू करने से खुद इस सिद्धान्त के उद्देश नष्ट हो जावेंगे। इसलिए विकास-वाद का ऐसा उपयोग करना अनुचित है और बुद्धि के विरुद्ध है।

सारांश, व्यक्तिस्वातन्त्र्य-वाद की तीनों युक्तियां कमज़ोर हैं। उनमें कुछ सत्यता है अवश्य। परन्तु वे देश-काल के अनुसार ही लागू हो सकती हैं। चाहे जब और चाहे जिस देश में वे लागू नहीं हो सकतीं। और इस कारण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद सर्वसामान्य रीति से ठीक नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-मूलक कार्यों की अपेक्षा सरकार को कुछ अधिक कार्य करने ही होंगे। इतना ही नहीं तो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-मूलक कार्यों में भी न्यूनतम सीमा के बाहर सरकार को कई कार्य उठाने होंगे और कई नियम बनाने पड़ेंगे।

३. इसलिए कुछ लोग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद के साथ उपयोगिता-वाद भी जोड़ देते हैं*। उनका कहना है कि जिस समाज के लिए नियम बनते हैं, उसका उनसे सुख बढ़े। इस समाज में जो लोग वर्तमान में हैं, वे ही नहीं तो भविष्य के लोग भी 'समाज' शब्द में शामिल हैं। क्योंकि इसी दृष्टि से युद्ध में लाखों जीवों की मृत्यु का समर्थन हो सकता है। कई ऐसे नियम प्रत्येक समाज में हैं कि जिनमें भविष्य के नागरिकों के हित का विचार अवश्य रखा है। समाज के सुख के लिए

---

* Sidgwick: Elements of polities chapter III.

आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख बढ़ावे और साथ ही दूसरों के हितों पर ध्यान दे।

शुष्क स्वातन्त्र्य-वाद की अपेक्षा यह सिद्धान्त कुछ अच्छा है। इसमें एक ध्येय अवश्य है। स्वयं स्वातन्त्र्य इतनी अनमोल वस्तु नहीं है। स्वातन्त्र्य से कुछ दूसरे लाभ हैं, इसी लिए स्वातन्त्र्य की इतनी अधिक कीमत है। जिस स्वातन्त्र्य से सांसारिक सुख भी न मिले, वह स्वातन्त्र्य कौन काम का? इसलिए सुखोत्पादक स्वातन्त्र्य अच्छा है। जिस किसी स्वातन्त्र्य से समाज का सुख नहीं बढ़ता, प्रत्युत हानि या कष्ट होने की सम्भावना है, उस पर इस सिद्धान्त के अनुसार सरकारी हस्तक्षेप उचित है। मनमाने स्थान पर पेशाब या पायखाना करने की स्वतन्त्रता का नियन्त्रण, या किसी को बदनाम करने के प्रयत्न से बचाने के और उसके लिए क्षतिपूर्ति दिलवाने के प्रयत्न का समर्थन इसी दृष्टि से हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य यदि चाहे जहां पेशाब या पायखाना करे या इसी तरह के अन्य उपद्रव करे तो किसी की स्वतन्त्रता कम नहीं होती। परन्तु दूसरों के सुख में व्यत्यय अवश्य होता है। इसी प्रकार, बदनामी से किसी की स्वतन्त्रता घटती नहीं। परन्तु उसका कई तरह से नुकसान हो सकता है और उसका सुख नष्ट हो सकता है। निरे स्वातन्त्र्य-वाद की दृष्टि से ऐसे विषयों के क़ायदे अनावश्यक देख पड़ेंगे। परन्तु व्यक्ति के सुख का भी विचार किया जाय तो इन क़ायदों की आवश्यकता तुरन्त जँच जावेगी। बदनामी के लिए आर्थिक क्षतिपूर्ति दिलवाने का कोई अन्य अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए इस सिद्धान्त का कुछ अधिक विचार करना आवश्यक है।

४. व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद के अनुसार शरीर की ही नहीं तो जायदाद की भी रक्षा होनी चाहिए। परन्तु इस कथन में यह अनुगृहीत है कि जायदाद का तत्त्व सब समाज में प्रस्थापित हो चुका है। परन्तु प्रश्न किया जा सकता है कि क जिस वस्तु का उपयोग कर रहा है, उसका

उपयोग ख या ग या अन्य कोई मनुष्य क्यों न करे ? प्रत्येक व्यक्ति उस वस्तु के उपयोग के लिए स्वतन्त्र क्यों न रहे ? व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद का समर्थन करना हो तो इस प्रश्न का उत्तर देना ही होगा। परन्तु उपयोगितावाद की शरण ली जाय तो बात भिन्न हो जाती है। यदि कोई अपने श्रम से कोई वस्तु कमावे तो उससे उसकी आवश्यकतायें और इच्छायें पूर्ण होनी चाहिए। नहीं तो वह क्यों कमावेगा ? इसलिए उस वस्तु के उपयोग पर उसी का अधिकार रहे, दूसरे कोई उस पर हस्तक्षेप न करें। सारांश, जायदाद का तत्त्व सुख-मूलक है। हां, इस पर एक शर्त अवश्य है। एक के जायदाद-सम्बन्धी अधिकार से दूसरों के उस वस्तु को कमाने के अवसर दीर्घकाल के लिए कम न होने पावें। यह शर्त ज़मीन को विशेष लागू होती है। क्योंकि ज़मीन किसी प्रकार बढ़ाई नहीं जा सकती। जितनी है क़रीब क़रीब उतनी ही वह सदा बनी रहेगी। किसी ने यदि कोई ग्रन्थ या लेख लिखा, या किसी ने कोई नई वस्तु अथवा यन्त्र-सामग्री बनाई तो वह पुस्तक या लेख बार बार छापने का, या वह वस्तु अथवा यन्त्र-सामग्री बार बार बनाकर बेचने का अधिकार बहुधा सब देशों में मूल-लेखक या आविष्कारकर्ता को ही रहता है। जन-समाज की उन्नति की दृष्टि से यह आवश्यक है। नहीं तो नई पुस्तकें या लेख या वस्तु या यन्त्र-सामग्री का निर्माण कोई क्योंकर करेगा ? ऐसे अधिकारों के निर्माण से दूसरों की स्वतन्त्रता अवश्य कम होती है, पर उससे जन-समाज का लाभ ही होता है, इसलिए ऐसे अधिकार देना यानी दूसरों की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करना आवश्यक है। परन्तु यह भी नियम बहुधा सब देशों में होता है कि कुछ काल के बाद इन चीज़ों को चाहे जो बना सकता है। यह नियम भी जनहित की दृष्टि से ही उचित जान पड़ता है।

सब समाज में यह नियम प्रचलित है कि कोई भी अपनी जायदाद स्वतन्त्रतापूर्वक दूसरों को दे सकता है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से यह ठीक भी जँचता है। क्योंकि जायदाद को दूसरों को देने में किसी

की स्वतन्त्रता पर कोई नया हस्तक्षेप नहीं होता। परन्तु शर्त यह है कि जायदाद का लेन-देन 'स्वतन्त्रता'-पूर्वक हो। शरीर ही नहीं तो मन भी स्वतन्त्र होना चाहिए। धमकी या जालसाज़ी से किया हुआ लेन-देन 'स्वतन्त्रता' के नाम से उचित नहीं हो सकता। ऐसा लेन-देन करते समय शरीर तो अवश्य स्वतन्त्र है, परन्तु धमकी या जालसाज़ी के कारण मन परतन्त्र होगया है। यदि ऐसे लेन-देन बा-क़ायदा उचित समझे जायँ तो अधिकारों का अनुचित उपयोग होने लग जावेगा और ठगबाज़ी से सारी दुनिया त्रस्त हो जावेगी। ऐसे स्वातन्त्र्य से स्वतन्त्रता के मूल उद्देश ही नष्ट हो जावेंगे। दूसरे के स्वातन्त्र्य को नियन्त्रित करनेवाले ऐसे स्वातन्त्र्य को नियन्त्रित करना यानी प्रत्येक के स्वातन्त्र्य की रक्षा करना प्रत्येक समाज में आवश्यक है।

इसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि किसी के मरने के बाद उसकी जायदाद उसके आप्त सम्बन्धियों को मिले। यदि मृत्यु के बाद जायदाद सरकार के हाथ में चली जाने का नियम रहे, तो लोग जायदाद इकट्ठा न करेंगे, करेंगे तो उसे अन्त में सत्यानाश कर डालेंगे या ऐसे रूप में उसे परिवर्तित कर देंगे कि वह सरकार की पकड़ में न आने पावे। व्यक्ति के सुख, समृद्धि और नैतिक जीवन की दृष्टि से, और राष्ट्र के अभ्युदय की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि जायदाद वंश-परम्परा चलती जाय। इतना ही नहीं तो निज की कमाई जायदाद को किसी प्रकार किसी को देने की भी कुछ स्वतन्त्रता मूल-मालिक को रहे। इन सब नियमों का समर्थन उपयोगितावाद की दृष्टि से अच्छी तरह हो सकता है।

४. क्या लोग करार करने में पूर्ण स्वतन्त्र रहें? यदि करार करने-वाले पागल नहीं हैं और बालक भी नहीं हैं, तो नितान्त आवश्यक है कि करार-मदार पूर्ण स्वतन्त्रता से किये जायँ। करार-मदार के अधिकारों पर यानी स्वतन्त्रता पर सरकारी हस्तक्षेप न रहे। क्योंकि प्रत्येक अपना अपना हित जानता है और अपने अपने हित

के लिए तत्पर भी रहता है। परन्तु प्रत्येक समाज में यह स्वतन्त्रता भी परिमित है। धमकी या धोखेबाज़ी से किये करार नाजायज़ समझे जाते हैं। जायदाद के लेन-देन के विषय में हमने जो बात कही, वही यहां भी लागू होती है। ऐसी स्वतन्त्रता से हानि होने की ही सम्भावना विशेष है। इसी प्रकार ऐसे करार कि जिनसे दूसरों के हित में प्रत्यक्ष बाधा पहुँचती है, या किसी अन्य क़ायदे के विरुद्ध हैं, नाजायज़ समझे जाते हैं।

नौकरी के करारों का भी विचार करना उचित है। यदि शरीर अस्वस्थ या बे-काम हो जाय तो नौकरी का करार किसी प्रकार जायज़ न होगा। नौकरी करनेवाले की इच्छा के विरुद्ध नौकरी करवाना भी उचित नहीं। क्योंकि ज़बरदस्ती की नौकरी नौकरी नहीं होती, उससे कोई लाभ न होगा। इसके बदले यही उचित होगा कि नौकरी न करने से होनेवाली हानि की पूर्ति करवा दी जाय। परन्तु इन नियमों का समर्थन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से नहीं हो सकता। उनकी सारी शक्ति उपयोगिता-वाद पर ही निर्भर है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से ऐसे करारों का पालन करवाना होगा, परन्तु उनसे लाभ कुछ न होगा। प्रत्युत, दोनों पक्ष को हानि और कष्ट उठाने पड़ेंगे।

६. ऊपर एक स्थान पर हमें उल्लेख करना पड़ा था कि करार करनेवाला पागल या बालक न हो। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से इन लोगों की स्वतन्त्रता भी अनियन्त्रित बनी रहना आवश्यक है। परन्तु यह कोई भी मानेगा कि यदि इन्हें स्वतन्त्रता रही तो समाज में बड़े बड़े अनर्थ गुज़रा करेंगे। इसलिए पागल और अनाथ बालकों का भरण-पोषण तो करना ही होगा, परन्तु उनकी स्वतन्त्रता भी नियन्त्रित करनी होगी। इतना ही नहीं तो मा-बाप या रिश्तेदार-वाले बालकों की भी थोड़ी-बहुत ख़बरदारी सरकार को लेनी होगी। माता-पिता और उनके अनुपस्थिति में नज़दीक के रिश्तेदार बहुधा बालकों का भरण-पोषण किया करते हैं। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति ही

है। परन्तु इस प्रवृत्ति के अपवाद भी हैं। इसलिए माता-पिता की स्वतन्त्रता पर सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है और वे यदि अपने काम अपने मन से न करें तो उन्हें किसी प्रकार बाध्य भी करना पड़ता है। अपने बालकों का चाहे जो करने की स्वतन्त्रता माता-पिता को नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार, पति-पत्नी-सम्बन्ध के भी थोड़े-बहुत नियम लोक-हित की दृष्टि से आवश्यक हैं। चाहे जब विवाह करना या चाहे जब विवाह-सम्बन्ध को तोड़ देना किसी भी समाज को सम्मत न होगा। चाहे जब पति पत्नी को या पत्नी पति को छोड़ दे सकें तो समाज में बड़े बड़े अनर्थ गुज़रा करेंगे।

सारांश, पति-पत्नी और माता-पिता के कर्तव्य-सम्बन्धी नियम भी बनाने होंगे। यानी उन पर कर्तव्य का बोझ लादकर उनकी थोड़ी स्वतन्त्रता लोक-हित के लिए नियन्त्रित करनी होगी।

७. यदि कोई किसी की स्वतन्त्रता पर या अधिकार पर बेक़ायदा हस्तक्षेप करे या उसे किसी तरह का नुक़सान पहुँचावे, तो आज-कल बहुधा उस पर सरकारी अदालतों में मुक़द्दमा चल सकता है। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद के अनुसार सरकार यह काम क्यों उठावे? जिसका नुक़सान हो, वह व्यक्ति ही अपनी नुक़सानी की पूर्ति क्यों न कर ले? इस रीति में अनेक बुराइयाँ हैं। एक तो शान्तताभङ्ग की सम्भावना सदा बनी रहती है। अपराधों के लिए सज़ा देने का काम व्यक्तियों पर छोड़ दिया जाय तो सरकार के अस्तित्व का हेतु पूरी रीति से सिद्ध नहीं होता। दूसरे, कमज़ोर लोगों का कहीं ठीक-ठिकाना नहीं रह जाता। उनकी रक्षा कौन करे? इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सज़ा देने का काम सरकार अपने हाथ में रखे, व्यक्तियों पर न छोड़ दे।

परन्तु यह बात यहीं समाप्त नहीं होती। कुछ अपराध ऐसे होते हैं कि जिनके लिए लोगों को अदालत में फ़र्याद करनी होती है,

और उनके लिए बहुधा किसी न किसी रूप में क्षतिपूर्ति मिलती है। परन्तु कई अपराध ऐसे होते हैं कि सरकार ख़ुद उनके लिए अपराधियों पर अभियोग चलाती है और उनके लिए बहुधा सज़ा दिया करती है। पूर्ण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से इस भेद की क्या आवश्यकता है? लोग अदालत में जाकर नालिश करें और सरकार अपराधी को सज़ा दे तो क्या काम न चलेगा? लोगों की स्वतन्त्रता छीनकर सरकार ख़ुद यह काम क्यों करती है? कई अपराध ऐसे होते हैं कि जिन्हें सरकार के सामने लाना ही पड़ता है। उन्हें छिपाना ख़ुद अपराध है। यह क्यों? इन प्रश्नों का उत्तर यही है कि लोक-हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कुछ अपराध 'वैयक्तिक' माने जायँ और कुछ 'सरकारी' माने जायँ। पहले प्रकार के अपराध करने पर लोग अदालतों में नालिश करें और सरकार नुक़सान की पूर्ति करवा दे अथवा सज़ा दे। परन्तु दूसरे प्रकार के अपराध ऐसे हैं कि वे लोगों पर नहीं छोड़े जा सकते हैं, समाज की भलाई की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार ख़ुद वे मामले चलावे और उनके लिए सज़ा दे ताकि वे फिर से न हों। सब ही अपराधों के लिए क्षतिपूर्ति दिलवाई जाय तो श्रीमान् लोग ग़रीबों को ख़ूब सताने लग जावेंगे। नुक़सानी दे देकर चाहे जितने कष्ट दे सकेंगे। इसलिए सब ही अपराधों के लिए नुक़सानी का तत्त्व लागू करना ठीक नहीं। कुछ अपराध ऐसे होते हैं कि जिनके लिए दण्ड ही देना समाज-हित के लिए अच्छा है। इसी प्रकार, दण्ड भी ऐसा और इतना रहे कि उससे दण्ड देने के हेतु सफल हों। जिस व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है, वह फिर से अपराध न करे। साथ ही, दूसरे लोगों पर उस दण्ड की दहशत बैठ जावे ताकि दूसरे लोग भी वह अपराध न करें। दण्डविधान के इन दो मुख्य हेतुओं पर दृष्टि देना अत्यन्त आवश्यक है। सारांश, दण्ड-विधान व्यक्तियों पर नहीं छोड़ा जा सकता, वह सरकार को करना ही पड़ता है। इससे लोगों की स्वतन्त्रता कम

अवश्य होती है, परन्तु यह स्मरण रहे कि यह सुनिश्चित तो होती है। कोई भी मानेगा कि बहुत सी अनिश्चित स्वतन्त्रता की अपेक्षा थोड़ी सुनिश्चित स्वतन्त्रता लाभकारी है। राज्य के अस्तित्व के हेतु इसी प्रकार सिद्ध हो सकते हैं। निरे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद को यह ठीक न जँचे, परन्तु जिन कारणों के लिए राज्य का रहना ज़रूरी है, उन्हीं कारणों के लिए यह आवश्यक है कि अशान्तिकारक मामलों के निर्णयों का तथा दण्ड देने का काम सरकार खुद करे, वह व्यक्तियों पर न छोड़ा जाय।

७. यह तो हुई अपराध या नुक़सानी होने की बात। परन्तु कभी कभी होनेवाले अपराध या नुक़सानी को रोकने का काम भी सरकार को करना पड़ता है। सड़ी-गली या कड़वी चीज़ें बाज़ार में न बेंचना चाहिए, दूध में पानी वग़ैरः मिलाकर न बिगाड़ना चाहिए, वज़न तराज़ू वग़ैरः ठीक होना चाहिए ताकि लोगों को कम चीज़ें न मिलें, चाहे जो चाहे जिसको विष वग़ैरः न बेंचे, जिन्हें अधिकार होवे वे ही बेंचें और वे भी ऐसे को न बेंचे कि जिससे कोई अपराध या नुक़सानी होने का डर हो। इसलिए नाम वग़ैरः लिख लेना चाहिए, इत्यादि नियम सब समाजों में देख पड़ते हैं। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ही इच्छित ध्येय हो तो इन नियमों की कोई आवश्यकता नहीं। केवल लोकहित के लिए ये नियम होते हैं और इस कारण वस्तुओं को बेंचनेवाले (या व्यवहार करनेवाले की भी) कुछ स्वतन्त्रता सरकार को छीन लेनी पड़ती है।

पागल लोगों को सड़कों पर न जाने देना या फ़ौजदारी करनेवालों को पहले से ही पकड़ लेना इसी दृष्टि से उचित है। आत्मसंरक्षण का नियम सब कोई मानते हैं और आत्मसंरक्षण करते समय यदि अपराधी को किसी तरह का नुक़सान पहुँचाया जाय तो अनुचित नहीं। परन्तु साथ ही यह भी नियम रहता है कि आवश्यकता से अधिक नुक़सान न पहुँचाया जाय। नुक़सान ऐसा और इतना ही

पहुँचाया जाय कि वह इच्छित अपराध न कर सके। अपराधी को पकड़ लेने पर उसे नुक़सान पहुँचाना वृथा है। फिर उसके अपराध का बाक़ायदा मुक़द्दमा ही होना चाहिए। कभी कभी सरकारी ही नहीं तो ख़ास भी माल को और लोगों की जान को बचाने का काम भी सरकार को नुक़सान होने से पहले से ही करना पड़ता है—जान या माल को हानि होने तक राह देखते बैठना नितान्त अनुचित होता है। बचाव के लिए सरकारी कर्मचारी नियत करने होते हैं। कभी कभी होनेवाले नुक़सान की सूचना लोगों को देना पड़ती है। उदाहरणार्थ, कहीं का पानी ख़राब होगया हो तो सरकार को बतलाना पड़ता है कि लोग वह पानी न पीवें या वहाँ न जावें। इस प्रकार के अनेक काम करने पड़ते हैं।

इतना ही नहीं तो कभी कभी वाक्स्वातन्त्र्य भी रोकना पड़ता है। वाक्स्वातन्त्र्य मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार अवश्य है, परन्तु उसका यदि ऐसा उपयोग किया जाय कि जिससे लोगों को हानि पहुँचे तो उसे नियन्त्रित करना ही होगा। जिस स्वतन्त्रता से स्वतन्त्रता के हेतु नष्ट हों तो उसके रहने से लाभ ही क्या?

सारांश, अपराध करने पर सरकार मुक़द्दमों का निर्णय करती है, परन्तु साथ ही होनेवाले अपराधों को या हानियों को भी रोकती है। इसके लिए आवश्यकतानुसार लोगों की स्वतन्त्रता पर भी सरकार हस्तक्षेप करती है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से ये नियम भले ही अनुचित देख पड़ें, पर लोकहित की दृष्टि से वे आवश्यक हैं। शर्त यही है कि लोगों की आवश्यकता से अधिक स्वतन्त्रता नष्ट न की जावे और सरकारी हस्तक्षेप से वास्तविक लोकहित हो।

८. सरकार का न्यूनतम कार्यक्षेत्र इतने में ही समाप्त नहीं होता। उसे मा-बाप के भी बहुत से काम करने होते हैं। बहुत से देशों में यह नियम है कि सरकार द्वारा निश्चित या प्रमाणित कोई परीक्षा यदि कोई पुरुष पास न कर लें तो वह वैद्यक का धंधा न करे। प्रत्येक अपना

अपना हित चाहता अवश्य है, परन्तु कई बार वह अपने हित की बात को जान नहीं सकता या अपने कार्यों से हित के पलटे अहित होगा यह देख नहीं सकता। इसलिए वैद्यक के धंधे के लिए कोई नियम रखना आवश्यक है। इसके लिए कम से कम तीन तरह के उपाय हो सकते हैं। एक तो परीक्षा पास करने का नियम रखा जाय। या जो वैद्य परीक्षा पास न हों, उनसे यदि हानि हो तो उसकी नुकसानी उनसे दिलवाई जाय या उन्हें दण्ड दिया जाय। तीसरे, उनका पारिश्रमिक दिलवाने के लिए सरकार अस्वीकार कर दे। किसी भी उपाय का अवलम्बन किया तब भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप अवश्य होता है और सरकार लोगों की ऐसी खबरदारी लेती है कि जैसे माता-पिता करते। जुआ खेलने से रोकने का काम इसी प्रकार का है। इतनी शराब न पीना कि जिससे बाहर के लोगों को ही नहीं तो घर के लोगों को, पत्नी और बच्चों को, कष्ट हों। ऐसा नियम बनाना इसी पितृभाव कर दर्शक है। इसी तरह के कई अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस वर्ग के कुछ उदाहरण हम पहले ही बतला चुके हैं। मा-बाप यदि बच्चों का या पति पत्नी का पालन न करें तो उनसे उनके पालन-पोषण का खर्च दिलवाना और किसी दृष्टि से उचित न होगा। यहाँ तो सरकार प्रत्यक्ष मा-बाप का काम करती है। लड़कों को या गर्भवती स्त्रियों को कारखाने में मज़दूरी करने से रोकना इसी प्रकार के काम हैं।

सारांश, निरे व्यक्तिस्वातन्त्र्य के परे प्रत्येक सरकार को जाना पड़ता है और कई काम ऐसे करने पड़ते हैं कि जो मा-बाप अपने बच्चों के हित के लिए किया करते हैं।

९. अभी तक जिस प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष व्यक्तियों की रक्षा करनेवाले हैं। इसलिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद के अनुसार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वे उचित भी कहे जा सकते हैं।

परन्तु कई काम ऐसे हैं कि जिन्हें प्रत्येक देश की सरकार अपने हाथ में लिये बैठी है, परन्तु जिनका समर्थन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद की दृष्टि से बिलकुल नहीं हो सकता। वे किसी प्रकार रक्षामूलक नहीं तो स्पष्टतया समाज-हितमूलक हैं। समाज की भलाई के लिए सरकार को उन्हें उठाना पड़ता है। इनका विचार हम अगले परिच्छेद में करेंगे।

पचीसवाँ परिच्छेद

समाज-हित-वाद

१. गत परिच्छेद में हमने समाज की रक्षा के लिए आवश्यक सरकार के कुछ ऐसे कार्यों का उल्लेख किया था कि जिनका वैयक्तिक उपयोग भी हो सकता है। डाक, तार, रेल, सड़कें, पुल इत्यादि इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। यह कोई भी मानेगा कि सरकारी काम चलाने के लिए आज-कल इनकी नितान्त आवश्यकता है। अब यदि लोग अपने वैयक्तिक कामों के लिए इन चीज़ों का अलग प्रबन्ध करें तो बहुत सा अनावश्यक ख़र्च होगा और अनावश्यक कष्ट उठाने पड़ेंगे। और इनमें से कुछ कार्य ऐसे होंगे कि जो बिना सरकारी सहायता के हो ही नहीं सकेंगे अथवा उनके लिए बहुत ही अधिक कष्ट और ख़र्च उठाने होंगे। यदि कुछ कर लेकर लोगों को इन वस्तुओं का उचित उपयोग करने दिया तो लोगों को बड़ा सुभीता होगा, कष्ट और ख़र्च से वे बचेंगे, साथ ही सरकार को लाभ होगा और इससे दूसरे कर कम हो सकेंगे। उपयोग के लिए उचित दाम देने को कोई नाहीं न करेगा। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए। सड़कों और पुलों का उपयोग इतना सर्वसामान्य होता है, उनकी आवश्यकता उच्च और नीच, ग़रीब और धनी, छोटे और बड़े को इतनी अधिक है कि उनके उपयोग का नियन्त्रण करना केवल असम्भव है। इसलिए सबसे बेहतर यही है कि लोग इनका मुफ़्त उपयोग करें। लोकहित की दृष्टि से यही आवश्यक है। हाँ, जिनके कारण सड़कें और पुल ख़ास तौर से ख़राब होते हैं और जिनके लिए इस कारण सड़कों और पुलों की ख़ास आवश्यकता है, उनसे इस ख़ास उपयोग के लिए कर लेना अनुचित

न होगा। यथा, जो सदा गाड़ी टाँगे इत्यादि चलाया करते हैं और माल लाया ले जाया करते हैं, वे इस ख़ास उपयोग के लिए कर देना मंजूर करेंगे। क्योंकि गाड़ियाँ सब ही नहीं रखते। गत परिच्छेद में यह दिखला चुके हैं कि सिक्के के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात लागू होती है।

२. शिक्षा का प्रश्न इसी तरह का है। किसी भी देश की शिक्षा के सरकारी प्रबन्ध का इतिहास रोचक और शिक्षाप्रद है। पहले-पहल सब देशों में शिक्षा का कार्य निजी तौर से होता था। आज-कल की नाईं न तो सरकारी शालायें, विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय थे, न सरकारी वेतन पानेवाले गुरु या अध्यापक थे। यह काम पूरी रीति से लोगों के हाथ में था, उसमें सरकार का कुछ भी हस्तक्षेप न था। बहुत हुआ तो सरकार गुरु अथवा अध्यापकों को कुछ सहायता दे देती, और उनका और विद्वानों का किसी रूप से आदर करती थी। प्रारम्भ में सारे के सारे देशों में शिक्षा बहुधा धर्मगुरुओं के हाथ में थी। सरकार का उससे कुछ भी वास्ता न था। हिन्दुस्थान में अँगरेज़ी शिक्षा के प्रसार होने तक क़रीब क़रीब यही बात हिन्दू और मुसलमान दोनों में बनी रही। परन्तु पाश्चात्य देशों में शिक्षा का इतिहास कुछ भिन्न होगया। धर्म पर दख़ल करने के कारण कई देशों ने धर्म के साथ धीरे धीरे शिक्षा का भी भार उठाना शुरू किया। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह कार्य धीरे धीरे ही हुआ। कुछ सरकारी संस्थायें बनने लगीं और सरकारी वेतन पानेवाले शिक्षक नियत होने लगे। सरकारी प्रबन्ध और सरकारी कार्यक्रम जारी होने लगा। धीरे धीरे सरकार शिक्षा की अन्य संस्थाओं पर भी अपना अधिकार जमाने लगी और उनके प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने लगी। सहायता देना भी उसका कार्य होगया। सरकार प्रमाणित परीक्षाओं की सनद या प्रमाणपत्र देने-वाले विद्यालयों पर सरकारी देख-रेख रखना नितान्त आवश्यक हो गया। फिर सरकार ने एक क़दम और आगे रखा। अनिवार्य और

निःशुल्क शिक्षा का प्रश्न उठा और कुछ प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क दी जाने लगी।

इसी इतिहास की रचना अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचारकाल से हिन्दुस्थान में भी हुई है। हाँ, हमारे यहाँ ये अनुभव पके-पकाये मिले और इस कारण हमें काल कुछ कम लगा। तथापि पूर्व और पश्चिम की अर्वाचीन शिक्षा के प्रबन्ध का इतिहास क़रीब क़रीब एक समान है। अब प्रश्न उठ रहा है कि अनिवार्य शिक्षा का काल बढ़ा दिया जाय, शिक्षार्थियों की सहायता और परवाह सरकार पूर्ण-रीति से करे और उच्च शिक्षा के प्रश्न भी अपने हाथ में ले। लोकप्रवृत्ति का प्रवाह इतने ज़ोर का है कि कह नहीं सकते कि किसी देश की सरकार को शिक्षा के लिए कौन कौन से काम न करने पड़ें। शिक्षा के लिए जनहित की दृष्टि से वे सब कार्य करने पड़ेंगे जो वह परिस्थिति के अनुसार कर सके। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद में अनिवार्य शिक्षा को स्थान ही नहीं दिया जा सकता। इसका समर्थन केवल समाजहित-मूलक ही हो सकता है।

३. सरकार और धर्म के सम्बन्ध का भी विचार करना उचित है। हिन्दुस्थान में राजा धर्म के संरक्षक समझे जाते थे, परन्तु उसके तत्वों के प्रचार के लिए अपने राजदण्ड का उपयोग वे न कर सकते थे। इसलिए एक दृष्टि से धर्म का और सरकार का हिन्दुस्थान में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, तो दूसरी दृष्टि से धर्म उनके अधिकार के बाहर की बात सदा से रही है। हाँ, बौद्धकाल में बात कुछ भिन्न हो गई थी। अशोक जैसे राजाओं ने धर्म का रक्षण ही नहीं तो प्रचार भी किया सा देख पड़ता है। तथापि स्मरण रखना चाहिए कि उस समय भी राजा धर्म-गुरु नहीं था, धर्मगुरु भिन्न ही व्यक्ति होता था। क्रिश्चियन धर्म के प्रचार के बाद योरप में भी क़रीब क़रीब यही सम्बन्ध रहा। रोमीय साम्राज्य का बादशाह संरक्षक और पोप धर्म-गुरु समझा जाता था। परन्तु सोलहवीं सदी की धर्मक्रान्ति ने ये बातें बदल डालीं। कई राजा

धर्म के संरक्षक ही नहीं तो प्रचारक बन गये और धर्म के नियम व्यवस्थापक-सभाओं में बनने लग गये। राजधर्म ही लोकधर्म होने लगा। धर्म के कारण राजा राजाओं में, लोगों लोगों में और राजा और लोगों में अनेक झगड़े हुए, और ख़ूब रक्त-पात हुआ। अठारहवीं सदी में जाकर कहीं धार्मिक स्वतन्त्रता लोगों को प्राप्त हुई। तिस पर भी अब तक पूरी पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता बहुत कम स्थानों में प्राप्त हुई है। हिन्दुस्थान के शासक पश्चिमीय होने के कारण वे अनेक पश्चिमीय कल्पनायें अपने साथ लाये। धर्म के विषय में भी कुछ कुछ यही बात है। अपने इतिहास और बुद्धि से उन्हें मालूम अवश्य हुआ कि हिन्दुस्थान के धर्म में यथासम्भव बहुत कम हस्तक्षेप करना चाहिए। तथापि यह बात विचारने लायक़ है कि सरकार द्वारा परिपोषित क्रिश्चियन धर्म-विभाग किस कल्पना का परिणाम है। सारांश, इतिहास से देख पड़ता है कि धर्म और सरकार का सम्बन्ध बहुधा बदलता रहा है। इतना ही नहीं तो अपनी अथवा लोगों की कल्पना के अनुसार धार्मिक कृत्यों में सरकार को हस्तक्षेप कभी कभी करना ही पड़ता है। सती का बन्द होना, मनुष्यों के बलि देने से मना करना, या प्रचलित सर्वसामान्य नीति के विरुद्ध धर्म के नाम पर कोई काम न करने देना, इन्हीं कल्पनाओं के परिणाम हैं। लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता सब जगह मिल चुकी है परन्तु समाज के हित की दृष्टि से सरकार को कभी कभी लोगों की इस स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप करना ही पड़ता है।

४. अकाल पड़े पर दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों के खाने-पीने का प्रबन्ध हिन्दुस्थान-सरकार किया करती है। यदि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद इसे लागू किया जाय तो यही कहना होगा कि लोग भूखों मरने के लिए स्वतन्त्र रहें, सरकार उन्हें सहायता देने का प्रबन्ध न करे। सरकारी ख़ज़ाने से बुभुक्षितों के लिए द्रव्य ख़र्च करना यानी जिनके पास द्रव्य है, उनसे ज़बरदस्ती लेकर भूखों को देने के समान है। समाजहित का प्रश्न छोड़ दिया जाय तो इस कार्य का समर्थन कौन कैसे करेगा?

हिन्दुस्थान में क्या, अन्य देशों में भी सरकार नहरें खुदवाती है, उनके द्वारा आबपाशी, व्यापार और लोगों की आमदरफ़ होती है। सारे लोगों के द्रव्य से कुछ लोगों को लाभ पहुँचाने का समर्थन किस युक्ति के अनुसार हो सकता है? उत्तर के लिए समाज-हित की ही ओर दृष्टि दिखलानी होगी।

कुछ दारमदार ऐसे होते हैं कि जिन्हें सरकार में रजिस्टरी किये बिना वे जायज़ नहीं होते। अर्थ यह है कि ऐसे करार सोच समझ कर और स्वतन्त्रता-पूर्वक किये जावें। भय या भ्रम के कारण ऐसे करार न होने पावें। इसलिए सरकारी कर्मचारी के सामने उनको पक्का करना आवश्यक है।

लोगों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय तो वे जंगलों को साफ़ कर डालेंगे। इससे आबहवा में भारी परिवर्तन होगा, ढोरों को घास, चारा आदि न मिलेगा, और आवश्यकता पड़े पर लकड़ी का मिलना दुर्लभ हो जावेगा। इसलिए जङ्गल काटने की स्वतन्त्रता परिमित करनी ही चाहिए।

गत परिच्छेद में पुस्तकों के प्रकाशनाधिकार का उल्लेख कर ही चुके हैं। लोगों को नई नई पुस्तकें लिखने की उत्तेजना देने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक को पुस्तक लिखने से यथेष्ट आर्थिक लाभ हो। इसलिए उसके सिवा कोई दूसरा उस पुस्तक को प्रकाशित न कर सके, न उस पुस्तक में थोड़े बहुत परिवर्तन करके अपने नाम से उसे प्रकाशित करे। परन्तु साथ ही यह भी आवश्यक है कि पुस्तकों का लोगों में यथेष्ट प्रचार हो। इसलिए लेखक के पुस्तक-प्रकाशन का पूर्णाधिकार नियतकालिक ही होना चाहिए। पचीस, पचास वर्ष के बाद उन्हें कोई भी प्रकाशित कर सके। तब ही सस्ते दामों पर पुस्तकें लोगों को मिल सकेंगी।

९. व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद के अनुसार लोग चाहे जैसे व्यापार में पैसे लगावें, चाहे जैसा व्यापार करें, चाहे जितने बैंक खड़े करें, चाहे

जितनी और जिस प्रकार की कम्पनियां खोलें, सरकार को उनसे कुछ न करना चाहिए। जब लोग अपराध ही करें तो सरकार उन्हें दण्ड दे। बस, इसी में उसका काम समाप्त हो जावेगा। क्या कोई सरकार इतने ही कार्यों से सन्तुष्ट हो सकती है? परन्तु लोक-हित की दृष्टि से सरकार का इस विषय का कार्य यहीं समाप्त नहीं होता। लोगों की जान और माल की रक्षा के लिए उसे इससे बहुत अधिक कार्य करने होते हैं। कम्पनी बनाने के नियम, बैंक खोलने के नियम और व्यापार के नियम उसे बनाने पड़ते हैं और उन पर सरकार की थोड़ी बहुत देख-रेख भी रहती है। लोग सदा अपने जान-माल की रक्षा नहीं कर सकते, इसलिए ये कार्य सरकार को करने पड़ते हैं। चाहे जिस तरह की नाव में चाहे जितने आदमी बैठाने की परवानगी रही तो नित्य प्रति दुर्घटनायें होंगी और जान-माल की ख़राबी का कुछ ठीक-ठिकाना न रहेगा। इसलिए इन सब कार्यों के नियम बनाना लोक-हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

कहीं कहीं तो सरकार ख़ुद भी बैंक का काम करती है। हिन्दुस्थान में यह कार्य प्रचलित है। दूसरे देशों में सहकारी समिति बनाने का काम लोगों पर छोड़ दिया गया है। परन्तु हिन्दुस्थान में सरकार इसके लिए प्रत्यक्ष सहायता और उत्तेजना देती है।

कोई ख़ासगी व्यवहार में किसी से चाहे जितना ब्याज माँगे और कोई चाहे जितना दे दे, पर जब मामला अदालत में पेश होगा तो अदालत को लोकहित की रक्षा करनी होगी और लोगों की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप करके कुछ निश्चित सीमा तक ब्याज दिलवायेगी। जो बात ब्याज के विषय में हमने कही, वही ज़मीन की क़ीमत को भी लागू होती है।

इन अनेक कार्यों का समर्थन समाज के हित की ही दृष्टि से हो सकता है।

६. ऊपर एक स्थान पर हमने लिखा है कि सरकारी कार्यों के लिए रेलगाड़ियों की आज-कल अत्यन्त आवश्यकता है। उन्हीं रेलगाड़ियों से लोगों का भी काम चल सकता है। इसलिए लोगों से कुछ दाम लेकर उन्हें उनका उपयोग करने देना चाहिए। परन्तु ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि रेलगाड़ियाँ सरकारी ख़र्च से न बनाई जातीं, यदि लोग ख़र्च करने को तैयार हों तो लोगों पर क्यों न छोड़ दी जायँ। कुछ देशों में रेलगाड़ियाँ सरकारी नहीं हैं, मोटर-टाँगों की नाईं ख़ासगी हैं। परन्तु क्या ऐसे देशों में रेलगाड़ियों के उपयोग के लिए सरकार नियम बनावे या नहीं? यदि सरकार नियम न बनावे तो रेलगाड़ी के मालिक रेलगाड़ियाँ ठीक न रखें, दाम मनमाना हाँका करें और लोगों के जान-माल का चाहे जितना सत्यानाश किया करें। इससे स्पष्ट है कि इन ख़ासगी रेलगाड़ियों पर भी सरकार की देख-रेख भरपूर होना आवश्यक है। ये काम लोगों पर नहीं छोड़े जा सकते। जो बात ख़ासगी रेलगाड़ियों को लागू होती है, वही सरकारी रेलगाड़ियों के विषय में आवश्यक है। रेलगाड़ियों के विषय के अनेक नियम बनाना और उन पर देख-रेख रखना सरकार का ही काम है।

७. अब तक हमने कम विवादग्रस्त प्रश्नों का विचार किया। अब हमें धीरे धीरे अधिक विवादग्रस्त प्रश्नों को उठाना होगा।

सबसे प्रथम व्यापार और उद्योगधन्धों के नियमन का प्रश्न है।

किसी देश में कोई चीज़ अधिक पैदा होती है, और उसे लाने ले जाने का सुभीता भी है, तो क्या वह देश दूसरे देशों से स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार कर सके? क्या इस प्रकार एक देश के द्रव्य को दूसरा देश बाक़ायदा लूट ले जाय? हम यहाँ मुक्त और संरक्षित व्यापार नीति के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते। यह अर्थ-शास्त्र का प्रश्न है और वहीं उसका सविस्तर विवेचन उचित है। इतिहास से जो कुछ हमें देख पड़ता है वह यह है कि कभी कभी प्रत्येक देश को अपने देश की

भलाई के लिए संरक्षित व्यापारनीति का अवलम्बन करना पड़ता है। गत युद्ध से मुक्त व्यापारनीति के बड़े भारी प्रतिपादक इँग्लैंड की नीति भी बदल रही है। इससे हमारे मत को ख़ूब पुष्टि मिलती है। अब यदि यह मान लिया कि प्रत्येक देश को कभी कभी अपने व्यापार का संरक्षण करना पड़ता है, तो प्रश्न यह है कि आवश्यकता पड़ने पर इस नीति का अवलम्बन किया जाय या नहीं? कोई भी इस प्रश्न का यही उत्तर देगा कि आवश्यकता पड़े पर ऐसा अवश्य करना चाहिए। दूसरे देशों के अथवा उसी देश के लोगों को दूसरे देशों से स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करने दिया तो कुछ लोगों की जेबें ज़रूर गरम हो जावेंगी, पर शेष देश की बड़ी भारी और कदाचित् दीर्घकालिक हानि हो जावेगी।

८. गुनाहों के लिए सज़ा देने से, धोखेबाज़ी के मौक़े रोकने से, और विदेशी लोगों को अपना देश व्यापार-द्वारा लूटने न देने से ही किसी सरकार का व्यापारविषयक काम समाप्त नहीं होता। यह विशाल कारख़ानों का युग है। जब प्रत्येक घर में कुछ कुछ चीज़ें बनती थीं तब आज-कल के कठिन प्रश्न उपस्थित न हुए थे। अब तो 'रुपये के पास रुपया जाता है'। बहुत सा माल एक कारख़ाने में पैदा हो सकता है और रेलगाड़ियों-द्वारा माल एक जगह पर लाया जा सकता है। इस कारण जिसके पास पैसा होता है, वह बहुत सा माल ख़रीद ले सकता है और मनमाने भाव पर बेंच सकता है। या, कई व्यापारी मिलकर मोल ले सकते हैं और मनमाने भाव पर बेंच सकते हैं। क्या लोग ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र रहें?

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद का आश्रय लिया जाय तो ग़रीब लोगों को इन श्रीमान् व्यापारियों की उदारता पर छोड़ देना होगा। परन्तु प्रत्येक देश का इतिहास बतलाता है कि ऐसे समय में सरकार को व्यापार के कार्यों में हस्तक्षेप करना पड़ा है। जब स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापारियों में लेने देने की होड़ चले, तब तो माल की क़ीमत घटने की आशा है।

परन्तु जब एक अथवा कुछ इने-गिने लोग सब माल ख़रीद लें और मनमाना भाव हाँकने लगें, तब भाव के उतरने की आशा कहाँ ? कई व्यापारी माल लेकर उसे नष्ट कर डालने को भी तैयार हो जाते हैं, क्योंकि उनका कोई नुक़सान नहीं होता। जितना माल बचेगा उतने में ही वे अपने पूरे दाम सीधे कर लेना चाहते हैं। और इसके लिए उन्हें श्रम और ख़र्च कम करना पड़ता है। वे तो अपने निजी फ़ायदे की बात देखते हैं, लोगों की भलाई-बुराई से उन्हें क्या करना है। ऐसे समय में व्यापार की स्वतन्त्रता पर सरकार को हस्तक्षेप करना ही पड़ता है। नहीं तो बहुत से ग़रीब इन कतिपय लोगों के लिए नष्ट हो जावेंगे। अमरीका में इस तरह के गुट्ट बनाने की रीति बहुत अधिक प्रचलित है। इस कारण इस विषय के वहाँ अनेक क़ायदे बने हैं। इतना होने पर भी इन व्यापारियों की संघशक्ति बड़ी भारी है। कभी कभी तो वे सरकार को ही अपने हाथ में कर लेते हैं। इसलिए ऐसे कार्यों की बुराइयों का रोकना, गुट्ट न बनने देना, भाव न चढ़ने देना, भावों को निश्चित करना, या कभी कभी माल मोल लेकर ख़ुद अपनी दुकानें भी खोलना सरकार का काम हो जाता है। जो बात अलाउद्दीन खिलजी ने की थी, वही कई सरकारों को करनी पड़ी है और करनी पड़ेगी।

६. विशाल कारख़ानों का एक बड़ा भारी और परिणाम हुआ है।

जब प्रत्येक घर ही एक छोटा सा कारख़ाना था, उस समय घर का मालिक उस कारख़ाने का मालिक था। वह ख़ुद, उसके लड़के-बच्चे इत्यादि कुटुम्ब के लोग उस कारख़ाने के मज़दूर थे, सबकी मज़दूरी घर मालिक की थैली में जमा होती थी और सबकी आवश्यकतायें उससे पूर्ण होती थीं। बहुत ही आवश्यकता पड़ी तो दो चार आस-पास के मज़दूर या नवसिख और रख लिये जाते थे। इस कारण प्रत्येक पुरुष अपने श्रम का पूरा पूरा पलटा पाता था। श्रीमान् लोग

थोड़े थे, और उनकी श्रीमन्ती भी बहुत बढ़ी-चढ़ी न थी। मध्यम वर्ग के ही लोग अधिक थे। धनी और ग़रीब में विशेष अन्तर न था। परन्तु अब ये बातें नहीं रहीं। विशाल कारख़ानों के निकलने से और भाफ, बिजली आदि के उपयोग से एक ही कारख़ाने में लाखों और करोड़ों का माल तैयार हो सकता है। इनके सामने बेचारे घरेलू कारख़ाने कहाँ टिक सकते? वे नष्ट होते गये और इस प्रकार बेकार होनेवाले लोग कारख़ानों में जाकर मज़दूरी करने लगे। मज़दूर को रोज़ी कमाये बिना उपाय नहीं और रोज़ी देनेवाले होगये थे श्रीमान् कारख़ाने-वाले। इस प्रकार ये मज़दूर परावलम्बी होगये। उनकी मज़दूरी से कारख़ानेवाले दिनों दिन श्रीमान् होते चले और मज़दूरों की स्थिति बुरी होती चली। यह कोई भी जानता है कि इन कारख़ानेवाले श्रीमानों की बहुत कुछ श्रीमन्ती इन्हीं ग़रीब मज़दूरों के पसीने का फल है। इसके लिए विशेष अर्थ-विज्ञान पढ़ने की आवश्यकता नहीं। सब ख़र्च निकाल लेने पर अधिक ही बचेगा, तब ही ये लोग श्रीमान् हो सकेंगे।

पहले-पहल तो मज़दूरी की दशा अत्यन्त ही बुरी रही। इसका जिसे विशेष ज्ञान लेना हो तो उसे चाहिए कि अठारहवीं सदी में इँग्लेंड में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई, उसका इतिहास पढ़े। लोग कारख़ानों में ठूँसे जाने लगे। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या तरुण, क्या तरुणी, क्या वृद्ध, क्या बालक सब एक जगह काम करते, ऊपर से कोड़े पड़ते जाते और इस प्रकार पन्द्रह सोलह घंटे बिताते थे। सबके सोने के लिए वे ही चिथड़ों के बिस्तर पड़े रहते और पारी पारी से सोने के कारण वे कभी ठंडे भी न हो पाते थे। जीव-जंतुओं का और इस कारण बीमारियों का वे घर ही बन गये थे। नीति और अनीति का प्रश्न ही न रहा था। वे कारख़ाने साक्षात् पाप के घर या मूर्तिमान् नरक थे। स्त्री और पुरुषों के बीच जिन जिन महापापों की कल्पना हो सकती है, वे सब वहाँ रात-दिन राज्य करते थे। ऐसी स्थिति में जो

मर जाते, उन्हें कारख़ानेवाले चुपचाप गड़वा देते। मज़दूर लाने के लिए देहातों में इनके मुनीम नियत थे, और वे अपने कामों के लिए चाहे जिन उपायों का अवलम्बन करते थे।

इस स्थिति के विरुद्ध ख़ूब शोर मचा और सरकार को कारख़ानेवालों की स्वतन्त्रता नियन्त्रित करनी पड़ी। कौन लोग कारख़ानों में काम करें, कितने घंटे करें, कम से कम वे कितना वेतन पावें? कारख़ानों की भीतरी बाहरी स्थिति क्या रहे, बीमारी वग़ैरः के समय कारख़ानेदारों के क्या कर्तव्य रहें, अपनी कठिनाइयाँ दूर करने के लिए मज़दूर लोग संघ बना सकें, इत्यादि इत्यादि सैकड़ों नियम समय समय पर बने। सरकार पर यह बड़ा भारी काम आ पड़ा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादियों से प्रश्न है कि 'क्या सरकार अपने अधिकार का मज़दूरों की भलाई के लिए उपयोग न करती? क्या उन्हें श्रीमान् कारख़ानेदारों पर छोड़ देती?' इन बुराइयों को रोकने के लिए जो आन्दोलन हुए हैं, उनसे जाना जा सकता है कि सरकार चुपचाप न बैठ सकती थी। यदि वह चुपचाप बैठती, तो बहुत बड़े अनर्थ गुज़रे होते। राज्य-क्रान्तियों की झड़ लग जाती या मज़दूरवर्ग नष्ट हो जाता और इस तरह देश का सत्यानाश हो जाता। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद का ऐसे समय में आश्रय लेने से उसका मूल हेतु यानी व्यक्ति का स्वातन्त्र्य कितनों ही बार नष्ट हुआ होता। बहुत आन्दोलन होने पर और अनेक क़ायदों के बनने पर भी आज मज़दूरवर्ग की दशा अच्छी नहीं है। उनके कारण न जाने कितने आन्दोलन किसी न किसी रूप में होते रहते हैं और न जाने कितना काम सरकार को करना पड़ता है! यहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद आत्मघातक होता। इस नई स्थिति के परिणामों का अधिक विवेचन हम आगे करेंगे।

१०. परन्तु इतने में सरकार का काम समाप्त नहीं होता। सरकार को ख़ुद कुछ अंश तक कारख़ानेदार, विक्रयकर्ता या मालिक बनना पड़ता है। कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं कि जिनको एक हाथ में करना

सरल बात है या लोक-हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। उनसे सरकार को अच्छा लाभ होता है। ऐसी चीज़ों के पैदा करने और बेचने का भार सरकार ख़ुद ले सकती है। इन चीज़ों के लिए सरकार मानों ठेकेदार बन जाती है। हिन्दुस्थान में नमक और अफ़ीम ऐसी ही चीज़ें हैं। इनसे सरकारी आय में अच्छी सहायता होती है। दूसरी कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं कि जिनसे लोगों को बहुत सुभीता हो सकता है और साथ ही सरकार को भी उनकी आवश्यकता होती है। रेल, तार और डाक का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। इन चीज़ों के प्रबन्ध से सरकार का काम अच्छा चलता है, उसे अपने दूसरे कार्यों के लिए द्रव्य मिलता है और लोगों को सुभीता होता है। यदि इनका प्रबन्ध खासगी रहे तो बहुत सी बुराइयाँ पैदा होने का डर है। दाम अधिक देने पड़ेंगे, प्रबन्ध ठीक न होगा, लोगों में अनावश्यक होड़ मच जावेगी और बहुत सी शक्ति और सम्पत्ति व्यर्थ जावेगी, और लोगों को बार बार बहुत अधिक हानि उठानी पड़ेगी। ये काम ऐसे हैं कि उनके समुचित प्रबन्ध के लिए सरकार की विशाल शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। सबसे भला यही है कि सरकार ही ख़ुद इनका प्रबन्ध करे और इन वस्तुओं की मालिक रहे। इनके द्वारा होनेवाली आय से ग़रीब लोगों पर बैठनेवाले कर का भार कुछ कम हो जाता है, लोगों को कर का भार जनाता नहीं। और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रीति से भी शान्ति बनाये रखने में इनसे सहायता होती है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादी भले ही चाहते रहें कि इन कामों को सरकार न करे। परन्तु दुनिया की प्रायः सब सरकारें इस प्रकार के कुछ न कुछ काम अपने हाथ में लेने लग गई हैं। इससे सिद्ध है कि ऐसे भी काम सरकार के कर्तव्य हैं। धीरे धीरे यह मत प्रचारित हो रहा है कि रेलें खासगी मिलकियत न रहें, वे राष्ट्रीय सम्पत्ति हों। इतना ही नहीं तो यह भी मत प्रचलित हो रहा है कि ज़मीन का भी मालिक पूरा राष्ट्र रहे, लोग केवल उचित किराया देकर जोतने-बोने के लिए उसका

उपयोग करें। हम यहाँ पर इस मत के औचित्य-अनौचित्य का विचार नहीं करना चाहते। ज़मीन का प्रश्न रेल, तार, डाक आदि के प्रश्न से कुछ भिन्न है। उसका विवेचन अर्थ-शास्त्र में ही उचित होगा। इससे इतनी शिक्षा ली जा सकती है कि सरकार भी कुछ चीज़ों की मालिक, कारख़ानेदार और विक्रयकर्ता हो सकती है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद में पड़ कर लोगों के सुभीते और भलाई को अपनी दृष्टि से वह दूर नहीं कर सकती।

११. यहाँ तक तो बहुत बुरा न रहा परन्तु आगे की बात व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादियों के बिलकुल विरुद्ध है। कभी कभी लोकहित की दृष्टि से सरकार को किसी व्यक्ति या व्यक्तिविशेष की शक्ति या सम्पत्ति का उपयोग करना पड़ता है। इसका एक उदाहरण बहुतेरे लोगों को मालूम होगा। गत योरपीय युद्ध में वहाँ के बहुत से देशों को सैनिक-सेवा अनिवार्य करनी पड़ी। प्रत्येक सशक्त और कार्यक्षम पुरुष का कर्तव्य होगया कि वह युद्ध में भाग ले और अपने देश की रक्षा करने में सहायता दे। अनिवार्य शिक्षा से देश और व्यक्ति की प्रत्यक्ष भलाई है। परन्तु अनिवार्य सेवा में क़रीब क़रीब देश ही की भलाई है, व्यक्ति की बहुत कम। सम्भावना यही रहती है कि लड़नेवाला सैनिक किसी भी समय मारा जावे। फिर उसके लिए न देश है न घर। परन्तु देश के सामने यह प्रश्न नहीं रहता कि लाख दो लाख लोगों की जान और मालमत्ता जावेगी या रहेगी। प्रश्न है इससे बिलकुल निराला। वह यह है कि देश के लाखों लोग परतन्त्र हो जावेंगे, देश की सारी सम्पत्ति लुट जावेगी और शायद सदा के लिए देश पराधीन हो जावेगा। इससे जो बुराइयाँ होंगी वे लाख दो लाख लोगों की हानि से कहीं सैकड़ों क्या लाखों गुनी बढ़-कर हैं। देश की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए, और इस प्रकार देश के लोगों को दूसरों के गुलाम होने से बचाने के लिए, लाखों लोगों की सैकड़ों वर्षों तक स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए, कुछ लोगों की

स्वतन्त्रता नष्ट करनी ही होगी। क्षणिक लाभ पर दृष्टि देने से हमेशा के लिए हानि हो जावेगी। इसी नीति से इस प्रश्न का विचार करना आवश्यक है। लोग बहुधा अपने जान-माल को व्यक्तिशः अधिक महत्त्व की चीज़ समझते हैं। इसलिए सरकार को उन्हें देश की सेवा करने के लिए, अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने का प्रयत्न करने के लिए, बाध्य करना पड़ता है। परिणाम व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ही है, परन्तु उस पर पहुँचने के लिए खूब समय और श्रम चाहिए। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर प्रत्यक्ष दृष्टि दी जाय तो अनिवार्य सैनिक-सेवा अनुचित जान पड़ेगी। परन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का प्रत्यक्ष चश्मा छोड़ कर देश-हित के चश्मे से देखा जाय तो सुदूर स्थान में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ही देख पड़ेगा।

इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण भी लोगों को मालूम होगा। सरकार को निजी अथवा समाज के कार्यों के लिए जब कभी ज़मीन की ज़रूरत होती है तो उचित दाम देकर उसे मालिक से वह ज़बरदस्ती छीन लेती है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादियों को यह सरकारी ज़बरदस्ती बिलकुल ही पसन्द न होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि अमुक मनुष्य के पास कुछ ज़मीन है जो समाज को या सरकार को भारी उपयोगी या आवश्यक है। ज़मीन ऐसी वस्तु है जो पैदा नहीं की जा सकती। स्थान-विशेष के अनुसार ज़मीन के हिस्सों का महत्त्व बढ़ता है। फिर ज़बरदस्ती के सिवा और कोई उपाय है? ऐसा किये बिना, सरकारी इमारतें, सार्वजनिक शालायें या अन्य इमारतें, रेल, नहर, सड़कें आदि न बन सकेंगी।

जो बात हमने ज़मीन के विषय में कही है, वही उसी प्रकार की दूसरी अन्य चीज़ों को भी लागू होती है। हमारा यह कहना नहीं है कि सरकार के ऐसे हस्तक्षेप अपरिमित हो सकते हैं। जैसा हम दिखला चुके हैं और आगे दिखलावेंगे, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य बड़े ही महत्त्व की चीज़ है। परन्तु जब समाज के हित से उसका विरोध

होता है, तब व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को अपना बलिदान करना ही पड़ता है। अनिच्छापूर्वक क्यों न हो, व्यक्तियों को समाज की भलाई के लिए स्वार्थ-त्याग करना ही पड़ता है। समाज की भलाई के लिए सरकार की शक्ति का उपयोग किये बिना उपाय नहीं। जब कभी समाज की भलाई के लिए इस शक्ति की आवश्यकता हुई है और होगी, तब तब उसका उपयोग हुआ है और होगा।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

समाजसत्तावाद और साम्यवाद

गत परिच्छेद के अन्त में हमने यह दर्शाया है कि जब कभी समाज की भलाई के लिए सरकार की सत्ता के उपयोग की आवश्यकता होती है, तब ऐसा किये बिना उपाय नहीं रहता। कुछ लोग इस सत्ता का इतना अधिक उपयोग करना चाहते हैं कि सारे राज्य-विज्ञान का, अर्थ-विज्ञान का और समाज-रचना का विवेचन बदला जा सकता है। हमारे विषय का अर्थ-विज्ञान और समाज-रचना से जितना सम्बन्ध है उतना ही हम इन शास्त्रों का उल्लेख करेंगे, अधिक नहीं। इस विवेचन में मुख्य तत्त्व यह होगा कि देश में समाज की सत्ता ही सब कुछ हो और यथासम्भव सब लोग सब दृष्टि से सम रहें। इसी कारण हमने इस परिच्छेद का नाम समाजसत्तावाद और साम्यवाद रखा है।

१. किसी न किसी रूप में, किन्हीं न किन्हीं कारणों से, साम्यवाद की चर्चा प्राचीन काल से ही योरप में होती आ रही है। परन्तु अठारहवीं सदी के बाद इस विषय को बड़ा गम्भीर, महत्त्वपूर्ण और विस्तृत स्वरूप प्राप्त हुआ है। अठारहवीं सदी में योरप में ऐसी यन्त्र-सामग्री का आविष्कार हुआ कि जिससे थोड़े समय में ख़ूब चीज़ें बन सकें। कोयले और लोहे की बहुत सी खानें इंग्लैंड में मिलीं। साथ ही, भाफ के द्वारा एंजिन चलाने की क्रिया भी ढूँढ़ निकाली गई। फिर क्या था, बड़े बड़े कारख़ाने चल निकले। इनके सामने घरेलू कारख़ाने कहाँ टिक सकते थे? ये धीरे धीरे नष्ट होने लगे और लोग अपना घर छोड़कर इन विशाल कारख़ानों में काम करने लगे। इनसे जो अनेक बुराइयाँ हुईं, उनमें से कुछ का उल्लेख गत परिच्छेद में

हम कर ही चुके हैं। इन्हीं के साथ एक और भारी बुराई पैदा हुई जिसका हमारे विषय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लोगों के घरेलू रोज़गार टूट जाने से उन्हें कारख़ानों में काम करना पड़ा। कारख़ानेदार जो वेतन देते, उतने पर ही मज़दूरों को सन्तुष्ट रहना पड़ता था। कारख़ानेदार लोग तो सधन होते चले और मज़दूर लोगों की स्थिति अत्यन्त क्षीण होगई। एक ओर ख़ूब श्रीमान् तो दूसरी ओर अत्यन्त निर्धन! आर्थिक विषमता की कहीं सीमा न रही! ज़मीन-आसमान का अन्तर होगया! परन्तु इसके पहले ऐसी स्थिति न थी। सब लोग बहुधा अपने अपने घरों पर रोज़गार करते थे। आवागमन के इतने अधिक मार्ग न थे। इसलिए सब बहुधा क़रीब क़रीब समान थे। यदि कोई धनी रहे ही तो वे ज़मीन्दार लोग ही। दूसरे लोगों में आर्थिक विषमता बहुत अधिक न थी। पर इन कारख़ानों के कारण हज़ारों बुराइयाँ पैदा होगईं। बड़े बड़े शहरों की वृद्धि हुई, गँदलापन बढ़ने लगा, रोज़ी कम मिलने लगी, व्यक्तिगत पराधीनता बढ़ गई, और इन कारणों से जीवन कष्टमय होगया। ऐसी स्थिति में कारख़ानेदार श्रीमानों के विरुद्ध चिल्लाहट मचने लगी। इन लोगों ने इस चिल्लाहट को बढ़ाने में अपने कार्यों द्वारा साथ दिया। चाहे जितने घंटे काम लेना, कोड़ों से मारना, ठीक खाने को न देना, स्त्रियों पर अत्याचार करना, स्त्री-पुरुषों को एक ही कोठे में जानवरों की नाईं भर देना, सोने का ठीक प्रबन्ध न करना, न उचित निद्रा लेने देना, इत्यादि इत्यादि अनेक कष्ट मज़दूरों को दिये गये। अन्त में कुछ परोपकारी लोगों की इन अनेक बुराइयों की ओर दृष्टि गई और इन लोगों ने कमर कसी। इन बुराइयों को दूर करने के लिए अनेक क़ायदे बने। काम के घंटों की संख्या नियत हुई, सफ़ाई वग़ैरः का इन्तज़ाम हुआ, स्त्रियों और बच्चों से चाहे जहाँ काम लेने से रोक दिया, और इस प्रकार नई औद्योगिक उन्नति की बुराइयों को सुधारने का प्रयत्न किया गया। तथापि आर्थिक विषमता में कोई कमी न हुई। प्रत्युत, नये यन्त्रों और आविष्कारों के कारण

श्रीमानों की श्रीमन्ती बढ़ती ही गई। इस श्रीमन्ती का प्रत्यक्ष कारण वे विशाल कारख़ाने थे। इसलिए कुछ लोगों की दृष्टि इनकी ओर झुकी। उनके मन में यह विचार पैदा हुआ कि यदि इन कारख़ानों पर सरकारी हक़ हो जाय तो कुछ लोग इतने श्रीमान् न रहेंगे। मज़दूर लोगों का वेतन बढ़ जावेगा और उनकी स्थिति सुधर जावेगी। विशाल कारख़ानों के कारण फिर उनके साथ अन्याय न होगा। ऐसे ही विचारों से धीरे धीरे साम्यवाद पैदा हुआ।

२. कोई इस पर प्रश्न कर सकता है कि 'आर्थिक विषमता ने ही इतनी गड़बड़ी क्यों पैदा की? बुद्धि, शील, सौन्दर्य, बल इत्यादि बातों में भी सब लोग समान नहीं होते, फिर आर्थिक विषमता से ही इतनी खलबली क्यों? शायद इसमें ईर्ष्या का भाग हो।' हाँ, इसमें थोड़ा-बहुत भाग ईर्ष्या का हो सकता है। परन्तु सब ही नहीं। सब ही यदि ईर्ष्या का परिणाम होता तो शिक्षण और नैतिक उन्नति से वह दूर किया जा सकता। परन्तु उसका दूर करना क़रीब क़रीब असम्भव है। इसका सबसे प्रधान कारण यह है कि यह विषमता मनुष्यकृत है, नैसर्गिक नहीं। बुद्धि, बल, सौन्दर्य इत्यादि बातें बहुत कुछ माता-पिता आदि से प्राप्त होती हैं। परन्तु विशाल कारख़ानों के कारण होनेवाली विषमता नैसर्गिक नहीं है। मनुष्य चाहे तो उसे दूर कर सकता है। इतना ही नहीं वरन इन विशाल कारख़ानों के कारण होनेवाली विषमता का परिणाम बहुत ही अधिक है। बुद्धिबल आदि बातों में लोगों में इतनी विषमता नहीं है। दोनों प्रकार की विषमता का अनुपात बराबर नहीं होता। नैतिक और बौद्धिक गुणों का प्रमाण जितना नहीं, उतना श्रीमानों के पास धन की अधिकता का प्रमाण हो जाता है। इस कारण लोगों में असन्तोष फैलना बहुत ही स्वाभाविक बात है। आर्थिक विषमता से लोगों में असन्तोष फैलने का तीसरा कारण यह है कि उससे लोगों को अनेक प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ती हैं। कोई बुद्धि या बल में दूसरे

किसी से अधिक रहा, तो इतनी हानि न होगी। परन्तु धन में अधिक रहा तो वह समाज में अनेक दृष्टि से बढ़ जावेगा। इतना ही नहीं बरन दूसरे पुरुषों के सहारे अपना धन बढ़ाता रहेगा। क्योंकि निर्धन तो सदा आर्थिक पराधीनता में पड़ा रहेगा। दूसरे के श्रम से यदि कोई श्रीमान् हो तो उन दोनों में अच्छे भाव नहीं रह सकते। यही बात कारखानेदार और मज़दूरों की है। इस आर्थिक विषमता के कारण कारखानेदार को अनेक फ़ायदे हैं। उसे खानेपीने की, रहने-बसने की, ख़ूब सामग्री प्राप्त होती है। इसलिए स्वास्थ्य अच्छा रहता है। वे दीर्घायु हो सकते हैं। उसे अधिक शिक्षा प्राप्त हो सकती है। अधिक राजकीय अधिकार मिल सकते हैं क्योंकि बहुत से अधिकार धन के प्रमाण पर भी अवलम्बित रहते हैं, धनी पुरुष धन के सहारे दूसरों को अपने वश में कर सकता है, नाना प्रकार की कलाओं से आनन्द उठा सकता है, और उसका धार्मिक और नैतिक जीवन अच्छा बना रह सकता है। ये सब बातें ग़रीब को प्राप्त नहीं होतीं। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति'* तो इधर 'दारिद्यमेकं गुणकोटिहारि।'† धन का प्रभाव इस संसार में इतना सर्वव्यापी और इतना स्पष्ट है कि वह प्रत्येक को जँचता है। आर्थिक विषमता से असन्तोष उत्पन्न होने का एक और कारण है। समाज, क़ायदा, राजकीय अधिकार आदि में बहुत कुछ समानता है। शिक्षा से बौद्धिक विषमता कम हो रही है, परन्तु आर्थिक विषमता बनी हुई है। इस कारण वह ख़ूब चुभने लगी है। अतः आर्थिक समता के लिए लोगों का प्रयत्नशील होना नितान्त स्वाभाविक बात है। धन के कारण अमुक हीराचन्द राजा की पदवी पाये हैं, तो धन के अभाव के कारण बिचारे गोपालदास की सारी बुद्धि नष्ट हो रही

---

* सब गुण काञ्चन में ही आ बसते हैं।

† अकेली दरिद्रता के कारण कोटिगुण भी नष्ट हो जाते हैं।

है और बार बार बीमारियों के झमेले में पड़ता जाता है और इस प्रकार आरोग्यता खोता जाता है। फिर, हीराचन्द की श्रीमन्ती ग़रीब गोपालदास से कैसे देखी जाय? फिर तुर्रा यह है कि हीराचन्द ने ख़ुद अपना धन नहीं कमाया तो उसने अपने बाप से पाया। इधर ग़रीब गोपालदास अपनी बुद्धि के बल पर शिक्षा पाता गया परन्तु धनाभाव के कारण पराधीन ही बना रहा। उसकी सारी बुद्धि, शिक्षा और श्रम बे-काम हो रहे हैं! साम्यवाद की उत्पत्ति ऐसी ही स्थिति में होती है।

३. साम्यवाद के सब उपायों के चार भेद किये जा सकते हैं। (१) समाज के धन का प्रत्येक को बराबर बराबर हिस्सा मिले, (२) प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार धन मिले, (३) प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार धन मिले और (४) प्रत्येक को उसके श्रम के अनुसार धन मिले। इन चारों उपायों का और उनके प्रतिपादक साम्यवादी पन्थों का अब हम विचार करेंगे।

धन के बराबर बँटवारे का प्रश्न योरप में प्राचीन काल में उठा था। ज़मीन लोगों में बराबर बराबर बाँटी गई थी। परन्तु थोड़े ही काल में विषमता उत्पन्न हो जाती और फिर से बँटवारा करना पड़ता। इसी बात से स्पष्ट है कि समता की यह रीति कभी नहीं बनी रह सकती। धन का समान विभाजन केवल बालिश बात है। कुछ इने-गिने लोगों में भले ही यह चल सके, परन्तु अधिक लोगों में यह असम्भव बात है। परन्तु यह कल्पना किसी न किसी रूप में सब देशों में बनी रहती है। लोगों की समझ है कि धनी लोगों का धन यदि ग़रीबों को बाँट दिया जाय तो उनकी दरिद्रता दूर हो जावेगी। पहाड़ों को फोड़ तोड़ कर पृथ्वी के सब गड्ढे भरने के प्रयत्न जैसी ही यह बात है। पहाड़, उनसे होनेवाले फ़ायदे और उनका सौन्दर्य सब नष्ट हो जावेंगे, परन्तु समुद्र के गड्ढे न भरेंगे। श्रीमानों की श्रीमन्ती और उनके कारण देश को होनेवाले फ़ायदे नष्ट हो जायँगे, परन्तु निर्धनों की निर्धनता न नष्ट होगी। इसके लिए योरप के धनी

देशों में कई लोगों ने गणित करके देख लिया है कि इस रीति से दरिद्रों की दरिद्रता नहीं नष्ट हो सकती। इस रीति से राज्य-विज्ञान में विशेष फ़र्क़ न होगा, इसलिए इसका अधिक विचार करना अनावश्यक है।

४. दूसरा उपाय यह है कि लोग समाज के धन में से अपनी आवश्यकतानुसार लें। धन की मालकियत व्यक्तिगत न रहे। एक देश के धन का मालिक वह राज्य ही रहे, सब धन सरकारी रहे, उसमें से लोग अपनी अपनी आवश्यकतानुसार लिया करें। क्या एक कुटुम्ब में ऐसा नहीं होता ? फिर राज्य में क्यों असम्भव है ? इस मत के प्रतिपादकों को हम समाज-कुटुम्बी या समष्टिपन्थी कहेंगे।

इस पन्थ से राज्य-विज्ञान का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है। इसमें व्यक्तिगत मालमता है ही नहीं। इसलिए व्यक्तिगत मालमता के लिए आवश्यक क़ायदे और आवश्यक संस्थायें न रहेंगी। आधे से अधिक क़ायदे प्रत्येक देश में व्यक्तिगत मालमता के विषय में बने रहते हैं। न्याय-विभाग और अमल-विभाग का बहुत सा काम व्यक्तिगत मालमता की रक्षा से सम्बन्ध रखता है। सारांश, राज्य के आधे से अधिक काम व्यक्तिगत मालमता के कारण उत्पन्न होते हैं। व्यक्तिगत मालमता नष्ट होते ही राज्य का स्वरूप, उसका सङ्गठन और उसके कार्य बदल जावेंगे। लोगों को फिर दूसरे ही राज्य-विज्ञान का विवेचन करना होगा।

धन के सम-विभाजन की यह पद्धति देखने में बड़ी सुन्दर है। इसका प्रतिपादन प्लेटो जैसे दार्शनिक ने भी किया था। उसके मत के अनुसार सबसे उत्तम राज्य वही है कि जहाँ शासकों और सैनिकों की कोई व्यक्तिगत बात है ही नहीं। न कोई उनकी चीज़ है, न कोई उनकी स्त्री है, न कोई उनका बालक है, न उनमें से कोई किसी का पिता है। उनकी सब चीज़ें राज्य की ! सब स्त्रियाँ राज्य की ! सब बालक राज्य के ! और सबका पालक राज्य ही ! क्या ही मज़ेदार बात है ! परन्तु इसमें मनुष्य-स्वभाव का विचार नहीं है। मनुष्य का बिलकुल

नैसर्गिक स्वभाव है कि वह चीज़ों पर 'मेरी मेरी' का आरोप करता है। जब तक वस्तुएँ व्यक्तिगत नहीं होतीं, तब तक उनकी कोई परवाह नहीं करता। जो बालक सबके हैं और जो स्त्रियाँ सबकी हैं, उनकी पूरी खबरदारी कोई क्यों कर लेगा? राजकीय सम्पत्ति में से चाहे जितना लेने को हर कोई तैयार रहेगा, परन्तु क्या उसे बढ़ाने में सब कोई श्रमशील होंगे? क्या सब लोग इस सम्पत्ति को बढ़ाने में आवश्यक श्रम, समय और बुद्धि लगावेंगे? मनुष्य-स्वभाव को देखते ऐसा नहीं जान पड़ता। जल्द ही झगड़े खड़े होंगे। 'तुम मेहनत नहीं करते, इसलिए तुम्हें खाने का कोई अधिकार नहीं।' 'तुम बेपरवाह हो इसलिए तुम राजकीय सम्पत्ति में हाथ नहीं लगा सकते।' ऐसे ऐसे कई कलह होंगे और ऐसा खयाली राज्य एक दिन भी न चल सकेगा। भला, प्लेटो का खयाली राज्य एक ओर रख दो और कहो कि केवल मालमता ही राज्य की रहे, स्त्रियाँ वगैरः जिसके उसके रहें। फिर, व्यक्तिगत जायदाद के लिए एक-दम जगह बन गई। व्यक्तिगत परिवार, परन्तु मालमता राज्य की हो, तो बड़ी अन्धेरनगरी मच जावेगी। ऐसी लूट मच जावेगी कि एक दिन में राज्य का दिवाला निकल जावेगा। सारांश, समाज का न स्त्रियों-बच्चों की बात में न मालमता के विषय में एक कुटुम्ब हो सकता है। इस कल्पना के अमल में आने की किसी तरह सम्भावना नहीं है और इसलिए राज्य का स्वरूप या उसका सङ्गठन और कार्य एकदम बदल डालने की आवश्यकता नहीं है ऐसा राज्य केवल असम्भव बात है। छोटे मोटे दल हो सकते हैं कि जहाँ कुछ काल के लिए मालमता की समता स्थापित हो जाय। परन्तु स्मरण रहे कि वितरण के लिए एक सर्वोच्च अधिकारी की आवश्यकता होगी। तिस पर भी सब असन्तोष दूर न होगा—कुछ लोग किन्हीं न किन्हीं कारणों से असन्तुष्ट बने ही रहेंगे।

९. शेष दो उपायों का समावेश एक ही पन्थ में हुआ है। इस पन्थ का निर्माता सेंट सायमन था और इस कारण इसे सेंट सायमन-पन्थ

कहते हैं। ये लोग 'योग्यता' पर बड़ा ज़ोर देते थे। इनका ब्रीद था कि 'प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार द्रव्य मिलना चाहिए और योग्यता की जांच काम से होनी चाहिए।' इससे स्पष्ट है कि ये लोग आर्थिक विषमता के विरुद्ध पूरे पूरे न थे। ये चाहते थे कि लोगों में जो आर्थिक विषमता रहे वह योग्यता के अनुसार रहे और योग्यता की जाँच काम से हो। सब धन्धे, सब रोज़गार, सब कारखाने सरकार के रहें और प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार काम दिया जाय और तदनुसार सरकार उन्हें वेतन दे। यह स्पष्ट है कि इस रीति को अमल में लाने से उत्पत्ति के सारे मानवी कार्य सरकारी हो जाते हैं और उनके लिए सरकार को बड़ी भारी श्रेणिबद्ध नौकरशाही रखनी पड़ती है; या यों कहो कि प्रत्येक मनुष्य श्रेणिबद्ध नौकरशाही का एक अङ्ग हो जाता है। यह भी स्पष्ट है कि यहाँ वंशपरम्परागत यानी पुरखौती जायदाद का नाम-निशान न रहेगा। इसलिए आर्थिक विषमता और भी कम हो जावेगी। परन्तु यह भी कल्पना केवल ख़याली है, वह कभी प्रचार में नहीं आ सकती। इस रीति को अमल में लाने से असन्तोष कम हो जाने की सम्भावना है, आर्थिक विषमता कम हो सकती है, तथापि सभी प्रकार की विषमता दूर नहीं हो सकती। माता-पिता के अनुसार बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक विषमता तो बनी ही रहेगी; परन्तु सामाजिक विषमता भी बनी रहेगी। माता-पिता के अनुसार समाज में दर्जा मिलेगा, शिक्षा आदि के साधन मिलेंगे और इस प्राप्त योग्यता के कारण पहले की विषमता बहुत काल तक चालू रहने की सम्भावना है। तथापि सबसे भारी आक्षेप यह है कि सम्पत्ति के उत्पादन का काम ठीक न होगा। जिस दुनिया में थोड़ा काम करके बहुत बताने की और दिखलाने की रीति है, वहाँ अच्छे काम की आशा करना वृथा है। चोरी वग़ैरः रीति से राज्य का जो आर्थिक नुक़सान होगा, वह अलग ही रहा। लोभ को पूर्ण करने के मौक़े मिलने पर और श्रम बचाने के अवसर देखने पर कुछ

परोपकारी और नेकनीयत जीवों को छोड़ दें तो ऐसा कौन होगा कि जो अपना लोभ दबाता रहे और लोक-हितार्थ श्रम करता रहे। सारांश, धन के विभाजन की विषमता दूर करने के ये भी उपाय असम्भव नहीं तो अव्यावहारिक अवश्य हैं। जिन कार्यों में समान नियम बना देने से काम चल सकता है, वे ही सरकारी कार्य थोड़े बहुत ठीक होते हैं, अन्य नहीं। उनमें भी जहाँ कहीं चोरी के मौके मिलते हैं, वहाँ चोरी हुए बिना नहीं रहती। परन्तु यह बात व्यक्तिगत कारखानों को भी लागू होती है। इसलिए सरकारी कार्यों का केवल इसी दृष्टि से विचार करना ठीक नहीं। असली बात उत्पादन की है, वही ठीक न होने पर दूसरी बातों का विचार करना आवश्यक नहीं है।

६. समाजकुटुम्बी अथवा समष्टिपन्थ से मिलता-जुलता एक पन्थ और है। इस पन्थ का मत है कि सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधन यानी भूमि और पूँजी पर समाज की यानी राज्य की मिलकियत रहे, ये चीज़ें व्यक्तिगत अधिकार की न रहें। थोड़ी बहुत मालमता पर व्यक्तिगत अधिकार बना रहेगा, परन्तु ये चीज़ें रोज़ के व्यवहार की रहेंगी। वे सरकारी कारखानों में पैदा होंगी और लोग उन्हें मोल ले सकेंगे। इसलिए इन्हें संयुक्तोत्पत्ति पन्थ कहना ठीक होगा।

इस पन्थ की सब ही बातें खयाली नहीं हैं। सामाजिक विकास के स्वरूप की इस पंथ ने जाँच की है। इनका कहना है कि समाज का विकास होते होते स्वाभाविकतया विशाल कारखानों की, और विशाल व्यापार मण्डलों की सृष्टि हुई और इस कारण कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में जायदाद इकट्ठा होते चली। इनके सामने छोटे कारखाने, छोटे व्यापारी और छोटी जायदाद नहीं टिक सकती। इनका नष्ट हो जाना स्वाभाविक है। पहले कुछ न कुछ चीज़ें प्रत्येक घर में पैदा होती थीं, सो अब संयुक्त यानी बड़े बड़े कारखानों में होने लगीं। पहले उत्पत्ति की पद्धति के अनुसार ही सम्पत्ति का विभाजन होता था। जब घरेलू छोटे कारखाने थे, तब थोड़ी थोड़ी सम्पत्ति सब

जगह देख पड़ती थी। परन्तु अब व्यक्तिगत प्रयत्न नहीं चल सकते। अब इन बातों का स्वरूप सदा विशाल होता है। कारखाने, रेलगाड़ियाँ, नहरें, जहाज़ इत्यादि उत्पत्ति के साधन या सहायक सब बड़े बड़े प्रमाण पर देख पड़ते हैं। परन्तु उत्पत्ति के तत्त्वों के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन नहीं होता, विभाजन अब भी व्यक्तिगत तत्त्वों के अनुसार होता है। अब समाज की जो आर्थिक रचना है, उसके अनुसार सम्पत्ति का बँटवारा भी होना चाहिए। जायदाद के क़ायदे और सम्पत्ति को पैदा करने के उपायों में मेल होना अत्यावश्यक है। सार बात यह है कि चीज़ें जिस प्रकार संयुक्त पैदा होने लगी हैं, उस प्रकार उनकी मालकियत भी संयुक्त होनी चाहिए।

समाज-कुटुम्बो या समष्टिवाद और संयुक्तोत्पत्तिवाद में फ़र्क़ अब स्पष्ट होगया होगा। पहले के अनुसार, क्या उत्पत्ति के साधन और क्या उत्पन्न की हुई चीज़ें, सब ही सरकारी जायदाद रहेंगी। दूसरे में केवल साधन-मात्र सरकारी रहेंगे। जो चीज़ें रोज़ के व्यवहार की रहेंगी वे व्यक्तिगत मालकियत की रहेंगी। और वास्तव में देखा जाय तो इस पन्थ का यह कहना नहीं है कि उत्पत्ति के छोटे बड़े सब ही साधन सामाजिक स्वरूप के रहें। उदाहरणार्थ, ख़ुद खेती करनेवाला ज़मीन का मालिक, ख़ुद बोट चलानेवाला धीवर, या ख़ुद छोटी सी यन्त्रसामग्री सुधारने की दूकान का दूकानदार या इसी प्रकार की चीज़ें कोई भी रख सकता है। जब तक ये व्यक्ति के अधिकार में हैं और व्यक्ति-गत कमाई के साधन हैं, तब तक वे व्यक्तिगत बनी रहें। परन्तु जब संयुक्त कमाई होने लग जाय, जैसे कि कारख़ानों में, खानों में, व्यापारी मण्डलों में, हुआ करती है, तो उन पर संयुक्त यानी सामाजिक मिलकियत होना आवश्यक है।

परन्तु उनका यही कहना है कि आगे व्यक्तिगत कमाई के साधन रह ही न जावेंगे, कारख़ानों के समान अन्य सब उत्पत्ति-साधन संयुक्त हो

जावेंगे। समाज की प्रगति ही उस ओर है। और एक समय ऐसा आवेगा कि सब तरह की कमाई एकत्रित होने लगेगी। उस समय उत्पत्ति के व्यक्तिगत साधन लोगों से छीन ही लेने होंगे। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक कार्ल मार्क्स का कहना है कि भविष्य के इतिहास में ऐसा हुए बिना न रहेगा।

उस समय जब उत्पत्ति के साधन समाज के हाथ में चले जावेंगे तब देश की सरकार या तदङ्गभूत स्थानिक स्वराज्य की संस्थाओं के द्वारा उनका प्रबन्ध होगा। जो कुछ पैदा होगा, वह राष्ट्रीय ख़ज़ाने में रखा जावेगा। समाज के साधारण ख़र्चों के लिए आवश्यक भाग निकाल लेने पर बाक़ी मज़दूरों को दे दिया जावेगा और वे उसे आपस में बांट लेंगे। अब प्रश्न रहा कि वे उसे आपस में किस प्रकार बांटेंगे तो इसका उत्तर यह है कि जो जितना श्रम करेगा, जो जितने घंटे काम करेगा, उतना उसको दिया जावेगा। जो बिलकुल काम नहीं कर सकते, उन्हें कुछ न्यूनतम हिस्सा मिला करेगा। इस रीति से आज-कल की आर्थिक विषमता दूर हो जावेगी। क्योंकि थोड़े लोगों के पास धन-संचय का कोई साधन न रह जावेगा। रुपये के पास रुपया जाता है। अधिक रुपया ही न रहेगा तो और भी अधिक आवेगा कहाँ से? धन-संचय के कारण हैं वंशपरम्परा-गत या पुरखौती जायदाद, साहूकारी और मज़दूरों के बल पर की हुई कमाई। इस पन्थ का कहना है कि दूसरों के श्रम से पूँजीपति लोग अधिकाधिक श्रीमान् हुआ करते हैं। परन्तु संयुक्तोत्पत्ति रही तो कौन किसके श्रम से सधन होगा? प्रत्येक को श्रम करना पड़ेगा और इस कारण सब क़रीब क़रीब बराबर ही रहेंगे।

फिर आलसी या 'परान्नभोजी' न बच जावेंगे। जब उत्पत्ति के स्थावर या जङ्गम कोई भी साधन किसी ख़ास एक के रहेंगे ही नहीं, तब सबको श्रम करना ही होगा। ऐसे समय में अत्यधिक श्रम किसी को न करने होंगे। आज आलसी या 'परान्नभोजी' जो खा जाया करते हैं, वह भाग सबमें वितरण हो

जावेगा। दूसरे, उस समय अनुपयोगी या असम्भाव्य चीज़ों को पैदा करने में कोई न लगेगा और इस कारण लोगों को कम श्रम करना पड़ेगा। तीन या चार घंटे ख़ूब काफ़ी होंगे। एक ने तो यहाँ तक कहा है कि केवल एक घंटा बीस मिनट लगेंगे। सबको काम मिल सकेगा, इसलिए कोई निठल्ले न देख पड़ेंगे।

ख़ुद के श्रम से जो कुछ कमावेंगे, उसे चाहे तो कोई किसी को दे देवे, इस बात की मुमानियत न रहेगी। यानी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जैसी की वैसी बनी रहेगी। और न समाज कुटुम्बी-पन्थ के अनुसार यहाँ सबका जीवन एक समान बन जावेगा, क्योंकि यहाँ पर व्यक्तिगत जायदाद बनी ही है।

इस पद्धति को अमल में लाने से राज्य का स्वरूप, उसका सङ्गठन और उसके कार्य सब ही बहुत कुछ बदल जाते हैं। राज्य का काम राजकीय कम, व्यापारिक अधिक हो जावेगा। जान माल की रक्षा करना उसका प्रधान कर्तव्य है, परन्तु उससे कहीं अधिक महत्त्व का काम होगा उद्योग-धन्धों का ख़ुद प्रबन्ध करना। जो काम आज-कल कारख़ानेदारों को या व्यापारीमण्डलों को करने पड़ते हैं, वे सरकार को करने होंगे। फिर, इसके लिए कितने भारी प्रबन्ध की आवश्यकता होगी, यह कह नहीं सकते। उत्पत्ति के साधन सरकारी होने से न्याय, अमल और क़ानून का काम बहुत कम हो जावेगा, परन्तु इन साधनों की रक्षा, उनको बनाना, टूटने-फूटने पर सुधारना, सब साधनों को चलाने का प्रबन्ध करना, इत्यादि नये काम पैदा होंगे। इन कामों के लिए अनेक लोग लगेंगे। इनके श्रम का पुरस्कार किस नियम के अनुसार दिया जावेगा? क्या इन्हें मामूली मज़दूरों की नाईं ही वेतन मिलेगा? परन्तु ये काम तो मामूली मज़दूरों के कामों से बहुत ऊँचे दर्जे के हैं। इनमें केवल शारीरिक श्रम ही नहीं तो बौद्धिक श्रम भी लगते हैं। क्या बौद्धिक और शारीरिक श्रम एक ही कांटे से तौले जावेंगे? ऐसी अवस्था में बौद्धिक श्रम करने के

लिए कौन तैयार होगा ? मूल में ही जिसका प्रबन्ध नहीं, वह इमारत खड़ी ही किस प्रकार होगी। यदि भिन्न न्याय से वेतन दिया जाय तो आर्थिक विषमता उत्पन्न हुए बिना न रहेगी और इस योजना का मूल हेतु ही विफल होगा। किधर से भी जाओ, बचाव कहीं नहीं देख पड़ता। फिर इन प्रबन्ध-कर्ताओं को कौन नियत करेगा ? उनकी योग्यता की जाँच कैसे होगी ? कारख़ानेदारों से पूछने पर पता लग सकता है कि यह कितनी कठिन समस्या है। यह तो हुई सिद्धान्त को ठीक मानने के बाद की बात, परन्तु मूल सिद्धान्त में ही दोष देख पड़ता है। इस पन्थ का कहना है कि धीरे धीरे उत्पत्ति के साधन संयुक्त होते जा रहे हैं और अन्त में वे सारे के सारे संयुक्त हो जावेंगे। खेती इसका बड़ा भारी अपवाद है। इँग्लैंड के कुछ ज़मीनदारों को छोड़ दें, तो सारी जगह ज़मीन के बहुत छोटे छोटे टुकड़े हो रहे हैं। यहाँ तक कि उनमें खेती करना लाभदायक नहीं होता। बड़े कारख़ानों के कारण सब ही छोटे कारख़ाने मर नहीं गये। ऐसा होता तो नये नये मंगठे चलते क्यों ? इतना ही नहीं तो सब देशों में विज्ञान का सहारा लेकर कई नये छोटे छोटे कारख़ाने खुले हैं और अच्छी तरह चल रहे हैं। सब ही बातों में बड़े कारख़ाने छोटों से अच्छे नहीं होते। भलाई-बुराई दोनों में थोड़ी थोड़ी लगी है। उचित जगह पर उचित रीति से चलाने पर छोटे कारख़ाने भी चल सकते हैं और समाज को बहुत भलाई पहुँचा सकते हैं।

इस पन्थ का कहना है कि जो बात धीरे धीरे हो ही रही है, उसे क़ायदा बनाकर जल्दी क्यों न कर डालो। क़ायदा बना लो और लोगों के हाथ से उत्पत्ति के साधन खींच कर सरकार के हाथ में रख दो। परन्तु ये लोग भूल जाते हैं कि इसके लिए सैनिक शक्ति का उपयोग करना होगा और प्रत्येक देश में घोर असन्तोष बना रहेगा। जो सिद्धान्त ही ठीक नहीं, उसके लिए संसार भर में अशान्ति मचाने का क्या काम ? क्या कोई सरकार लोगों की सब उत्पादक जायदाद अपने हाथ में कर सकती

है ? जिस सिद्धान्त को अत्यन्त कम लोग मानते हैं, उसे अमल में लाना असम्भव है ।

इस मत के प्रतिपादकों की एक शर्त और है । जो व्यक्तिगत जायदाद होगी, उसका लोग कमाई करने में उपयोग न करें । नहीं तो लेन-देन और इतर कमाई का व्यवहार होने लगेगा और इस प्रकार की हुई सब योजना कुछ काल में उलट जावेगी और आर्थिक विषमता फिर से प्रस्थापित हो जावेगी । परन्तु इस शर्त को कोई कहाँ तक पालेगा ?

फिर वक्त पड़े राष्ट्रीय कामों के लिए द्रव्य कहाँ से आवेगा ? इस पर वे उत्तर देते हैं कि सरकार अपनी उत्पत्ति का दस बीस सैकड़ा प्रतिवर्ष जमा किया करेगी । इस पर यह उत्तर है कि संसार में ऐसी कोई सरकार नहीं हुई कि जिसने आवश्यकता पड़ने के लिए कुछ धन-सञ्चय कर रखा हो । और आगे होगी, ऐसी आशा भी नहीं दीखती । दूसरे, दस बीस सैकड़ा भाग निकाल रखा ही तो मज़-दूरों की आज-जैसी ही गति होगी । सारे व्यापारी, कारखानेदार आदि के लाभों का जोड़ किया और सारी उत्पत्ति से उसका मिलान किया तो बड़ी कठिनता से वह बीस सैकड़ा निकलेगा । फिर मज़दूरों की दशा सुधरेगी कैसे ?

मज़दूरों के पक्ष से एक और आक्षेप हो सकता है । ऊपर कहा है कि प्रत्येक मज़दूर को वेतन श्रम के यानी घंटे के हिसाब से निश्चित होगा । परन्तु यह तो साधारण अनुभव की बात है कि मज़दूरों मज़दूरों में फ़र्क होता है । कोई एक घंटे में अधिक तो कोई घंटे में कम काम करता है । काम की ओर न देखकर क्या एक घंटे के श्रम की ही ओर देखना उचित है ? ऐसा करने से अनीति का प्रसार होगा और मज़दूर आलसी होते होते अंत में ऐसा समय आ जावेगा कि जब कोई पुरुष कुछ भी काम न करेगा । फिर सब ही काम बराबर दर्जे के नहीं होते । किसी के पाँच मिनट के काम का महत्त्व दूसरे के दस घंटे के

काम के बराबर हो सकता है। सारांश, इस योजना में सरासर अन्याय हुए बिना न रहेगा। इसी का अनुषङ्गी मूल्य-सम्बन्धी प्रश्न है, परन्तु यहाँ पर उसके पचड़े में हम नहीं पड़ना चाहते। सारांश में कह सकते हैं कि ख़याली दुनिया से निकल कर इसके प्रतिपादकों ने जो भी इसे बहुत व्यावहारिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया है, तो भी यह क़रीब क़रीब अव्यावहारिक बात है।

७. और एक तरह का साम्यवाद है, जिसे अराजकपन्थ कहते हैं। इस मत का मुख्य ध्येय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का परिपूर्ण विकास हो। इस दृष्टि से देखने पर अराजकपन्थ व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद का चरम स्वरूप जान पड़ता है। परन्तु मूल में और उपायों में अराजक-पन्थ साम्यवाद से सम्बन्ध रखता है। उनका कहना है कि सब प्रकार की जायदाद, स्थावर या जङ्गम, खर्च की वस्तु हो या उत्पत्ति का साधन हो, व्यक्ति-विकास की रुकावट की जड़ है। क्योंकि जहाँ जायदाद हैं, वहाँ बन्धन हैं। जहाँ बधन हैं वहाँ राज्य की आवश्यकता है। और इसे इन बन्धनों को यानी क़ायदों को प्रवर्तित करना ही होगा। इसलिए यदि व्यक्तिगत जायदाद ही न रही तो इन सब बातों की आवश्यकता ही कहाँ रही? जिसे जितना लगे उतना ले और अपने विकास में लगा रहे। राज्य की आवश्यकता ही क्या है? यह यानी राज्यरूपी संस्था मामूली शान्ति-मूलक उपायों से नष्ट न होगी क्योंकि वह अपने को नष्ट कैसे करने देगी? इसलिए, ये कहते हैं, बारूद और गोले, ख़ून और बलात्कार का अवलम्बन करना ही होगा।

कोई आश्चर्य नहीं कि सब सभ्य समाज इन्हें अपना शत्रु समझती है। और वे भी इस बात को खुल्लमखुल्ला स्वीकार करते हैं। ध्येयों के उच्च होने से ही क्या, उपाय इतने नीच दर्जे के हैं कि कोई भी समझदार पुरुष उनके प्रति सहानुभूति नहीं दिखला सकता। अराजकपन्थ का ज़ोर रूस में बहुत रहा है। वहाँ के शासकों ने व्यक्ति-विकास को क़ायदों से और अपने अमलविभाग-द्वारा इतना जकड़ रखा था कि

कोई आश्चर्य नहीं कि अराजकमत का प्रसार वहाँ बड़े ज़ोर से हुआ और गत रूसी राज्य-क्रान्ति में उसकी परिणति हुई। रूस का राज्य-शासन इस स्थिति के लिए बहुत कुछ ज़िम्मेदार है।

८. यहाँ तक तो हमने साम्यवाद के ऐसे भिन्न पन्थों का वर्णन किया, कि जो कभी अमल में नहीं आये। हाँ, उनका लोगों के विचारों पर परिणाम अवश्य हुआ और सब देश के शासकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि इस विषमता को दूर करने के कुछ उपाय करने ही होंगे। ऊपर बतला ही चुके हैं कि नई औद्योगिक पद्धति की कुछ बुराइयों को रोकने के कुछ उपाय प्रत्येक देश की सरकार को करने ही पड़े। कहीं कहीं मज़दूरों का न्यूनतम वेतन भी क़ायदे से निश्चित होगया। परन्तु इतने से ही सब बुराइयाँ दूर न हुईं, न आर्थिक विषमता यथेष्ट प्रमाण में कम हुई। असन्तोष के लिए यथेष्ट कारण अब भी बने ही हैं। इसी कारण ऊपर बतलाये अनेक पन्थ देश-काल के अनुसार स्थान स्थान पर उत्पन्न हुए। कुछ लोगों ने इसके प्रतिबन्धक उपाय सोचे। इन्हीं में से प्रिंस बिस्मार्क एक है। इसी महापुरुष ने जर्मन-साम्राज्य की सृष्टि करवाई और जर्मनी को एक भारी सत्ता बना दिया। 'राज्यमूलक साम्यवाद' का अवलम्बन करके बढ़ते हुए असन्तोष को इसने भली भाँति रोक दिया। इस पन्थ का असली लेखक वागनर था और यह प्रिन्स बिस्मार्क का सलाहकार था। इसलिए जर्मनी में इस मत का बहुत अमल हुआ।

लोगों में हितैक्य और प्रेम पैदा करना, अन्याय को रोकना, सम्पत्ति का विभाजन यथासम्भव समता और न्याय के अनुसार करना और सब लोगों की आर्थिक दशा सुधार कर समाज की उन्नति करना इस पन्थ का ध्येय है। सरकार को अपने कर्तव्यों की पहले की सङ्कुचित कल्पना छोड़ देनी चाहिए। नीच वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति पर ध्यान देना सरकार का कर्तव्य है। स्वावलम्बन, सहकारिता और मज़दूर-सङ्घों को अवश्य उत्तेजना दी जाय, परन्तु इतने से काम

न चलेगा। मज़दूरों की स्थिति सुधारने की प्रत्यक्ष प्रयत्न सरकार को करना चाहिए। उनके काम का समय नियत करना, छुट्टी का प्रबन्ध करना, कारख़ानों के लिए क़ायदे बनाना, कारख़ानों को हवादार और स्वास्थ्यप्रद बनाने के लिए उनके मालिकों को बाध्य करना इत्यादि इत्यादि बातें सब इस पन्थ को संमत हैं। परन्तु सरकार के कर्तव्य यहीं समाप्त नहीं होते। उसे चाहिए कि वह मज़दूरों को पेन्शन मिलने का, उनका बीमा करने का, बीमारी या अपघात की अवस्था में उनके पेट-पानी का भी प्रबन्ध करे। यदि कोई धन्धा किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथ में चला जाने से मज़दूरों पर अन्याय या ज़ुल्म हो तो उसे सरकार अपने हाथ में ले ले। जङ्गल वग़ैरः जैसी चीज़ों पर सरकार की मिलकियत रहे। मौरूसी किसान बढ़ें और वे अपनी ज़मीन के पूरे मालिक रहें। शहरों में ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार न रहे। वह मुनिसिपालिटी के हाथ में रहे। नहीं तो ग़रीब लोगों को रहने के लिए ठीक मकान न मिलेंगे। रेल, नहर इत्यादि सरकारी रहें। मिट्टी का तेल, नमक, कोयला आदि भी सरकारी रहें।

इस पन्थ का योरप में अधिक प्रचार हो रहा है। इसमें अशान्ति के उपाय नहीं हैं, लोगों को अधिक सुभीते मिलने की सम्भावना है, कर का बोझ हलका होने की आशा है, और लोगों पर अन्याय होने का डर कम है। इससे राज्य का स्वरूप कुछ मा-बाप जैसा तो कुछ व्यापारी जैसा होता है। इसके लिए राज्यसङ्गठन में कुछ और संस्थायें जोड़नी होंगी, परन्तु मूलविभागों में कोई विशेष परिवर्तन न होगा। हाँ, उनका काम अवश्य बढ़ जावेगा। व्यवस्थापक-विभाग को बहुत से क़ायदे बनाने पड़ेंगे, न्यायविभाग को भी न्याय का काम कुछ अधिक ही करना होगा, और अमल-विभाग को सबसे अधिक काम करना पड़ेगा।

९. इसके अलावे, लोगों में समता प्रस्थापित करने का उपाय ख़ुद लोगों के हाथ में ही हैं। कमाई के साधन या वितरण के, दूकान आदि,

यदि खुद लोग मिल जुलकर खड़े करें तो कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में इकट्ठा होनेवाली सम्पत्ति अधिक लोगों में बँट जाया करेगी। बीच के दलालखोर कम हो जावेंगे और माल सस्ता पड़ेगा। सहकारिता के तत्त्वों ने साम्यवाद के खयाली, अव्यावहारिक और क्रान्तिकारक मतों का प्रसार रोकने में खूब सहायता दी है। आर्थिक विषमता की समस्या को कुछ अंश तक सहकारिता ने अवश्य हल किया है। जीवन के सब आर्थिक कामों में सहकारिता का उपयोग हो सकता है और लोगों में समता प्रस्थापित होकर राज्य के विरुद्ध असन्तोष पैदा होने के बदले उससे प्रेम पैदा हो सकता है। इस उपाय का असली सम्बन्ध अर्थ-विज्ञान से है, राज्यविज्ञान से नहीं। क्योंकि इसके अमल से राज्य के स्वरूप या सङ्गठन या कार्यों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है। सहकारिता लोगों का प्रश्न है और यथासम्भव राज्य-सत्ता के हस्तक्षेप बिना ही उसका प्रचार होना आवश्यक है। जहाँ कहीं सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता हुई है, वहाँ यथासम्भव यह हस्तक्षेप न्यूनतम ही रहा है और सरकार सदा इस बात को सोचती रही है कि उचित अवसर पर यह भी दूर कर दिया जाय। अन्यथा, सहकारिता से होनेवाले अनेक फ़ायदे लोगों को न प्राप्त होंगे।

सत्ताइसवाँ परिच्छेद

आधुनिक राज्य और उनकी गति

१. गत तीन परिच्छेदों में हमने सरकार के कर्तव्य कर्मों का विवेचन किया। कई स्थानों पर हमने दिखला दिया है कि प्राचीन काल में सरकार के इतने अधिक कर्तव्य न थे। प्राचीन काल में क़ायदे बनाने का काम सरकार को न करना पड़ता था। न्याय का भी बहुत सा काम लोगों के हाथ में था। क़ानून-क़ायदे बहुत कम थे और सरकारी हुक्म भी कम निकलते थे। जीवन बहुत ही सादा था। इस कारण अमल का भी काम कम करना पड़ता था। सरकार का सबसे भारी काम उस समय देश की रक्षा का था। इसी कारण सैनिक योजना ही सरकार को विशेष करनी पड़ती थी। शिक्षा लोगों के हाथ में थी। सरकार यानी राजा लोग दान धर्म करके शिक्षा और विद्या को केवल उत्तेजन देते थे। क्या पढ़ाना, कैसे पढ़ाना, कहाँ पढ़ाना, कौन पढ़ावे, इत्यादि प्रश्नों से सरकार को कुछ भी न करना पड़ता था। देश में शान्ति रही तो ये काम लोग स्वयं अच्छी तरह कर लेते थे। आवागमन के साधनों का विशेष प्रश्न था नहीं। जो कुछ थे, उस पर क़रीब क़रीब लोगों का ही अधिकार था। कर बहुत कम; असली कर भूमिकर था। यानी सरकारी आय-सम्बन्धी काम भी बड़े सरल थे। लोगों के उद्योग-धन्धों में सरकार को विशेष हस्तक्षेप न करना पड़ता था। सारांश, ज़िन्दगी बड़ी सादी और सरल थी। इस कारण राज्य को बहुत ही कम काम करने पड़ते थे।

धीरे धीरे लोक-संख्या बढ़ी, ज़िन्दगी के नये नये प्रश्न उत्पन्न हुए, लोगों की रक्षा और भलाई के लिए सरकार को भी नये नये काम

अपने ऊपर लेने पड़े और इस तरह सरकार का काम धीरे धीरे कठिन और पेचीदा हो चला। उसी के साथ साथ राज्य के नये नये अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी पैदा हुए। सरकारी अङ्गों के काम विशिष्ट होने लगे और इस प्रकार श्रम-विभाजन का तत्त्व यहाँ भी लागू होने लगा। अब राजकीय संस्थाओं का विकास इतना अधिक होगया है कि प्रत्येक अङ्ग के बहुधा एक कार्य और प्रत्येक कार्य के लिए बहुधा एक अङ्ग यानी एक विशिष्ट संस्था या सङ्गठन देख पड़ता है। इससे यह स्पष्ट है कि जीव-सृष्टि के विकास का नियम राज्यों को भी बहुतांश में लागू होता है। सब ही देशों में इतना नियमबद्ध विकास हुआ, ऐसा हम नहीं कह सकते। कहीं कहीं, जैसे कि हिन्दुस्थान में, विकास का क्रम बहुत काल तक रुका रहा। कहीं कहीं, विकास बहुत काल के बाद देख पड़ा है। कहीं कहीं, बाहरी परिणामों के कारण विकास के कुछ क्रम छूट गये या कुछ क्रमों में से राज्य को बहुत ही जल्द गुज़रना पड़ा है। तथापि मोटी तरह से कह सकते हैं कि राज्यों का भी विकास बहुत कुछ जीव-सृष्टि की नाई हुआ है। हां, कहीं जल्द तो कहीं देरी से। कहीं आन्तरिक शक्ति का प्रभाव अधिक रहा है, तो कहीं बाहरी प्रभावों का परिणाम अधिक। कहीं सारे के सारे क्रम देख पड़ते हैं, तो कहीं कुछ छूट गये हैं या छूट जाते हैं। जीव-सृष्टि में देखने से पता लग सकता है कि किसी जीव का स्वरूप, उसकी रचना और उसके कार्य परस्पर पर बहुत कुछ अवलम्बित हैं। स्वरूप के साथ संगठन और कार्य भी पेचीदा होते गये हैं। ऊपर दिखला चुके हैं कि यही बात राज्य की हुई है। परन्तु स्मरण रहे कि वैज्ञानिकों की दृष्टि बड़ी दूर तक पीछे ही नहीं तो आगे भी जाती है। आज जीव-सृष्टि में मनुष्य सर्वोत्तम है। परन्तु कह नहीं सकते कि विकास यहीं रुक जावेगा। वैज्ञानी लोग इतना तो अवश्य मानते हैं कि मनुष्यों के भी वर्गीकरण हो सकते हैं। नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक दृष्टि के भेद मनुष्य मनुष्य में ही नहीं, तो एक क़ौम में और दूसरी क़ौम में हैं। किसी क़ौम या व्यक्ति का

नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक विकास कम तो किसी का अधिक हुआ है। आज के राज्यों में बहुत कुछ समानता होने पर भी उनमें आपस में भेद भी हैं। कोई अधिक परिपूर्ण तो कोई कम विकसित देख पड़ते हैं। और कोई कह नहीं सकता कि यहां ही विकास की चरम-सीमा पहुँच गई है। न जाने आगे उनका कौन सा स्वरूप हो। या जीव-सृष्टि के कुछ जीवों के अनुसार यह भी शक्य है कि ये राज्य न टिकें और आज के अपूर्ण राज्यों का आगे चलकर किसी भिन्न रीति से विकास हो। साम्यवाद के जो अनेक प्रश्न हैं और जो आज किसी को सम्भवनीय नहीं जान पड़ते, वे शायद कभी किसी प्रकार हल हो जायँ। सैबेरिया के मैमथ हाथी के समान आज के साम्राज्यों का कुछ काल के बाद पता ही न चले और नवीन परिस्थिति के अधिक अनुकूल जीवों की सृष्टि हो जावे। विकासवाद का तत्त्व अनुकूलता है, विशालता नहीं। इसलिए, ऐसा मानना कि राज्यों का परिपूर्ण विकास हो चुका, अज्ञान-दर्शक और अहम्भाव-परिप्लुत है।

२. हमारे कथन की सत्यता जांचने के लिए पाठकगण तीन परिच्छेदों के कथनों से निम्नलिखित अवतरणों की तुलना करें। एच० जी० वेल्स नामक एक साम्यवादी ने साम्यवाद पर एक पुस्तक लिखी है। उसने साम्यवाद को बहुत व्यावहारिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया है। यदि हम सारी पुस्तक का सारांश देते तो हमारे कथन की सत्यता बहुत कुछ जँच जाती। परन्तु ऐसा करने से हमारा विषय बहुत बढ़ जावेगा। इसलिए हम उक्त लेखक के केवल दो सिद्धान्तों को यहां जैसे के तैसे दिये देते हैं।

"आज-कल दुनिया ने माता-पिता के व्यक्तिगत अधिकारों और अपने बालकों के लिए उनकी ज़िम्मेदारी को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा डाला है। असावधान, अयोग्य, स्वार्थी अथवा दुष्ट माता-पिताओं से बालकों की हम ठीक रक्षा नहीं करते। और न हम अच्छे मा-बापों को यथेष्ट सहायता और उत्तेजना ही देते हैं। मातृत्व या पितृत्व का अधिकार

बिलकुल व्यक्तिगत माना जाता है और कुटुम्ब की (सामाजिक) ज़िम्मेदारी बहुत कम है। इसका परिणाम यह होता है कि अनशन, क्लेश और दुःख बहुत ही बढ़ गये हैं; और जो कोई बालक ज़िन्दे रह जाते हैं, वे वामन मूर्ति दुबले पतले निकलते हैं और ठीक शिक्षा नहीं पाते। अच्छी समाज-रचना से जैसा बल, शिक्षा और सौन्दर्य वे पाते, वैसा वे नहीं पा सकते।

"साम्यवादियों का कहना है कि इन बातों के लिए सारा समाज ज़िम्मेदार रहे। समाज में जितने बालक पैदा होते हैं उन सबके पालन-पोषण की जवाबदारी समाज के प्रत्येक मनुष्य पर रहे, चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित, सुपुत्र हो या कुपुत्र। इस बात की सारी जवाबदारी जनक-जननी, शिक्षक या पालक पर भले ही सौंप दी जाय, परन्तु राज्य का यानी सङ्गठित समाज का यह अधिकार ही नहीं तो कर्तव्य है कि ये लोग जब कभी अपने कामों में असावधानी करें तो राज्य बालक की भलाई की दृष्टि से पूछ पाछ करे, सूचनायें दे और हो सके तो हस्तक्षेप भी करे।

"सन्तति की उत्पत्ति करना संसार के प्रति केवल कर्तव्य ही करना नहीं तो सेवा भी करना है। इसके कारण व्यक्ति पर केवल जवाबदेही ही नहीं आती तो सारे समाज पर उसे कुछ अधिकार भी प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार राज्य की अन्य चाकरी के लिए वेतन आदि मिलता है, उसी प्रकार इसके लिए भी मिलना चाहिए। उसके लिए पालन-पोषण, पुरस्कार और नियमन की अत्यन्त आवश्यकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि सरकार के ये कार्य माता-पिता के प्रेम, अभिमान और विवेक-बुद्धि का स्थान ले लें। नहीं, सरकारी कार्य इनको सहायता और उत्तेजना दें और जब आवश्यकता ही पड़े तब सरकार इनको अपने हाथों में ले*।"

---

*H. G. Wells : New Worlds for old pp. 53-55.

इसके लिए दूसरे सिद्धान्त के रूप में आपने उपाय भी बतलाये हैं:—

"वस्तुओं की मिलकियत और मालिकों के हकों की कल्पनाओं को आज-कल की दुनिया ने अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा डाला है। क्या ज़मीन को, क्या वस्तुओं को, क्या पूर्व लोगों के संचित द्रव्य आदि को, हर एक चीज़ को जायदाद की कल्पना लागू की गई है। परन्तु वास्तव में ये चीज़ें सारे समाज की होनी चाहिए। परिणाम यह हुआ है कि लोगों के कार्यों में बहुत रुकावटें होती हैं और बहुत सी शक्ति नष्ट हो जाती है। लोगों को काम करने के अवसर कम मिलते हैं और उनकी स्वतन्त्रता नष्ट होती है। प्रगति रुक जाती है। और क्लेश, क्रूरता और अन्याय समाज में बहुत बढ़ गये हैं।

"साम्यवादियों का कहना है कि ज़मीन, उत्पत्ति के लिए आवश्यक कच्ची चीज़ें, पूर्व संचित द्रव्य आदि का सारा समाज ही सदैव मालिक रहे। और व्यक्तिगत जायदाद सदैव के लिए न रहे। वह समाज को फिर से वापस मिल सके और उससे सदा सबका कल्याण हो*।"

३. आज इसमें से बहुत सी कल्पनायें अमल में लाने लायक किसी को नहीं मालूम होतीं। परन्तु गत परिच्छेद में यह भी दिखला चुके हैं कि इनमें से कुछ कल्पनायें सारे जगत् को स्वीकार हो चुकी हैं और तदनुसार अमल भी हो रहा है। हमारा हिन्दुस्थान भी उसी ओर जा रहा है। अँगरेज़ों ने जब यहां शासन प्रारम्भ किया तब बड़ी भारी अशान्ति थी। इस कारण सरकार को बहुत से काम अपने सिर पर बिना जाने ही ले लेने पड़े। धीरे धीरे उसके काम इतने अधिक होगये कि पृथ्वी के अन्य शासनों की अपेक्षा यहाँ का शासन साम्यवाद के बहुत अधिक तत्त्वों को ग्रहण कर चुका। जिस समय योरप में आवागमन के साधनों

*Vide ibid the 88-89.

का प्रचार लोगों द्वारा करने का प्रयत्न हो रहा था, उसी समय ये सारे के सारे प्रश्न सरकार ने अपने सिर पर ले लिये। भूमि के विषय में यहाँ आज जो कल्पना बाक़ायदा अमल में आती है, वह यहाँ सदा से ही रही। भूप, भूपति, महीपति, पृथ्वीपति आदि पर्यायवाची शब्द इस कल्पना के पूरे साक्षी हैं और इतिहास में इस कल्पना के अनुसार सदा अमल हुआ है। शिक्षा का प्रश्न इसी प्रकार हल हुआ। बीच में लोगों पर कुछ भार डालने का प्रयत्न अवश्य किया गया, परन्तु कई कारणों से लोगों ने अन्य देशों की नाईं इस विषय में आवश्यक काम नहीं किया। वे सरकार की ही ओर अधिक देखते रहे। अब प्रत्यक्ष सरकार से और लोगों से आवाज़ उठ रही है कि शिक्षा की समस्या को हल करने का भार सरकार पर ही रहे। बाहरी विचारों का भी इसे ज़ोर मिल रहा है। लोक-हित के बहुत से क़ायदे यहाँ बन चुके हैं। और अभी अभी सरकार ने संरक्षण नीति का, किसी भी कारण से क्यों न हो, थोड़ा बहुत अवलम्बन करके यह दिखला दिया है कि यह भी शासन जगत्प्रलय के साथ बहे बिना न रहेगा। मनुष्य स्वार्थ-मूलक है और हाब्स का कथन बहुत कुछ सत्य है कि राज्य की नींव आख़िर को स्वार्थ-मूलक है। स्वार्थों स्वार्थों में विरोध होना स्वाभाविक बात है और हिन्दुस्थान और इँग्लैंड इस नियम के अपवाद नहीं हैं। इसलिए कहीं कहीं यहाँ की सरकार उचित दिशा में जाने से रुकी रही, परन्तु जगत् की शक्तियाँ इतनी बलवती हैं कि उनके सामने टिकना बड़ा कठिन कार्य है। जो लोग पहले से ही इन शक्तियों को पहचान कर कार्य नहीं करते, वे केवल प्रगति को रोकने का प्रयत्न करते हैं, अपनी और समाज की शक्तियों को व्यर्थ खर्च करते हैं। निदान, सबको उसी प्रवाह में बहना ही पड़ता है। हिन्दुस्थान का अर्वाचीन राजकीय विकास बहुत देरी में प्रारम्भ हुआ और उसके मार्ग में अनेक कृत्रिम रुकावटें भी हैं। तथापि बाधाओं की संख्या दिनोंदिन कम हो रही है। और अब हम बीच प्रवाह के नज़दीक आ चुके हैं। इसलिए स्मरण रखना चाहिए कि

साम्यवादियों का कहना सर्वथा ही असत्य नहीं है। वास्तव में ये आन्दोलन मनुष्य के राजकीय विकास के परिणामरूपी छोटी परन्तु बलवती धारायें हैं, वे दुनिया को अपनी ओर खींचे बिना नहीं रहेंगी। संसार का मनुष्य की दृष्टि से यही काम है कि वह इन शक्तियों को पहचाने और सोच समझ कर काम करे। प्रकृति और पुरुष का झगड़ा यहाँ भी चला हुआ है। प्रकृति बलवती होती है, इसलिए उसकी शक्ति को देखकर पुरुष को भी अपनी तैयारी करनी चाहिए। या ऐसा कहना ठीक होगा कि बहिःप्रकृति और अन्तःप्रकृति में कभी कभी विरोध हो जाता है। इन दोनों का मिलाप होना आवश्यक है। बहुधा वे एक दूसरे को अनुकूल कर लेती हैं और मनुष्य का विकास तदनुसार होता है। बहुधा यह भी देखने में आता है कि बहिःप्रकृति को ही अन्तःप्रकृति के अनुकूल होना पड़ता है। इससे कह सकते हैं कि बहिःप्रकृति अन्तःप्रकृति का साधक है। अन्तःप्रकृति सदैव उच्चगामिनी होती है। इसी से जान पड़ता है कि मनुष्य किसी अस्पष्ट परन्तु अनिवार्य हेतु के लिए प्रयत्न कर रहा है। इसे बहुत ऊँचा नहीं तो नैतिक विकास का ध्येय कहना ही होगा। सारांश, राज्य के कार्यों की चरम सीमा सदा के लिए निश्चित करना असम्भव ही नहीं तो व्यर्थ है। आज के राज्यों के कार्यों का विवेचन हम कर सकते हैं, परन्तु भविष्य का क्षेत्र निश्चित नहीं कर सकते। समय समय पर राज्य के कार्य बदलते ही रहेंगे और लोगों की भिन्न भिन्न प्रकार की स्वतन्त्रता और तद्विषयक कल्पनायें भी बदलती रहेंगी। ग्रीस के राज्यों का आज जब विचार करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि वहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बहुत कम थी। राज्य ही प्रधान ध्येय था, व्यक्ति नहीं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ये विचार हमारे सिर में आज आ रहे हैं। शायद उस समय मनुष्य यही सोचते रहे हों कि उत्तम राज्य का सजीव अङ्ग बनने से ही मनुष्य का परम विकास हो सकता है। अरस्तू के विवेचन में यही हेतु कहीं स्पष्ट तो कहीं अस्पष्ट देख पड़ता

है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का झगड़ा देश-काल से सम्बन्ध रखता है, वह गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार सार्वदेशिय और सार्वकालीन एक समान नहीं देख पड़ता। मनुष्य बहुधा अपने विकास के मार्ग की रुकावटों को दूर करने के प्रयत्न को ही वह स्वतन्त्रता की इच्छा कहता है। व्यक्तिविकास के लिए कभी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की अधिक आवश्यकता होती है, तो कभी सामाजिक सत्ता और समता की। संसार के भिन्न भिन्न देशों में तदनुसार लहरें उठा करती हैं। वैज्ञानिकों को अपारदर्शी होना चाहिए। विज्ञान के विचार के समय छोटी-मोटी बातों में उलझ जाना ठीक नहीं। सारे इतिहास को छोटा सा काल मानना पड़ता है, मनुष्य के ध्येय को स्पष्ट जान लेना होता है और तदनुसार अपना निर्णय करना उसे उचित है। इसलिए, यदि हमसे कोई पूछे कि राज्य के उद्देश क्या हैं तो एक वाक्य में हम यही उत्तर देंगे कि वही जो व्यक्ति के हैं। आखिर को राज्य व्यक्ति के परे नहीं हो सकता। राज्य में व्यक्ति रहता अवश्य है, परन्तु राज्य को व्यक्ति के निश्चित ध्येय के अनुसार ही धीरे धीरे प्रयत्न करना पड़ता है। सारे काल को छोटे छोटे टुकड़ों में बांटें तो व्यक्ति के उसी प्रकार राज्य के उद्देश, समय समय पर भिन्न भिन्न देख पड़ेंगे। परन्तु काल 'अनवच्छिन्न' है, उसके टुकड़े मामूली लोग करते हैं, वैज्ञानिकों को ऐसा करना उचित नहीं। सतत काल की ओर दृष्टि दें तो व्यक्ति और राज्य के उद्देशों में भेद न देख पड़ेगा, वे समान ही जान पड़ेंगे। शासकों को ही नहीं तो शान्त चित्त के विचारकों को चाहिए कि वे इस बात को न भूलें। इसे भूलने से ही राज्य और व्यक्ति में व्यर्थ के झगड़े पैदा होते हैं और मानवी शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है।

शब्दार्थ-तालिका

Abdication राजपदत्याग, सिंहासनत्याग, स्वत्वत्याग ।

Abolition उच्छेद, भंग, लोप; रद्द करना ।

Absolute sovereignty निरङ्कुश राजत्व या राजशासन, या सर्वश्रेष्ठसत्ता ।

Absolutism निरङ्कुशता ।

Accession राज्यारोहण, राजपदप्राप्ति ।

Accusation इलज़ाम, आरोप, अभियोग ।

Act विधान, क़ायदा, क़ानून; कार्य, कृति ।

Active consent सक्रिय, अनुमति ।

Actual प्रत्यक्ष, व्यवहार्य ।

—will प्रत्यक्ष मत या मति ।

Adjournment तह कूर्वा ।

Adjudication न्यायदान, न्यायनिर्णय, न्यायविचार, विचार, न्याय ।

Administration शासन, राज्यशासन, राज्यप्रबन्ध, अमल, सरकार, राज्यसङ्गठन ।

Administrative शासनसम्बन्धी, राज्यसम्बन्धी, सरकारी ।

—Courts शासनविभाग का न्यायालय ।

—Function राज्यशासनकार्य ।

—System राज्यशासनपद्धति, राज्यशासनप्रणाली, शासनपद्धति, शासनप्रणाली ।

Aggregation समूह, दल, समवाय, सभा, परिषद्, एकत्रीकरण ।

Agreement करार, संधि, मेल ।

Alien विदेशी ।
Alienation हस्तान्तरण, व्यधिकरण, विदेशीकरण ।
Allegiance राजभक्ति, प्रजाधर्म ।
Alliance संधि, मेल, मित्रता ।
Allness सर्वस्व ।
Ally मित्र, सहकारी, सहयोगी ।
Altruism परोपकारवाद, उपकृतिवाद ।
Amalgamation एकीकरण, संमेलन, संयोग, संमेल ।
Ambassador दूत, राजदूत ।
Amendment सुधार, परिवर्तन ।
Amercement द्रव्यदण्ड, दण्ड ।
Amphictyony राज्यमण्डल ।
Analogy तुलना, साम्य, सादृश्य, उपमिति, उपमान ।
Anarchism अराजकतावाद ।
Anarchist अराजक ।
Anarchy अराजकता; अनायकत्ता ।
Annexation संमेल, सम्मेलन, संयोग, एकीकरण, खालसा करना ।
Appointment नियुक्ति, नियति ।
Appropriation योजना, विनियोग, व्ययये।जना ।
Arbitration पंचायती, पंचायत, मध्यस्थी ।
Aristocracy कुलीनतन्त्र ।
Aristocratic element कुलीनवर्ग, कुलीनतन्त्रात्मक अंश या भाग ।
Armistice तात्कालिक संधि, क्षणिक संधि ।
Army सेना, फ़ौज ।
—standing स्थायी सेना ।
Armoury शस्त्रागार ।

Assembly सभा, परिषद्, जमायत, समुदायीकरण, मंजलिस, सङ्घ, समाज ।

—legislative व्यवस्थापक-सभा, क़ानून-सभा ।

Assent अनुमति, सम्मति, स्वीकृति ।

Assessment वसूली, करपात, करनिर्धारण, महसूल, जमाबन्दी, लगान।

Association सभा, सङ्घ, सङ्घात, समाज ।

Assumption अङ्गीकरण, अपने हाथ में लेना, स्वाधिकरण ।

Authority सत्ता, अधिकार, अधिकारी, हुक्म, आज्ञा, परवानगी, परवाना, फ़र्मान ।

Autocracy एकसत्ताक राज्य, एकतन्त्र, स्वयंतन्त्र. स्वेच्छाकार, सुलतानी ।

Autonomy स्वयंशासन, स्वातन्त्र्य, आत्मशासन, स्वराज्यसत्ता, स्वाधीन शासनपद्धति ।

Balance of power शक्तिसन्तुलन, शक्ति-समता

Ballot बैलट ।

Bankruptcy दिवाला।

Bargain सौदा ।

Barter परिवर्तन, अदल बदल, परिदान ।

Belligerent युद्धमान ।

Bicameral द्वयंग, द्विभवन ।

Bill बिल, मसौदा ।

Blockade बंदी, घेरा ।

Board बोर्ड, समिति, मण्डल, सभा ।

Boycott बायकाट, बहिष्कार ।

Breach of contract करार का तोड़ना, करार का उल्लंघन या भङ्ग।

Budget, बजट, आयव्यय-लेखा ।

Cabinet कैबिनेट, मन्त्रिमण्डल।

Capital punishment मृत्युदण्ड।

Capitalism पूँजीवाद।

Cassation Court श्रेष्ठ न्यायालय, अपील की अदालत।

Censure निन्दा, निन्दाव्यंजन।

Central Government केन्द्रस्थ सरकार या केन्द्रीय या केन्द्रिक सरकार, मध्यवर्ती, वरिष्ठ, चक्रवर्ती या सर्वोच्च सरकार।

Centralisation केन्द्रीकरण, एकस्थानीकरण, एकीकरण, एकाधिकरण।

Centralising केन्द्रकारी, एकाधिकारी, एकसत्ताकारी, एककारी।

—Forces एकसत्ताकारी शक्तियाँ।

Centralised Management एकसत्ताक या संहित या संघटित व्यवस्था, केन्द्रीभूत व्यवस्था या प्रबन्ध।

Centuries शतमण्डल, शतदल।

Certification प्रमाणीकरण, सार्टिफ़िकेट का देना, स्वाज्ञापत्र।

Chamber आलय, भवन, सभाभवन।

Legislative—व्यवस्थापकसभालय, क़ानूनसभालय, व्यवस्थापकसभांग, क़ानूनसभांग।

—of account गणनिक्यालय, अक्षपटल, हिसाबकिताब का दफ़्तर।

Character स्वरूप।

Charter चार्टर, फ़रमान, अधिकारपत्र, सनद, राजाज्ञापत्र, अनुशासन।

Chartered सनदशुदा।

Choice of representatives प्रतिनिधिनिर्वाचन, प्रतिनिधियों का चुनाव।

Circle विभाग, क्षेत्र, वृत्त।

Citizen नागरिक, पौर।

शब्दार्थ-तालिका

Citizenship नागरिकता, नागरिकत्व, नागरिक के अधिकार।

City नगर, शहर।

—state नगरराज्य, नगरसीमित राज्य।

Civil व्यावहारिक, दीवानी, मुल्की, दैशिक, सांसारिक, सामाजिक, जानपदीय।

—action दीवानी मुक़द्दमा।

—condition सामाजिक, सांसारिक या जानपदीय स्थिति।

—court दीवानी अदालत।

—government मुल्की शासन।

—Law दीवानी क़ायदा, मुल्की क़ायदा।

—liberty सामाजिक, सांसारिक या जानपदीय स्वातन्त्र्य।

—war गृह-युद्ध, आन्तर्देशिक युद्ध, यादवी।

Codification of laws क़ानूनों या क़ायदों को एक सिरे से लिखना, विधान विन्यास, क़ानूनों या क़ायदों का विन्यास, विधानसंहिता, विधानसंग्रह।

Coercion बाध्यत्व, बाध्यता, बाध्य करना, लाचार करना, ज़बरदस्ती, ज़बरदस्ती करना, बलप्रयोग, बाध्यकरण, सख़्ती, ज़ोरजबरी, ज़ुल्म।

Cognisability पहिचान, सरकारी हस्तक्षेपण या दख़ल या हस्तक्षेप या अधिकारक्षेत्र, शीघ्र पहचाने जाने का गुण।

Cognisable सरकारी हस्तक्षेप का।

Cognisibility of laws क़ानून का क़ायदों की विज्ञेयता या अभिज्ञान।

Collective ownership सामवायिक स्वामित्व, मिल्कियत, जायदाद या अधिकार।

Collectivism समवायवाद।

Colonial औपनिवेशिक।

—office उपनिवेश-विभाग का दफ़्तर या कार्यालय।

Colony उपनिवेश, बस्ती ।
Colonisation उपनिवेशस्थापना, उपनिवेश करना या बसाना ।
Colonist उपनिवेशी, उपनिवेशवासी, उपनिवेशकारी, औपनिवेशिक ।
Commerce व्यापार, वाणिज्य ।
Committee कमेटी, समिति ।
Commonwealth राज्य, देश, प्रजासत्ताक राज्य ।
Comparative politics तुलनात्मक राज्यविज्ञान ।
Compensatory action क्षतिपूर्ति का कार्य, आधिवेदनिक, हर्जाना दिलाने का काम, हानिपूर्ति ।
Competition स्पर्धा, होड़ ।
Composition सङ्गठन, रचना ।
Compulsory military service अनिवार्य सैनिकसेवा ।
Commission कमीशन, विचारस-मिति, पञ्च-मण्डल, पंचायत; आधिकारपत्र, सनद ।
Communal सांप्रदायिक, संप्रदायसम्बन्धी ।
Communism सांप्रदायिकता, संप्रदायवाद ।
Community समाज, जनता, जन, प्रजाजन, अविभाज्यता, संप्रदाय, ज्ञाति, मण्डली, लोकसंस्था, राज्यसंस्था, समाजसंस्था ।
Common law सामान्य क़ानून ।
Concentration of power शक्ति या सत्ता का एकीकरण, एकत्रीकरण, एकरसीकरण, एकत्व ।
Conciliation समझौता, साम ।
Confederacy राज्यसंयोग, राज्यमण्डल ।
Confederate राज्यमित्र ।
Confederation of states राज्यसंयोग ।
Conference सम्मेलन, परिषद्, सभा ।
Confiscation ज़ब्ती ।

Conflict of Laws क़ानूनों का आपस में विमेल या असंगति या विरोध।

Congress अमरीका की कांग्रेस नामक व्यवस्थापिका, हिन्दुस्थान की कांग्रेस नामक राजकीय संस्था, कांग्रेस, सभा।

Conservatism पुराणप्रियता, पुराणसाधुवाद, पुराणसाधुत्व, पुराणप्रेम।

Consolidated fund धननिधि।

Consolidation एकीकरण, व्यवस्थापन, शान्तिस्थापन, ठीक ठाक करने का काम, व्यवस्था का काम, व्यवस्था।

Constituency निर्वाचनक्षेत्र, अंग।

Constituent उपांग, घटक, घटकावयव।

—Acts उपांगनियम, उपांगविधान।

—functions of Government सरकार के उपांग कार्य।

Constitution संगठन, रचना।

—of electorate निर्वाचनक्षेत्र की रचना या संगठन।

Constitutional राजकीय, राज्यसंगठनात्मक, सांघटनिक, राज्य-संगठन का, क़ानूनी, वैध।

—freedom राजकीय या राज्यमूलक स्वतन्त्रता, राजकीय अधिकार, राजकीय स्वातन्त्र्य।

—monarchy विधान विनिश्चित या नियन्त्रित राजतन्त्र, विधान पर विधानमूलक राजतन्त्र।

Consultation परामर्श, सलाह, मसलहत।

Consul वकील, कौंसल।

Contiguity सामीप्य, सान्निध्य, समीपता, सन्निधि।

Corruption दुश्चरित्रता, दुश्चारित्र्य।

Contraband of war युद्धनिषिद्ध वस्तु।

Convention संधि, करार, प्रथा।

Co-operative Societies सहकारी-संस्थायें ।
Co-operation सहयोग, योगदान, सहयोगिता, सहकारिता ।
Corporation श्रेणी, संस्था, संघ, कार्पोरेशन ।
Cosmopolitanism विश्वबन्धुत्व ।
Council कौंसिल, सभा, समिति, परिषद् ।
Country देश ।
—state देशराज्य ।
Court of Appeal अपील की अदालत ।
Court of Audit जाँच-पड़ताल की अदालत ।
Criminal फ़ौजदारी ।
—Court फ़ौजदारी अदालत ।
—Law फ़ौजदारी क़ानून ।
Crown राजपद ।
—Colony राजतन्त्रात्मक उपनिवेश ।
Crowning राजपदारोहण, राज्यारोहण, राज्याभिषेक ।
Currency सिक्का, मुद्रा, चलन ।
Customary law चलन या रीति या रस्म का क़ायदा; चलन, रीति, रस्म या रिवाज ।
Customs चुंगी, कर, महसूल, आचारविचार, व्यवहार, रसमरिवाज ।
Deadlock कुंठितावस्था, कार्यावरोध ।
Decentralisation विकेन्द्रीकरण, वितरण, स्थानान्तरण, हस्तान्तरण ।
Declaration घोषणा, घोषणापत्र ।
Deficit कमी, घटी, न्यूनता ।
Degeneracy पतन, चरित्र-हीनता, चरित्र का पतन ।
Degressive taxation अधोगतिक करपात ।
Delegation दौत्य, अधिकारदान, दूतसमिति ।
Deliberation विचार, निर्णय ।

Delimitation सीमीकरण ।

Demogogy लोकविज्ञान ।

Democracy प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र ।

Demogogue प्रजापक्षक ।

Democratic element प्रजातन्त्रात्मक अंश या भाग ।

Department विभाग, मुहकमा, प्रदेश, क्षेत्र ।

Dependency मातहत या परावलम्बी राज्य ।

Deprivation अधिकारवियोग ।

Despotic Government निरङ्कुश राज्य प्रबन्ध या सरकार ।

Despotism निरङ्कुशता ।

Determinism भाग्यवाद ।

Deterrent भयावह, डर पैदा करनेवाला, निवारक ।

Devolution अधिकारदान, अनुक्रमागतप्राप्ति ।

Direct प्रत्यक्ष ।

—election प्रत्यक्ष निर्वाचन ।

—legislation प्रत्यक्षव्यवस्थानिर्माण, बाला बाला क़ानून का बनाना ।

—nomination बाला बाला नामज़दगी ।

Disruption of right अधिकारभंग, अधिकारच्छेद ।

Disaffection असंतोष, विद्रोह, अराजनिष्ठा, अप्रीति, विराग, तिरस्कार ।

Difference भेद, अन्तर, विरोध ।

Disbandment सेनाभंग, शस्त्रच्युति ।

Discipline शिष्टि, अनुशासन, शासन, दण्ड ।

Disintegration विकरण, विभिन्नीकरण ।

Dismiss डिसमिस करना, बरखास्त करना ।

Dissolution बरख़ास्त करना, बरख़ास्ती ।

Distraint कुरकी।
Distributive justice व्यक्तिविशिष्ट न्याय।
Distribution of political power राजकीय सत्ता का विभाजन।
Divine right ईश्वरदत्त अधिकार।
Domestic policy दैशिक नीति, गृहनीति।
Domination सत्ता, शासन, अधिकार।
Dominion राज्य, सत्ता, शासन, अधिकार।
Double policy द्वैधीभाव या नीति, दुरङ्गी नीति।
Doubtful सन्दिग्ध, सन्देहयुक्त।
Dual-party organisation. द्विदलरचना, या संगठन।
Duration of legislative assemblies व्यवस्थापक सभाओं का कार्यकाल (या जीवनकाल)।
Dynamic गत्यात्मक।
Economic अर्थशास्त्र-सम्बन्धी, आर्थिक।
Economy किफ़ायत, किफ़ायतशारी, कमख़र्च।
Election निर्वाचन।
direct—प्रत्यक्ष निर्वाचन।
Electoral division निर्वाचनक्षेत्र, निर्वाचनविभाग।
Electorate निर्वाचनक्षेत्र, निर्वाचक जनता।
Eligibility for legislature सदस्य होने का अधिकार।
Emancipation उद्धार।
Embezzlement खयानत, अपहार।
Emigration देशत्याग, विदेशगमन।
Enactment विधान का निर्माण, विधान, क़ानून, क़ायदा।
Encroachment हस्तक्षेप, अतिक्रमण।
End of Government राज्य के उद्देश।
Enfranchisement निर्वाचन का अधिकार, वोट का अधिकार।

Enforcement अमल

Envey राजपूत।

Equalisation of opportunities लाभ की समानता।

Equality of taxation समान करबन्धन, समान कर का तत्त्व, समान कर।

Equity न्यायबुद्धि।

Equivalence समता, बराबर।

Escort अंगरक्षक, रक्षक।

Establishment बस्ती, उपनिवेश, कर्मचारिगण।

Estates जनवर्ग।

Estimates आय-व्यय का अनुमानपत्र, आय-व्यय का अनुमान।

Ethical socialism नीतिमूलक साम्यवाद या समाज सत्तावाद।

Ethics नीतिशास्त्र, नीतिविज्ञान।

Evolution उत्क्रान्ति, विकास।

Exchange विनिमय।

Executive अमलदार, अमल-विभाग, एग्ज़ीक्यूटिव, शासक, शासन-सम्बन्धी।

—Councillor एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिलर, आमला, शासक सदस्य

Excesses ज्यादती।

Exchequer ख़ज़ाना, कोश।

Exclusive privilege अनियन्त्रित अधिकार, सर्वाधिकार।

Expansion विस्तार, विकास।

Expansion of territory (देश की) भूमि का विस्तार।

Expatriation नागरिकता के अधिकार से दूर करना।

Exploitation लाभसंचय, अर्थसंचयी, जेब गरम करना, धनापहरण, अर्थपरिहरण, लाभ।

Export निर्यात।

Emperor सम्राट्, बादशाह।

Extensive cultivation बहु वार कृषि ।

Extermination विनाश, विध्वंस ।

Extradition भागे अभियुक्त को पकड़कर दूसरे देश के अधीन करना, विदान ।

Faction दलभेद ।

Family वंश, घराना, कुटुम्ब, गृह ।

— duties गेहिक कर्तव्य, गृहस्थ के कर्तव्य ।

— rights गेहिक अधिकार, गृहस्थ के अधिकार ।

Federal संयुक्तशासन पर, संयुक्त, संयुक्तराज्यप्रथासम्बन्धी ।

Federalist संयुक्त शासनवादी ।

Federation संयुक्तसंघ ।

Federatism संयुक्त शासनव्यवस्था, संयुक्तराज्यप्रबन्ध, संघ, मंडल ।

—Court संयुक्त राज्य का न्यायालय ।

—Government संयुक्त शासन, संयुक्त तन्त्र ।

—Power संयुक्त राज्य के अधिकार ।

—state संयुक्त राज्य ।

—Union संयुक्त शासनात्मक संघ ।

Female suffrage स्त्रियों का मताधिकार ।

Feudalism सरंजामी पद्धति, जागीरदारी पद्धति ।

Feudatory सामन्त, माण्डलिक, जागीरदारी ।

Finance आयव्ययप्रबन्ध, कोषप्रबन्ध, राजकोष, कोष, अर्थ, धन ।

Financial अर्थसम्बन्धी, आयव्ययसम्बन्धी, राजकोषसम्बन्धी, आर्थिक ।

Financial department कोष-विभाग ।

Fiscal आर्थिक, कोषसम्बन्धी ।

Flexibility परिवर्तनशीलता, नमनशीलता, नमनीयता ।

Flexible constitution परिवर्तनशील, या नमनीय राज्यसंगठन ।

Folk-meet जनसभा ।

Force शक्ति, भौतिकबल, सैनिकबल, सेना ।

Foreign affairs बहिर्देशीय कार्य ।

— department बहिर्देशीय विभाग ।

—policy बहिर्देशीय नीति ।

—Secretary बहिर्देशीय मंत्री या सचिव ।

Form स्वरूप, संगठन, रचना ।

Formation of parties दलबन्दी ।

Franchise निर्वाचन का अधिकार, वोट का अधिकार ।

Restrictions of—निर्वाचन के अधिकार के बन्धन ।

Fraudulent जाली ।

Fraternity बन्धुत्व ।

Free city स्वतन्त्र नगर ।

Freedom स्वाधीनता, स्वतन्त्रता, स्वातन्त्र्य ।

Civil—नागरिक स्वातन्त्र्य ।

Constitutional—विधानमूलक या विधानविहित या राजकीय स्वातन्त्र्य ।

—of press मुद्रणस्वातन्त्र्य, लेखनस्वातन्त्र्य ।

—of speech मुखस्वातन्त्र्य, भाषणस्वातन्त्र्य ।

Free trade खुला व्यापार, विनिर्मुक्त या अनियन्त्रित व्यापार ।

Fund फण्ड, निधि ।

Function कार्य, कर्तव्य, कर्म ।

Fundamental मूल, मूलभूत, मौलिक, आदि, प्रधान ।

Fusion एकीकरण ।

General सामान्य, साधारण, व्यापक ।

—principles सामान्य सिद्धान्त या तत्त्व ।

—will जनमति ।

Government शासन, राज्यशासन, राज्यप्रबन्ध, राज्यघटना, राज्य, सरकार, शासकमंडल, मंत्रिमंडल ।

Governmental शासन पर, शासन का, राज्यप्रबन्ध का, सरकारी, राज्य का, शासनसम्बन्धी ।

Grant दान, विक्षेप, निक्षेप ।

Guild संघ, श्रेणि ।

—socialism संघसत्तावाद ।

Heads of departments विभागाध्यक्ष, सरकारी मुहकमों के सबसे बड़े अफ़सर ।

Hereditary आनुवंशिक, वंशानुवंश, वंशपरम्परागत, पुश्तैनी, बपौती, खानदानी ।

—element आनुवंशिक अंश या तत्त्व ।

—principle आनुवंशिकाधिकार तत्त्व ।

Hindrance विघ्न, बाधा ।

Home Secretary देशिक मंत्री या सचिव ।

—rule स्वराज्य ।

—secretary गृहमन्त्री, आन्तर्देशिक मंत्री ।

Household department राजगृहविभाग ।

Illegitimate अन्याय, अनुचित, अनौरस ।

Immigration देशप्रवेश, देशागमन ।

Impeachment अभियोग, पदाभियोग ।

Imperial साम्राज्यमूलक, साम्राज्य का, बादशाही, सम्राट् का, सम्राट्सम्बन्धी ।

Imperialism साम्राज्यवाद ।

Implied आनुषंगिक, अध्याहृत ।

Import आयात ।

Incidence of taxation करानुपात, करभार ।
Independence स्वाधीनता, स्वतन्त्रता, स्वातन्त्र्य ।
Indigence दारिद्र्य, दरिद्रावस्था, कंगाली, ग़रीबी, मोहताजी ।
Indirect election परोक्ष निर्वाचन ।
—taxation परोक्ष कर ।
Individualism व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवाद ।
Individualistic व्यक्तिस्वातन्त्र्यात्मक, व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमूलक ।
—assumption व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमूलक उपपत्ति ।
Inheritence आनुवंशिक अधिकार या जायदाद, पुरखौती जायदाद, वंशपरम्परा की प्रथा, वंशपरम्परा से चलन ।
Initiative मूल, प्रारम्भमूलक, प्रारम्भिक, मौलिक, प्रवर्तक, प्रारम्भिक ।
Inorganic निरिन्द्रिय ।
Insurrection बग़ावत, ग़दर, बलवा, विप्लव, विद्रोह ।
Installation राज्यारोहण, राज्याभिषेक ।
Institution संस्था, प्रथा ।
Intensive cultivation अल्पक्षर कृषि ।
Interference हस्तक्षेप, दखल ।
Government — सरकारी या राज्य का हस्तक्षेप ।
individualistic —व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमूलक हस्तक्षेप ।
paternal —पितृमूलक हस्तक्षेप ।
socialistic — समाजसत्तामूलक हस्तक्षेप ।
International duty अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य ।
Interpellation प्रश्न, प्रश्नोत्तरी, प्रश्नोत्तर ।
Interpretation व्याख्या, अर्थ, अर्थनिर्णय ।
Interrex राजप्रतिनिधि, रीजेंट ।
Interstate अन्तर्राष्ट्रीय, अन्तर्राज्यकीय ।
Intervention हस्तक्षेप, दखल ।

Intestate succession बिना मृत्युपत्र का अधिकार ।
Intimidation धमकी, दहशत, भयदान, भय ।
Invasion चढ़ाई, हमला, अभियान, आक्रमण ।
Isonomy समाधिकार ।
Joint सहकारी, संयुक्त ।
Judge-made law न्यायाधीशप्रणीत क़ानून ।
Judicature न्यायालय ।
Judicial न्यायसम्बन्धी, न्याय का ।
Judiciary न्याय-विभाग ।
Jurisconsult क़ायदापण्डित, विधानपण्डित ।
Jurisdiction अधिकारक्षेत्र ।
Jurisprudence व्यवस्थाशास्त्र, व्यवस्था-विज्ञान ।
Jurist व्यवस्थाशास्त्री, व्यवस्थाविज्ञानी ।
Jury ज्यूरी ।
  —court ज्यूरी की अदालत ।
Justice न्याय, न्यायाधीश, न्यायीकरण, इन्साफ़ ।
Kinship जातिसम्बन्ध, वंशसम्बन्ध ।
King राजा ।
Kingdom राज्य ।
Kingship राजपद, राजसिंहासन ।
Laissez faire यद्भाव्यं नीति ।
  assumption of — यद्भाव्यं नीति की उपपत्तियाँ ।
  limitation of —यद्भाव्य नीति की सीमायें ।
Law क़ानून, क़ायदा, व्यवस्था, नियम, विधान ।
  International —अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून ।
  —of nature प्रकृति का, क़ायदा या नियम ।
  positive — मनुष्यनिर्मित या मानवी क़ानून, क़ायदा या नियम ।

personal law— व्यक्तिविषयक क़ानून ।
political — राजकीय क़ानून ।
private — खाजगी या वैयक्तिक क़ानून ।
public— सार्वजनीन क़ानून ।
—Council क़ानूनकौंसिल, क़ानूनसभा ।
Lawgiver व्यवस्थापक, व्यवस्थाधिकारी ।
Law Lord न्यायप्रधान ।
Lawstate व्यवस्थाराज्य ।
Lawyer क़ानूनदाँ, व्यवस्थाविज्ञ, व्यवस्थाविशारद ।
League संघ ।
—of nations राष्ट्रसंघ ।
Legal right क़ानूनन हक़, नियमानुसार अधिकार, क़ायदे का अधिकार ।
Legal obligation क़ानूनी फ़र्ज़, क़ानूनी बन्धन, क़ायदे का बन्धन ।
Legal tender क़ानूनी सिक्का, चलन सिक्का ।
Legislation व्यवस्थापन, क़ानून का बनाना, व्यवस्थीकरण, विधान, निर्माण ।
Localised स्थानिक व्यवस्थापन, स्थानिक विधान या नियम ।
Legislative Assembly व्यवस्थापिका, व्यवस्थापकसभा, क़ानूनसभा ।
Legislator व्यवस्थापक ।
Legislature व्यवस्थापिका, व्यवस्थापकसभा, क़ानूनसभा ।
constitution of — व्यवस्थापक सभा की रचना या संगठन ।
sessions of — व्यवस्थापक सभा की बैठकें ।
Legitimate न्याय, उचित, औरस ।
Libel दोष, अपकीर्ति, कलंक ।
Liberalism उदारतावाद, प्रगतिवाद ।
Liberty स्वतन्त्रता, स्वाधीनता ।

Limited liability नियन्त्रित दायभार ।

—ownership नियन्त्रित स्वामित्व ।

Limitation सीमा, बन्धन, मर्यादा, नियन्त्रण ।

Local Government स्थानिक राजप्रबन्ध, स्थानिक सरकार, प्रान्तीय सरकार ।

structure of— स्थानिक राजप्रबन्ध की रचना ।

—legislation स्थानिक व्यवस्थापन, स्थानिक क़ानून ।

Lower house निचली या निम्न व्यवस्थापक सभा, निचला व्यविस्थालय, दोयम क़ानूनसभा ।

Lower court निचला न्यायालय, दोयम अदालत, मातहत अदालत ।

Loyalty राजभक्ति, राजनिष्ठा ।

Magistracy न्यायाधिकार, मैजिस्ट्रेसी ।

Magistrate मेजिस्ट्रेट, न्यायाधीश ।

Magnate रईस, अमीर, उमरा ।

Mal-administration कुप्रबन्ध, कुराज्य, कुशासन ।

Majority बहुसंख्या, बाहुल्य, बहुसंख्यक, बालिग़ी ।

Mala prohibita राजनिषिद्ध कार्य ।

Mandate परवाना, आज्ञा, आदेश, अध्यादेश ।

Mandatory अध्यादिष्ट ।

Martial law फ़ौजी क़ानून ।

Maximum अधिकतम ।

Means साधन ।

— of communication आवागमन के साधन ।

Measures उपाय, क़ानून, तरीक़े ।

Meeting अधिवेशन, सभा ।

unlawful — बेक़ायदा सभा ।

Membership सदस्यता ।

Membership of a state नागरिकता, नागरिक अधिकार ।
Method of politics राज्यविज्ञान की विचारपद्धति ।
Historical —ऐतिहासिक विचारपद्धति ।
Military service सैनिक सेवा या चाकरी ।
— tribunal फ़ौजी अदालत, सैनिक न्यायालय ।
Minimum न्यूनतम, लघुतम।
Minister सचिव, मंत्री ।
Ministerial सचिवसम्बन्धी ।
Ministry मन्त्रि-मंडल ।
Minorities अल्पसंख्या, नाबालगी, अल्पसंख्यक ।
representation of — अल्प संख्या का प्रतिनिधिप्रबन्ध ।
Misappropriation ख़यानत, धनापहार ।
Misrepresentation विपर्यास, झूठी हक़ीक़त, झूठा ।
Mixed संमिश्र, मिश्रित, इत्वरन, अन्यथाकथन ।
Modification of constitution राज्य-संगठन का सुधार या संशोधन ।
Monarch राजा, एकतन्त्री शासक, नृप ।
hereditary — आनुवंशिक राजा ।
Monarchical element राजाङ्ग, राजांश, राजा ।
Monarchy राजपद, राजतन्त्र, एकतन्त्र, एकसत्ताक या एकछत्री राज्य, एकसत्ताक राज्यपद्धति या शासनपद्धति ।
Money bill आय-व्यय का क़ानून ।
Monopolies ठेका, सर्वाधिकार, सर्वपणाधिकार, एकाधिकार, कुलमुख्ता, कुल इजारा, एकाधिकृत वाणिज्य ।
Moot सभा ।
Moral code नीतिनियमावली ।
Morality नीति ।

governmental teaching of morality नीति की राज्यप्रणीत शिक्षा ।

Moveable जंगम, चर ।

Mutiny बलवा, ग़दर, बगावत, विद्रोह, विप्लव ।

Nation राष्ट्र ।

— state राष्ट्रमूलकराज्य ।

National राष्ट्रीय ।

— character राष्ट्रीय शील ।

— defency राष्ट्रीय रक्षा या संरक्षण ।

Nationalisation राष्ट्र के अधिकार में करना, राष्ट्र का अधिकार स्थापित करना ।

Nationalism देशिकाधिकार, राष्ट्रीयता ।

Naturalisation नागरिकत्व की प्राप्ति या दान ।

Nationality जाति, क़ौम, राष्ट्र, राष्ट्रीयता ।

Nature प्रकृति, स्वरूप ।

Negligence असावधानी ।

Negotiation बातचीत, संधि की बातचीत । मन्त्रणा, परामर्श ।

Neutral उदासीन, तटस्थ ।

Neutrality उदासीनता, तटस्थता ।

Nihilism प्रध्वंसवाद ।

Nobility कुलीन वर्ग ।

Nomination नामज़दगी, नियोजन ।

Non-combatant अयुद्धमान, शान्त ।

Non-constitutional क़ानून के खिलाफ़, बे क़ायदा, राज्यसंगठन के विरुद्ध, अवैध ।

Non-resistance अविरोध ।

Obligation बन्धन, कर्तव्य, बाध्यता, विवशता ।

—and right कर्तव्य और अधिकार ।

Occupation of territory ज़मीन का क़ब्ज़ा।
Official सरकारी, सरकारी कर्मचारी।
Officer अफ़सर, राज्यकर्मचारी, मुसाहिब, अमलदार, आमला।
Oligarchical element स्वार्थी कुलीन अंश या भाग।
Oligarchy स्वार्थी कुलीनतन्त्र।
Omnipotence सर्वश्रेष्ठता।
Oppression ज़ुल्म, सख़्ती, अत्याचार।
Order शान्ति, व्यवस्था, राज्यानुशासन।
Ordinance फ़र्मान।
Organ अंग, अवयव, घटक।
Organic अंगांगी, सेंद्रिय।
— state एकजीव राज्य।
Organism जीव, सजीव वस्तु, सेन्द्रिय पदार्थ।
Organisation व्यवस्था, रचना, प्रबन्ध।
Original मूल, मौलिक, प्रारम्भीय।
Ostracism देशनिष्कान का दण्ड।
Over-centralisation अतिकेन्द्रीकरण, अति एकस्थानीकरण।
Ownership स्वत्व, स्वामित्व।
fiduciary — परार्थस्वामित्व।
Limited — परिमित स्वत्व।
Parliamentarism पार्लिमेण्टपद्धति।
Parliamentary पार्लिमेण्टीय।
—government पार्लिमेण्टीय राज्यप्रबन्ध, राज्यशासन या राज्य-संगठन।
Partner हिस्सेदार, भागीदार।
Party दल, दलबंदी।
—government दलबन्दी शासन।

Passport मुद्रा, गमनपत्र, गमनाज्ञा, गमनानुशासन ।
Patents राज्यलिखित अधिकार, सनद, फ़र्मान, पेटण्ट ।
Paternal government पितृभावक या पैतृक राज्यशासन ।
— interference पितृभावक या पैतृक हस्तक्षेप ।
Patriarchal पितृमूलक, पित्रधिकृत, पैतृक ।
Patronage पूर्णाधिकार, संरक्षण, नियोजनाधिकार ।
Periodical executive सामयिक शासकमंडल ।
Permanent स्थायी, मुस्तक़िल ।
Personal व्यक्तिगत, वैयक्तिक ।
— right व्यक्तिगत अधिकार ।
— law वैयक्तिक क़ानून, क़ायदा या नियम ।
Persuasion अनुनय, समझौता, साम ।
Petition प्रार्थना, अनुनय, विनय, विनती, आवेदन, आवेदनपत्र ।
Pledge of representatives प्रतिनिधियों की प्रतिज्ञा ।
Plutocracy धनितंत्र ।
Politic राजनीति पर, राजनीत्यनुसार ।
Political राजकीय, राजनैतिक ।
—League राजकीय या राजनैतिक संघ ।
—obligation राजकीय बंधन या कर्तव्य ।
—offender राजकीय या राजनैतिक अभियुक्त ।
—power राजकीय शक्ति ।
—science राज्यविज्ञान ।
—speculation राजकीय विचार, सिद्धान्त या अनुमान या अनुमिति
Politician राजनीतिज्ञ ।
Politics राजनीति, राज्यविज्ञान ।
formal— सिद्धान्तात्मक या शुद्ध राज्यविज्ञान ।
Policy नीति, राजकीय नीति, राज्यनीति ।

Polity राज्यसंगठन, राज्यप्रबन्ध।
Poor relief दरिद्रसाहाय्य, दरिद्रकष्टनिवारण।
Popular जनसम्बन्धी, जनसत्तात्मक, लोकप्रतिनिधिक, लोकसत्तात्मक।
—government लोकतंत्रात्मक राज्यप्रबन्ध।
Popularity लोकप्रियता, लोकप्रीति।
Positive laws राज्यप्रणीत क़ानून, मानवी क़ानून, व्यावहारिक क़ानून।
—morality प्रचलित या व्यावहारिक नीतिविधान।
Possessions उपनिवेश, बस्तियाँ।
Powerful शक्तिशाली, बली, प्रभावशाली।
Power शक्ति, बल, राष्ट्र, देश।
Prerogative विशिष्टाधिकार।
—courts विशिष्टाधिकारनिर्णयालय।
Presidency प्रेसीडेण्ट का पद, राष्ट्राध्यक्ष का पद।
President प्रेसिडेण्ट, राष्ट्राध्यक्ष।
Presidential system प्रेसीडेण्टपद्धति, राष्ट्राध्यक्षपद्धति।
Prime minister प्रधान मन्त्री।
Primogeniture ज्येष्ठाधिकार।
Primitive आदिम, प्रारम्भिक, मूल।
Private व्यक्तिगत, वैयक्तिक, ख़ानगी।
Private member साधारण या ग़ैरसरकारी मेम्बर।
Privilege विशेषाधिकार।
Protection policy रक्षित व्यापारनीति।
Protectionism रक्षित व्यापारवाद।
Property जायदाद, मिल्कियत, सम्पत्ति।
Proclamation घोषणा, घोषणापत्र।
Proportional representation अनुपातीय प्रतिनिधित्व।

Prorogation मुलतवी, तहकूवी।
Protectorate रक्षित राज्य।
Provincial प्रान्तीय।
—subjects प्रान्तीय शासनविषय।
—contribution प्रान्तीय कर-भाग।
—finance प्रान्तीय आयव्यय।
Provincialism प्रान्तीयता।
Provisional तात्कालिक, अल्पकालिक।
Provisions धारायें, दफायें, कलम, रसद, भोजनसामग्री।
Public सार्वजनिक, सामाजिक, राजकीय।
—finance राजस्व, राजकीय आयव्यय।
—spirit समाजसेवाप्रवृत्ति।
—work सामाजिक कार्य।
Punishment, दण्ड, सज़ा।
Machinery for — दण्डप्रबन्ध।
reformatory— सुधारक, सुधारमूलक दण्ड।
retributive— प्रतिफलानुसारी दण्ड।
Qualification योग्यता, गुण, विशिष्टता, वैशिष्ट्य।
Quasi-Government नीम सरकार।
Quorum कोरम, गणपूर्ति।
Racial जातीय, क़ौमी, राष्ट्रीय।
—distinction जातीय भेद, क़ौमी अन्तर या ख़ासियत या विशेषता।
Radicalism मूलसुधारवाद।
Real will वास्तविक मन या मति, प्रभावशाली जनमति।
Rebel विद्रोही, बाग़ी।
Rebellion ग़दर, बग़ावत, बलवा, विद्रोह।
Reciprocity परस्पर व्यवहार या आदान-प्रदान।

Recognition of new states नये राज्यों का मान लेना, नैये राज्यों को राज्य का मान देना, या राज्यों की श्रेणी में समझाना या बिठलाना।

Recurring दैनिक, वर्तमान, आवर्तक।

Redistribution पुनर्विभाजन।

Referendum जनमतज्ञापन, जनसम्मति।

Reform सुधार, परिवर्तन।

Reformatory सुधारमूलक।

Regionalism स्वाभाविक विभागवाद।

Regulation क़ायदा, नियम, नियमन, नियन्त्रण, प्रतिबन्ध।

—of power शक्तिनियमन।

Relief of indigence दरिद्रकष्टनिवारण।

Reign राज्य करना, राज्य, अमल, शासन।

Re-emigration पुनरागमन, प्रत्यागमन।

Remonstrance विरोध।

Renegade स्वपक्षत्यागी।

Reparation क्षतिपूर्ति, हर्जाना, नुक़सान को दूर करना, नुक़सानी।

Representation प्रतिनिधित्व।

—of minorities अल्पसंख्यक लोगों का प्रतिनिधित्व।

Representative प्रातिनिधिक।

—government प्रातिनिधिक राज्यप्रबन्ध।

Repressive ज़ालिम, सख़्त, दबानेवाले, अत्याचारी।

Republic प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र।

Republican जनसत्तावादी, लोकतन्त्रवादी।

Reserve रक्षित।

Resistance to Government officials सरकारी कर्मचारियों का विरोध।

Resolution प्रस्ताव।
Responsible उत्तरदायी, उत्तरदायित्वपूर्ण।
Responsibility उत्तरदायित्व।
Restoration पुनःसंस्थापन।
Retaliatory duties प्रतिकारी या प्रतिकारात्मक शुल्क, महसूल, कर।
Retrenchment खर्चे की छांट छांट।
Retributive प्रतिफलकारी, प्रतिफलानुसारी।
Retrogressive प्रतिगामी।
Revenue आय
Revision परिवर्तन।
Revolution राज्यक्रान्ति, राज्यविप्लव, विप्लव।
Revolutionary राज्यक्रान्तिकारी, क्रान्तिकारी।
Revolutionist राज्यक्रान्तिकारी, राज्यक्रान्तिवादी, क्रान्तिवादी।
Right अधिकार, स्वत्व, हक़।
  limitation of— अधिकार की सीमायें या बन्धन।
  —of appeal अपील का अधिकार।
  —of bequest वसीयत का हक़।
  —of contract करार का हक़।
  —of disruption वियोगाधिकार।
  —of insurrection बग़ावत का हक़।
  —of property जायदाद का हक़।
  civil — नागरिक के अधिकार।
  constitutional — राजकीय अधिकार।
  family — गार्हस्थ्याधिकार, गृहस्थी के अधिकार।
  — impersonance व्यक्तिगत अधिकार।
  —in ren वस्त्वधिकार।
  personal — वैयक्तिक अधिकार।

remedial right क्षतिपूर्ति के अधिकार ।
Rigid constitution अपरिवर्तनशील या सुस्थिर या अनम्य राज्य-संगठन ।
Rigidity अपरिवर्तनशीलता, सुस्थिरता, अनम्यता ।
Royalty राजपद, राजस्वत्व ।
Royal राजकीय, राजासम्बन्धी, राजा के, राजपदसम्बन्धी ।
Rule राज्य, शासन, राज्यकाल, शासनकाल, शासन करना ।
Rural जानपदिक, देहाती, ग्रामीण ।
Sanction आधार ।
—of authority अधिकार का आधार ।
—of law क़ानून का आधार ।
Scope of politics राज्यविज्ञान का विस्तार ।
Seal मुद्रा ।
Royal — राजमुद्रा ।
Seating बैठक, बिठलाना, बैठने का प्रबन्ध ।
Secession वियोजन, वियोग ।
Secret रहस्य, गुप्त ।
Sectional government वर्गमूलक राज्यप्रबन्ध ।
Security ज़मानत ।
Sedition राजद्रोह, विद्रोह ।
Self-determination आत्मनिर्णय ।
Self-government स्वराज्य, आत्मशासन, स्वयम् शासन ।
Self-governing स्वराज्य प्राप्त, स्वायत्त ।
Seizure of property जायदाद की ज़ब्ती ।
Select चुनन्दा, चुना हुआ ।
Semi-public institution अर्धसामाजिक या अर्धराजकीय संस्थायें

Senate सिनेट, सभा ।
Separation पार्थक्य, विभाजन, अन्तर ।
—of power अधिकारविभाजन ।
Sessions of legislature कानूनसभा के अधिवेशन या बैठकें ।
Settlement उपनिवेश ।
Single-chambered एकांग ।
Social democrat समाजसत्तावादी, लोकतन्त्रवादी ।
Socialism साम्यवाद, समाज-सत्तावाद ।
Socialistic interference समाजसत्ताक हस्तक्षेप ।
Society समाज ।
Sociology समाजशास्त्र, समाजविज्ञान ।
Sovereign राज्येश्वर, राज्यप्रभु ।
Sovereignty राजैश्वर्य, राज्यप्रभुता ।
—in abeyance अराजकता ।
—of people प्रजा या जनता की राज्यप्रभुता ।
Spoils लूट, लूटखसोट ।
Stability स्थिरता, स्थायित्व ।
Standing स्थायी ।
—Army स्थायी सेना ।
—orders स्थायी नियम ।
State राज्य ।
—management राज्यप्रणीत प्रबन्ध ।
—socialism राज्यमान्य, साम्यवाद या सामाजिकवाद या समाज-सत्तावाद ।
Static स्थिर, स्थायी, गतिहीन ।
Status पद, पदवी ।
Stratagem उपाय, दाँव पेंच ।

Strategy उपाय, व्यूह, व्यूहरचना, सेनाव्यूह ।
Structure सङ्गठन, रचना ।
Subjection पराधिकार, मातहती, दब्बूपन, परवशता, अधीनता ।
Submission शरण जाना, शरण, मातहती, दब्बूपन ।
Subordinate मातहत, परवश, अधीन, अप्रधान, गौण ।
Subordination मातहती, परसत्ता, परवशता, अधीनता ।
Subventions to religions
—associations } धर्मादाय ।
Successor उत्तराधिकारी ।
Suffrage निर्वाचनाधिकार ।
Summons सम्मन, आह्वानपत्र ।
Sumtuary व्ययसम्बन्धी, व्ययनियामक ।
Supremacy सर्वश्रेष्ठता, सर्वाधिकार, वर्चस्व, आधिपत्य ।
Supreme सर्वसत्ताक, सर्वोच्चसत्ताक, सर्वोच्च, श्रेष्ठ, वरिष्ठ ।
—executive सर्वोच्च या वरिष्ठ शासकमण्डल, सर्वोच्च सरकार ।
—government सर्वोच्च या वरिष्ठ सरकार या राज्यप्रबन्ध ।
Surrender हवाले करना, शरण जाना, अधीन करना या होना ।
Suspending power तात्कालिक पदच्युति की सत्ता या अधिकार, सस्पेण्ड करने का अधिकार ।
Tacking नत्थी करना, जोड़ना ।
Tax कर, महसूल या टैक्स ।
Taxation करभार, कर, महसूल, टैक्स ।
Tenure भूम्यधिकार, अवधि ।
—of office पदावधि ।
Temporary तात्कालिक, अल्पकालिक, क्षणिक ।
Territory प्रान्त, प्रदेश, भूमि, देश ।
Territorial भूमिसम्बन्धी, प्रादेशिक ।
Theocracy धर्मतन्त्र ।

Timocracy धनितन्त्र ।
Title पद, पदवी, अधिकार, हक़ ।
Town-meeting नगर-सभा ।
Town-ship नगर-शासन-संस्था ।
Transfer of rights अधिकारों का परिवर्तन, स्वत्वनिवृत्ति ।
Transferred परिवर्तित, तबदील ।
Treasurer कोषाध्यक्ष, ख़ज़ानची ।
Treasury कोष, ख़ज़ाना ।
Treaty सन्धि, सुलह, मेल, सन्धिपत्र, तह ।
— obligations सन्धि या सुलह की शर्तें
Trial by jury ज्यूरीद्वारा न्यायनिर्णय ।
Tribe जाति, क़ौम ।
Tribal जातीय, क़ौमी ।
Tribune मंडल, न्यायालय, समिति ।
Tribunal अदालत, न्यायालय, न्यायमन्दिर ।
Tyranny तानाशाही, निरंकुश शासन, जुल्मशाही, नादिरशाही, प्रजापीड़न ।
Tyrant तानाशाह, निरङ्कुश शासक, नादिरशाह, प्रजापीड़क ।
Unconstitutional बेक़ायदा, अवैध, अनियम, बेनियम ।
Unicameral एकांग, एकभवनी ।
Unification एकीकरण ।
Union मेल, समिति, संघ ।
Unit मूलविभाग, विभाग, विभागक्षेत्र, एक पूर्ण विभाग ।
Unitary state एकरूप राज्य ।
Unity ऐक्य, एकता, मेल ।
Unlawful बेक़ायदा ।
Upper house उच्च अंग या मंदिर, उच्च भवन ।

इँगलेंड को उस व्यापार में बहुत क्षति उठानी पड़ी। अन्त में, १६०२ ईसवी में—इँगलेंड के उद्योग से, ब्रुसल्स में एक कानफ़रेन्स हुई। उसीके फ़ैसले के अनुसार जिन राष्ट्रों में चुक़न्दर की शकर बनती है उन्होंने रक्षण-नीति का बन्धन ढीला किया और व्यापारियों के साथ रियायत करना बन्द कर दिया।

गन्ने की शकर और चुक़न्दर की शकर के व्यापार में कई वर्ष तक बड़ी लाग-डाँट रही। परन्तु अन्त में गन्ने की शकर को पिछड़ ही जाना पड़ा। १८४० ईसवी में गन्ने की शकर दस लाख टन हुई थी और चुक़न्दर की शकर केवल पचास ही हज़ार टन। परन्तु उसके पश्चात् ही चुक़न्दर की शकर जिस शीघ्रता से बढ़ी उस पर विचार करके आश्चर्य होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि गन्ने की शकर भी अधिक ही बनती रही; परन्तु आरम्भ में चुक़न्दर की शकर से बीस गुना आगे रहते हुए भी वह कुछ वर्ष बाद उसकी बराबरी भी न कर सकी। १८८२ ई० में चुक़न्दर की शकर की पैदावार गन्ने की शकर की पैदावार से आगे बढ़ गई। उस वर्ष गन्ने की शकर २१,०७,००० टन और चुक़न्दर की शकर २१,४७,००० टन तैयार हुई। वर्तमान शताब्दी के आरम्भमें तो चुक़न्दर की शकर गन्ने की शकर से दुगुनी से भी अधिक बढ़ गई। अर्थात् १६००-१६०१ ईसवी में गन्नेकी शकर की पैदावार २८,५०,००० टन थी और चुक़न्दर की शकर की पैदावार ५६,५०,००० टन। तब से आज तक चुक़न्दर की शकर की पैदावार दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही गई है।

जर्मनी, आस्ट्रिया हंगरी, रूस और फ्रान्स ही चुक़न्दर की शकर बनाने के केन्द्र हैं। इटली, संयुक्तराज्य (अमेरिका), डेनमार्क, बेलजियम, हालेण्ड और अन्य कुछ देशों में भी

चुक़न्दर होता है और उससे शकर भी बनती है। परन्तु इतनी नहीं जितनी पूर्वोक्त देशों में। चुक़न्दर की फ़सल जितनी अच्छी और जितनी अधिक जर्मनी में होती है उतनी संसार भर में और कहीं नहीं होती। जर्मनी में हर साल लगभग बीस लाख टन चुक़न्दर की शकर बनती है। उसमें से लगभग आधी अन्य देशों को भेजी जाती है।

वहाँ यह शकर बनाने के चार सौ से अधिक कारख़ाने हैं, जो प्रतिवर्ष लगभग पन्द्रह करोड़ रुपया विदेशों से खींच लेते हैं। वहाँ चुक़न्दर की खेती नूतन वैज्ञानिक ढँग से की जाती है। चुक़न्दर के खेतों में स्त्रियाँ ही अधिक काम करती हैं। १९०५ ईसवी में, इन खेतों में ५५ लाख मज़दूर काम करते थे, जिनमें से २५ लाख स्त्रियाँ थी। जर्मनी दिन पर दिन अपने इस व्यवसायमें उन्नति करता जा रहा है। ऊपर ब्रुसल्स की जिस कानफ़रेन्स का उल्लेख हुआ है उसके बनाये गये नियम हाल ही में जर्मनी आदि के कोलाहल मचाने से मन-सूख़ हो गये हैं। अतएव अब गन्ने की शकर की ख़ैर नहीं।

भारत में गन्ने ही से शकर बनती है और बहुत बनती है। केवल एक वर्ष, १९०९–१० में ही, साढ़े सैंतीस लाख टन गन्ने की शकर बनी थी। इतना गन्ना किसी एक देश में तो क्या, एशियाके अतिरिक्त किसी समूचे महाद्वीप तक में नहीं होता। परन्तु साथ ही भारत में शकर का जितना अधिक ख़र्च है उतना संसार के किसी भी देश में नहीं। जितनी शकर यहाँ तैयार होती है उसे तो हम चाट ही डालते हैं, परन्तु उतनी ही और शकर मारीशस, जावा, जर्मनी आदि स्थानों से मंगा कर ख़र्च करते हैं और करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष विदेश भेज देते हैं।

कुछ समय से चुक़न्दर की शकर की आमदनी कम हो गई थी। परन्तु रक्षण-नीति और रियायती बाज़ार अब फिर गरम होगा और जर्मनी आदि में बनी हुई चुक़न्दर की चीनी अब फिर भारत में पट जायगी। यह चीनी अपने देश की चीनी से सस्ती पड़ती है। अतएव हमारे देश के शकर के व्यापार की ख़ैर नहीं।

यदि ईख की पैदावार वैज्ञानिक रीति से न बढ़ाई जायगी और शकर बनाने के दो दो चार चार कारख़ाने बड़े बड़े शहरों में न खुलेंगे तो शकर के व्यापार का सत्यानाश हुए बिना न रहेगा।